

பெரிய
பெரிய

பெரிய
பெரிய

1993 No. 3, 8, 7, 12

பெரிய

பெரிய

பெரிய



(५५)

१९९३



Vol. 67
1993
No. 2, 5, 7, 12

वर्ष ६७

संख्या २

(परिशिष्ट)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,१०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०४९, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१८, फरवरी १९९३ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-शिवताण्डव	४०९	श्रीसीतारामजी झा 'श्याम', डी० लिट०	४२८
२-कल्याण (शिव)	४१०	१३-शिवपुराणकी कुछ उपयोगी बातें	४२९
३-शिवमय जगत् [रुद्रहृदयोपनिषद्से]	४११	१४-शिव-शक्तिका घर विन्दुनाद है (स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी	
४-भगवान् श्रीशंकरकी वन्दना	४१२	महाराज)	४३१
५-शिवोपासना (श्रीविजयशंकरजी दीक्षित)	४१३	१५-राजपूतानेका गणगौरपूजन (पं० श्रीझावरमलजी शर्मा)	४३३
६-आगमिक शैवोपासना और 'उपाय'-तत्त्व		१६-शिवोपासना और सांसारिक कार्य	
(डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, एम्० ए०, एम्० एड०,		(श्रीराजेन्द्रविहारीलालजी)	४३५
व्याकरणाचार्य, पी० एच्० डी०, डी० लिट०)	४१५	१७-महान् शिव-भक्त शिलादमुनि	४३८
७-देवमाता देवी अदिति	४१८	१८-गालवमुनिकी शिवभक्ति	४४०
८-श्रीरामचरितमानसमें शिव-चरित (शिवलोकवासी		१९-भक्त प्रचेतागण	४४१
पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)	४१९	२०-शिवोपासनासे लाभ (कुछ घटनाएँ)	
९-शिवोपासनासे राजर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बन गये	४२१	(श्रीयुत चिरञ्जीवलालजी शर्मा)	४४२
१०-रुद्राक्षकी उत्पत्ति, धारण-विधि और माहात्म्य		२१-शिव-सेवाका प्रत्यक्ष फल (पं० श्रीविद्याभास्करजी	
(रुद्राक्षजाबालोपनिषद्से) [अनु०—आई० वी० मेहता]	४२२	शुक्ल)	४४३
११-महाशिवरात्रि-व्रत (काव्यतीर्थ प्रोफेसर श्रीलौटू सिंहजी		२२-शिव-कृपा (श्रीलक्ष्मीनारायणजी)	४४५
गौतम)	४२४	२३-'अयोध्याकी घटना'—समस्या और समाधान	
१२-नाट्य-परम्पराके आदि प्रवर्तक भगवान् शंकर (प्रो० डॉ०		(राधेश्याम खेमका)	४४७

चित्र-सूची

- १- जगन्माता भगवती पार्वतीकी शिव-साधना
२-नटराज भगवान् शिव

(इकरंगा)
(रंगीन)

आवरण-पृष्ठ
मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण	{ जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनन्द भूमा जय जय ॥ जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥ जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ }	कल्याणका वार्षिक
अङ्किका मूल्य		मूल्य
भारतमें २.५० रु०		(डाक-व्ययसहित)
विदेशमें २० पेंस		भारतमें ५५.०० रु० विदेशमें २ डालर (अमेरिकन)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

ई०
२८
२९
३१
३३
३५
३८
४०
४१
४२
४३
४५
४७
पृष्ठ
पृष्ठ

वार्षिक
सहित)
०००रु०
२ डालर
रेकन)



नटराज भगवान् शिव



आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

वर्ष ६७

गोरखपुर, सौरफाल्गुन, वि०सं० २०४९, श्रीकृष्ण-सं० ५२१८, फरवरी १९९३ ई०

संख्या २

पूर्ण संख्या ७९५

शिवताण्डव

जटाटवीगलजलप्रवाहपावितस्थले गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजङ्गतुङ्गमालिकाम् ।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम् ॥
जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्द्धनि ।
धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ॥
जयत्वदभ्रविभ्रमभ्रमद्भुजङ्गमश्वसद्विनिर्गमत्कमस्फुरत्करालभालहव्यवाद ।
धिमिद्धिमिद्धिमिद्धिध्वनन्मृदङ्गमङ्गलध्वनिक्रमप्रवर्तितप्रचण्डताण्डवः शिवः ॥

‘जिन्होंने जटारूपी अटवी (वन) से निकलती हुई गङ्गाजीके गिरते हुए प्रवाहोंसे पवित्र किये गये गलेमें सर्पोंकी लटकती हुई विशाल मालाको धारणकर, डमरूके डम-डम शब्दोंसे मण्डित प्रचण्ड ताण्डव (नृत्य) किया, वे शिवजी हमारे कल्याणका विस्तार करें। जिनका मस्तक जटारूपी कड़ाहमें वेगसे घूमती हुई गङ्गाकी चञ्चल तरङ्ग-लताओंसे सुशोभित हो रहा है, ललाटागिन धक्-धक् जल रही है, सिरपर बाल चन्द्रमा विराजमान हैं, उन (भगवान् शिव) में मेरा निरन्तर अनुराग हो। जिनके मस्तकपर बड़े वेगके साथ घूमते हुए भुजङ्गके फुफकारनेसे ललाटकी भयंकर अग्नि क्रमशः धधकती हुई फैल रही है, धिमि-धिमि वजते हुए मृदङ्गके गम्भीर मङ्गल घोषके क्रमानुसार जिनका प्रचण्ड ताण्डव हो रहा है, उन भगवान् शंकरकी जय हो।’

फरवरी १४—

कल्याण

भगवान् शिव कल्याणस्वरूप, विज्ञानानन्दधन, वेदवेद्य परमात्मा हैं, वे स्वयं ही अपने ज्ञाता हैं, अनिर्वचनीय हैं, अकल हैं, मन और बुद्धिसे अतीत हैं।

वही अपनी शक्तिद्वारा जगत्का सूत्रपात करते हैं, वही ब्रह्मारूपसे रचते, विष्णुरूपसे पालन करते और रुद्ररूपसे संहार करते हैं और अनन्त रुद्रोंके रूपमें जगत्में फैले हुए हैं। सब रूपोंमें भासते हैं, सब रूपोंमें प्रकट हैं। उन्हींसे सबकी उत्पत्ति है, उन्हींमें निवास है और उन्हींमें सब लय होते हैं, यह उत्पत्ति, पालन और विनाश भी उनकी लीलामात्र है। वही सब कुछ हैं और साथ ही सब कुछसे विलक्षण भी हैं।

शिव सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्वोपरि, सर्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वतत्त्वक्षु, सर्वान्तर्यामी, सर्वमय, सर्वसमर्थ, सर्वाश्रय, शक्तिपति, नित्य, शुद्ध-बुद्ध-ज्ञानस्वरूप, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' हैं। वे निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार हैं और उभयातीत हैं।

भगवान् शिव निजात्मस्वरूप, निरञ्जन, निराभास, निर्गुण, निर्विकार, निरामय, निरीह, नित्य-सत्य, सर्वातीत, शब्दातीत, प्रकृतिपर, परात्पर, परतम, परमानन्दमय, परब्रह्म हैं। वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, सर्वोपरि, सर्वाश्रय, सर्वव्यापी, सर्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वगत, सर्वशक्तिमान् लीलाविहारी हैं।

भगवान् शिवजी ही वेदरूप, वेदवेद्य, वेदज्ञान हैं। वे प्रणवरूप हैं। 'प्रणव' उनका वाच्य है, वे वाचक हैं। उन पञ्चानन प्रभुके उत्तरकी ओरके मुखसे अकार, पश्चिमके मुखसे उकार, दक्षिणके मुखसे मकार, पूर्वके मुखसे विन्दु और मध्यके मुखसे नाद उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पाँचों मुखोंसे निर्गत इन्हीं सबके समग्ररूपमें 'ॐ' एकाक्षर बना है। समस्त नामरूपात्मक जगत्, स्त्री-पुरुषादि समस्त प्राणिसमुदाय तथा चारों वेद—सभी इस 'प्रणव' (ॐ) से ही व्याप्त हैं। यह 'ॐ' शिव-शक्तिका बोधक है।

भगवान् शिव पूर्णतम योगेश्वर, महान् गम्भीर ज्ञानस्वरूप होनेपर भी अपनी साधुताका परिचय करानेवाले महान् सरलहृदय हैं। वे बहुत लम्बी-चौड़ी पूजा-उपासनाकी प्रतीक्षा न करके बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, इसीसे उनका

'आशुतोष' नाम प्रसिद्ध है और प्रसन्न होकर वे परम अलभ्य वस्तु भी सहज ही दे डालते हैं—इसीसे वे 'औढरदानी' कहलाते हैं। वे सहज कल्पतरु हैं, उनसे जो मनुष्य, जो कुछ भी चाहता है, भगवान् शिव उसे वही दे देते हैं। उनके औढरदानी या आशुतोष होनेका यह अभिप्राय नहीं है कि उनमें बुद्धि और विवेककी कमी है। वस्तुतः समस्त विवेक, ज्ञान एवं बुद्धिके आधार ही भगवान् शिव हैं। वे ही जगद्गुरु-रूपमें समस्त ब्रह्माण्डके सम्पूर्ण देवर्षि-मुनि-मानवोंको ज्ञान-दान देते हैं। यह तो भगवान् शंकरकी एक विशेष दयालुता है कि वे सबके मनोरथ पूर्ण करनेमें सदा तत्पर रहते हैं।

वे माता-पिता, सुहृद्, स्वामी, सखा, न्यायकारी, पतितपावन, दीनबन्धु, परम दयामय, भक्तवत्सल, अशरण-शरण, अति उदार, सर्वस्वदानी, आशुतोष, सम, उदासीन, पक्षपातहीन, भक्तजनाश्रय, भक्तपक्षपाती, शुभप्रेरक, अशुभनिवारक, योग-क्षेमवाहक, प्रेममय, भूतवत्सल, श्मशानविहारी, कैलासनिवासी, हिमालयवासी, योगीश्वर और महामायावी हैं।

वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं। 'नमः शिवाय' उनका प्रधान मन्त्र है, आबालवृद्ध, वनिता, ब्राह्मण, शूद्र सभी इसका श्रद्धापूर्वक जप करके अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं।

शिवलिङ्ग-पूजा अश्लील नहीं है, यह परम रहस्यमय तत्त्व है। शिवकृपासे रहस्यका ज्ञान हो सकता है। शिवकी भक्ति-श्रद्धापूर्वक पूजा करनी चाहिये।

शिवनिन्दा करना और सुनना महापाप है, अतएव उससे सर्वथा बचना चाहिये।

शिवको परात्पर ब्रह्म मानते हुए भी शिव, विष्णु, ब्रह्ममें भेद मानना अमङ्गलका सूचक है। तीनों ही एक रूप हैं, तीनोंकी उपासना एककी ही उपासना है।

शिवतत्त्व जाननेके लिये पक्षपात छोड़कर शिवपुराण आदि सदग्रन्थोंका अध्ययन-मनन करना चाहिये।

'शिव'-नामका जप-प्रेमसहित निष्कामभावसे सदा करना चाहिये।

—'शिव'

शिवमय जगत्

[रुद्रहृदयोपनिषद्से]

श्रीशुकदेवजीने व्यासजीके चरणोंमें सिर नवाकर उनसे पूछा कि सब देवताओंमें कौन-से देवता विराजमान हैं, सारे देवता किस एक देवताके अंदर हैं और किसकी सेवा करनेसे सब देवता मुझपर प्रसन्न होंगे ? श्रीशुकदेवजीके इस प्रश्नको सुनकर उनके पिता व्यासजी बोले कि रुद्रदेवता सर्वदेवात्मक हैं और सारे देवता शिवस्वरूप हैं। रुद्रके दक्षिण-पश्चिममें सूर्य, ब्रह्मा और तीन अग्नि हैं, वामपार्श्वमें उमादेवी, विष्णु और सोम—ये तीन देवता हैं। जो उमा हैं वही स्वयं विष्णु हैं, जो विष्णु हैं वही चन्द्रमा हैं। जो गोविन्दको नमस्कार करते हैं, वे शंकरको ही नमस्कार करते हैं। जो भक्तिपूर्वक हरिकी पूजा करते हैं, वे भगवान् वृषभकेतु (शंकर) को पूजते हैं। जो भगवान् त्रिलोचनसे द्वेष करते हैं, वे भगवान् जनार्दनसे द्वेष करते हैं। जो रुद्रको नहीं जानते, वे केशवको भी नहीं जानते। रुद्रसे बीज प्रवर्तित होता है और विष्णु बीजकी योनि हैं। जो रुद्र हैं वे स्वयं ब्रह्मा हैं, जो ब्रह्मा हैं वही अग्नि हैं। रुद्र ब्रह्मा और विष्णुके स्वरूप हैं। सारा जगत् अग्नि-सोमात्मक है। जितने पुरुष हैं वे सब भगवान् रुद्र हैं और समस्त नारी-जाति भगवती उमाका स्वरूप है। समस्त चराचर जीव उमा और रुद्रके स्वरूप हैं। व्यक्त जगत् सब उमारूप है और अव्यक्त तत्त्व महेश्वर हैं। उमा और शंकरका योग 'विष्णु' कहलाता है। जो उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार करता है, वह आत्मा (जीव), परमात्मा (ब्रह्मा) और अन्तरात्मा (अन्तर्यामी)—इन तीनों प्रकारके आत्माको जानकर परमात्माका आश्रय ग्रहण करता है। अन्तरात्मा ब्रह्मा हैं, परमात्मा महेश्वर हैं, सब प्राणियोंकी सनातन आत्मा विष्णुभगवान् हैं। पृथ्वीपर विविध प्रपञ्चरूप छोटी-मोटी शाखावाले त्रिलोकरूपी वृक्षके अग्र, मध्य और मूल विष्णु, ब्रह्मा और महेश हैं। कार्य विष्णु हैं, क्रिया ब्रह्मा हैं और कारण महेश्वर हैं। रुद्र भगवान्ने प्रयोजनके लिये एक ही मूर्तिको तीन रूपोंमें विभक्त किया है। धर्म रुद्ररूप है, जगत् विष्णुरूप है और सर्वज्ञान ब्रह्मारूप है। जो 'रुद्र, रुद्र, रुद्र' इस प्रकार रुद्र-भगवान्को पुकारता है, वह संस्कारी जीव है। सर्वदेवरूप रुद्रभगवान्के कीर्तनसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है।

रुद्र पुरुष हैं और उमा स्त्री हैं। इससे उन दोनोंको नमस्कार है। रुद्र ब्रह्मा हैं, उमा सरस्वती हैं, इससे उनको नमस्कार है। रुद्र विष्णु हैं, उमा लक्ष्मी हैं, इन स्वरूपोंमें उनको नमस्कार है। रुद्र सूर्य हैं, उमा छाया हैं, इससे उनको नमस्कार है। रुद्र सोम हैं और उमा तारा हैं, इस स्वरूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र दिवस हैं, उमा रात्रि हैं, इस स्वरूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र यज्ञ हैं, उमा वेदी हैं, इस रूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र अग्नि हैं और उमा स्वाहा हैं, इस स्वरूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र वेद हैं और उमा शास्त्र हैं, इस स्वरूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र वृक्ष हैं, उमा लता हैं, इस स्वरूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र गन्ध हैं, उमा पुष्प हैं, इस रूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र अर्थ हैं और उमा अक्षर हैं, इस रूपमें उनको नमस्कार है। रुद्र लिङ्ग हैं और उमा पीठ हैं, इस रूपमें उनको नमस्कार है। सर्वदेवरूप रुद्रको विभिन्न रूपोंमें नमस्कार करके इन मन्त्रोंद्वारा ईश और पार्वतीको नमस्कार करता हूँ।

उपासक जहाँ कहीं भी हो, अर्थज्ञानपूर्वक इस मन्त्रका उच्चारण करे। ब्रह्महत्या करनेवाला जलके बीचमें खड़ा होकर इस मन्त्रका जाप करे तो वह समस्त पापोंसे छूट जाता है। सबका आश्रयरूप, सनातन परब्रह्म सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित है तथा सत्, चित्, आनन्दरूप है। वह वाणी और मनका विषय नहीं है। उसको सब प्रकारसे जाननेसे, हे शुकदेव ! इस सारे दृश्य-प्रपञ्चका ज्ञान प्राप्त होता है। सब कुछ उन्हींका स्वरूप होनेसे उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक परा, दूसरी अपरा। हे मुनीश्वर ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष तथा आत्मासे भिन्न वस्तुओंका ज्ञान—ये सब अपरा-विद्याके अन्तर्गत हैं। जिसके द्वारा परम अक्षर (अव्यय) आत्मा (परमात्मा) का ज्ञान होता है, वह परा-विद्या है। वह परमात्मा अदृश्य एवं अग्राह्य है, वह गोत्र (नाम) हीन, रूपहीन, नेत्रहीन, श्रोत्रहीन और हाथ-पैरसे बिल्कुल रहित है, नित्य है, व्यापक है, सबमें रहनेवाला अत्यन्त सूक्ष्म अव्यय (परिणामरहित) तथा सब

प्राणियोंका कारण है। धीर (विद्वान्) पुरुष उस परमात्माको अपने अंदर देखते हैं। वह सर्वज्ञ है और सब विद्याओंका आकर है। उसका तप ज्ञानमय है और उस रुद्रभगवान्से इस लोकमें जगत्के समूह अन्नरूपमें उत्पन्न होते हैं। रज्जुमें सर्पकी भाँति यह सारा जगत् उस ब्रह्मके अंदर सत्यके समान ही जान पड़ता है। वह ब्रह्म अक्षर (अविनाशी) सत्य है। उसको जानकर प्राणी बन्धनसे छूट जाता है। ज्ञानसे ही संसार (आवागमन) का नाश होता है, कर्मसे नहीं। इसलिये (उस ज्ञानके लिये) श्रोत्रिय (वेदवित्), ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास शास्त्र-विधिके अनुसार जाय। गुरु उसको ब्रह्म और आत्माका बोध करानेवाली परा-विद्याका उपदेश करे। इस प्रकार मनुष्य अति गूढ़, साक्षात् अक्षर ब्रह्मको यदि जान ले तो वह अविद्यारूपी महाप्रस्थिको छेदकर सनातन शिवको प्राप्त होता है। इसलिये मुमुक्षुओंको इस अमृत सत्यको जानना चाहिये। ॐकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है, इसलिये सावधानतासे लक्ष्यको बेधनेके लिये बाणके समान तन्मय हो जाय। लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म सर्वगत है और शर (जीव) सबमें रहता है तथा तेज फलवाला (प्रणवके ध्यानमें सुसंस्कृत) है, बेधनेवाला ज्ञाता सर्वगत है। शिव ही लक्ष्य है, इसमें संशय नहीं। वहाँ चन्द्र अथवा सूर्यका स्वरूप प्रकाश नहीं करता, वायु नहीं बहती, वहाँ सब देवता भी नहीं हैं। वह यह परमात्मदेव सारे कार्य-पदार्थोंका यथार्थ तत्त्व है, स्वयंशुद्ध एवं रजोगुणसे रहित होकर प्रकाशमान है। इस शरीरमें जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी साथ रहते हैं। इसमें जीव कर्मका फल भोगता है और महेश्वर फलभोक्ता नहीं है। महेश्वर केवल साक्षीरूपसे बिना भोगके स्वयं प्रकाशित होता है। इन दोनोंमें

भेद मायासे कल्पित है। जिस प्रकार घटमें रहनेवाला आकाश घटाकाश है और मठके अंदर रहनेवाला आकाश मठाकाश है और यह मुख्य आकाशके भेदसे कल्पित है, इसी प्रकार जीव और शिवरूपसे एक तत्त्वमें दो तत्त्व कल्पित हैं।

वास्तविक शिवरूप परमेश्वर साक्षात् चैतन्यस्वरूप हैं और जीव भी स्वरूपतः चैतन्यात्मक है। चित् (ज्ञान) चैतन्यस्वरूपसे भिन्न नहीं है। यदि भिन्न हो तो उसकी चैतन्यस्वरूपता ही नहीं रहती। चित् (ईश्वरचैतन्य) से चित्त (जीवचैतन्य) भिन्न नहीं है, क्योंकि दोनों ही चैतन्यस्वरूप हैं। यदि भिन्न हों तो उनकी जडरूपता हो जायगी, क्योंकि चेतनसे भिन्न सभी जड हैं। निश्चय ही चित् (चैतन्य) सर्वदा एक है। (श्रुत्यनुकूल) तर्क तथा प्रमाणके द्वारा भी चैतन्यकी एकरूपता निश्चित होनेसे चैतन्यत्वकी एकताका ज्ञान हो जानेपर शोक नहीं रहता और न मोह ही रहता है, समस्त जगत्के अधिष्ठानरूप सत्य, चिद्घन, अद्वैत, परमानन्दरूप शिवको प्राप्त होता है। वह शिव मैं ही हूँ, ऐसा निश्चय करके मुनि शोकसे मुक्त हो जाते हैं। जिनके अविद्या—काम-कर्मादि दोष क्षीण हो गये हैं ऐसे पुरुष अपने शरीरमें स्वयंप्रकाश एवं सबके साक्षी परमात्माको देखते हैं, परंतु जो मायासे आवृत होते हैं, वे उसे नहीं देख पाते। इस प्रकार जिस श्रेष्ठ योगीको अपने स्वरूपका ज्ञान रहता है, उस पूर्णस्वरूपवालेको कहीं भी जाना नहीं पड़ता। आकाश सम्पूर्ण और एक है, वह कहीं नहीं जाता। इसी प्रकार आत्म-स्वरूपको जाननेवाला भी कहीं नहीं जाता। वह मुनि जो निश्चयपूर्वक उस परब्रह्मको जानता है, अपने स्वरूपमें स्थित होकर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। हरिः ॐ तत्सत्।

भगवान् श्रीशंकरकी वन्दना

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्दं वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यधधनध्वान्तापहं तापहम् ।

मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शंकरं वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥

धर्मरूपी वृक्षके मूल, विवेकरूपी समुद्रको आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्र, वैराग्यरूपी कमलके (विकसित करनेवाले) सूर्य, पापरूपी घोर अन्धकारको निश्चय ही मिटानेवाले, तीनों तापोंको हरनेवाले, मोहरूपी बादलोंके समूहको छिन्न-भिन्न करनेकी विधि (क्रिया) में आकाशसे उत्पन्न पवनस्वरूप ब्रह्माजीके वंशज (आत्मज) तथा कलङ्कनाशक, महाराज श्रीरामचन्द्रजीके प्रिय श्रीशंकरजीकी मैं वन्दना करता हूँ।

शिवोपासना

(श्रीविजयशंकरजी दीक्षित)

नीलप्रवालरुचिरं विलसन्निनेत्रं

पाशारुणोत्पलकपालकशूलहस्तम् ।

अर्धाङ्गिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषं

बालेन्दुबद्धमुकुटं प्रणमामि रूपम् ॥

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें । लहिअ न कोटि जोग जप साधें ॥

भगवान् शिवकी उपासनाकी प्राचीनता एवं प्रचुरता सर्वमान्य है । शिव देवदेवेश्वर महेश्वर हैं । कल्याणकर्ता होनेसे उन्हें शंकर कहा जाता है । आशुतोष अवदरदानी परम प्रभु शिवके दरबारसे कोई खाली हाथ नहीं लौटता, वे उपासकोंके समस्त अभाव दूर कर देते हैं, कामना पूर्ण कर देते हैं और भक्तोंको अपना शिवपद भी प्रदान कर देते हैं । भगवान् शंकर भारतीय संस्कृति, धर्म एवं जीवनमें विराट् समन्वयके देवता हैं । वे अपने स्वरूपमें विषम-जैसे आभासित होनेपर भी मूलतः परम शान्त, एकरूप और कृपासागर हैं—

अंगमें लगाते हैं सदासे चिताकी भस्म,

फिर भी शिव परम पवित्र कहलाते हैं ।

गोदमें बिठाये गिरिजाको रहते हैं सदा,

फिर भी शिव अखण्ड योगिराज कहलाते हैं ॥

घर नहीं, धन नहीं, अन्न और भूषण नहीं,

फिर भी शिव महादानी कहलाते हैं ।

देखत भयंकर, पर नाम शिव शंकर,

नाश करते हैं तो भी नाथ कहलाते हैं ॥

आश्चर्य होता है, शिवजी देवताओं, ऋषियों, मुनियों, सिद्धों तथा योगियों और मानवोंके उपास्य तो हैं ही, किंतु असुरों आदिके भी परम उपास्य वे ही हैं । शिवोपासना देवराज इन्द्र, भगवान् विष्णु, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम, लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तथा ऋषि-मुनियोंद्वारा अनादिकालसे होती आयी है, यहाँतक कि दैवी संस्कृतिके विरोधी आसुरी प्रकृतिवाले भौतिकताके साधक रावण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, लवणासुर, भस्मासुर, गजासुर, बाणासुर आदि राक्षसों तथा दानवोंने भी शिवजीकी आराधना कर अभीष्ट वरदानोंसे अपना अभ्युदय किया । अति शीघ्र ही प्रसन्न हो जानेवाले तथा दर्शन देकर कृतार्थ करनेवाले भोलेभाले कल्याणस्वरूप भगवान्

उमापतिकी आराधना-उपासनासे उनके सेवकों, भक्तोंका परम कल्याण हुआ है । वे देवोंमें सर्वोत्कृष्ट देव महादेव कहे गये हैं । श्रद्धाभावसे शिवोपासना करनेपर व्यक्तिको अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं ।

भालमें जाके कलाधर हैं सोइ साहब ताप हमारो हरैगो ।

अंगमें जाके विभूति लगी रहै भौनमें सम्पति भूरि भरैगो ॥

घातक है जो मनोभवको मन-पातक वाहीके जारे जरैगो ।

दास जू शीश पै गंग धरे रहैं वा-सी कृपा कहू कौन करैगो ॥

ब्रह्माजी भवानी पार्वतीसे व्यङ्ग्य करते हुए कहते हैं—आपके बावरे पति उन कंगालोंको धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य-सुख दे देते हैं, जिनके मस्तकमें सुख-सम्पत्तिका नामोनिशान-तक हमने नहीं लिखा है, उन रंकोंको भी वह इन्द्रपद दे देते हैं, जिससे मुझे अनेकों स्वर्गोंकी रचना कर उन्हें इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित करना पड़ता है । स्रष्टा—पितामह ब्रह्माजीकी विनोदयुक्त वाणी सुनकर जगज्जननी भवानी मा पार्वती मुसकराने लगीं । ब्रह्माजीके ये उद्गार महात्मा तुलसीदासरचित इस पदावलीमें द्रष्टव्य है—

बावरो रावरो नाह भवानी ।

दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी ॥

(विनयपत्रिका ५)

परमोपास्य महादेवकी परमोदारता—कृपालुताके विषयमें एक सदुक्ति देखिये—

दिगम्बर हैं स्वयं दीनोंको पीताम्बर दिया करते ।

भिखारी होके घर औरोंका धनसे भर दिया करते ॥

यहाँ दुर्भाग्य भी सौभाग्यके ढाँचेमें ढल जाये ।

चरणपर भाल रखते भालकी रेखा बदल जाये ॥

धन्य हैं परम प्रभु शिवजी, धन्य है उनकी दानशीलता, भक्तवत्सलता, परमोदारता, जिससे प्रभावित हो विधाता चतुरानन भवानी पार्वतीसे विनोदयुक्त वाणीमें कहते हैं— हे पार्वति ! तुम अपने पतिको समझा दो—यह बड़ा बावला और भोला दानी है, देखो, स्वयं तो नंगा है, परंतु किसी याचकको देखनेपर कहता है मुझसे थोड़ा न माँगना, अधिक-से-अधिक इच्छित वस्तु माँग लो । महाकवि तुलसीदासकी

कवितावलीकी पदावली देखिये, ब्रह्माजी कहते हैं—
नागो फिरै कहै मागनो देखि, 'न खाँगो कछू', जनि मागिये थोरो ।
राँकनि नाकप रीझि करै तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो ॥
नाक सँवारत आयो हौं नाकहि, नाहि पिनाकिहि नेकु निहोरो ।
ब्रह्मा कहै, गिरिजा ! सिखवो पति रावरो, दानि है बाबरो भोरो ॥

(उत्तरकाण्ड १५३)

भगवान् भोलेबाबाका स्वरूप है भी बड़ा विचित्र । वे भक्तको देते समय कुछ भी विचार नहीं करते । एक होते हुए भी लीला-भेदसे वे लीला-परमेश्वर अनेक स्वरूप धारण कर लेते हैं । उनके अनन्त नाम-रूप हैं । अनेकों रूप एवं दिव्य नाम हैं । वे भक्तोंके परम उपास्य हैं ।

भगवान् शंकरका कर्पूरवत् गौरवर्ण, नीलमणि-प्रवाल-सदृश मनोहर नील-लोहित शरीर, तीन नेत्र, चारों हाथोंमें पाश, लाल कमल, कपाल और त्रिशूल है । आधे अङ्गमें अम्बिका सुशोभित हैं, मुखमण्डल सहस्रों सूर्य-सदृश ज्योतिर्मय तेजसे दीप्त है । सिरके दक्षिण भागमें धूमिल जटाजूट, वामभागकी अलकावली, सुचिक्कण श्यामला लंबी लटकें लटक रही हैं । एक नेत्र कृपा-कटाक्षके लिये चञ्चल, दूसरा शान्त अर्धोन्मीलित, नासिकाके छिद्रमें सुनहली नथुनी शोभा दे रही है । मस्तकपर चन्द्रमा और सिरपर गङ्गा लहरा रही हैं, अर्धाङ्गमें बाघम्बर भुजङ्गावनद्ध है । कण्ठमें मन्दार-पुष्पोंकी माला तथा मुण्डमाला लटक रही है । एक पैरमें रेशमी साड़ी तो दूसरे पैरमें गजकी खाल एवं व्याघ्राम्बर धारण किये हैं । ऐसे परम प्रभु सर्वशक्तिमान् भगवान् अर्धनारीश्वरको नमस्कार है ! नमस्कार है !!

महेश्वर चन्द्रमौलिकी उपासनाके भी अनेक रूप हैं, मन्त्र, स्तोत्र, जप, पूजा आदि । उनका एक प्रमुख मन्त्र शिवपञ्चाक्षर-मन्त्र 'नमः शिवाय' है । इस मन्त्रके वामदेव ऋषि हैं । पंक्ति छन्द है और देवता ईशान हैं । मन्त्रके पहले 'ॐ'कार लगनेपर यह षडक्षर-मन्त्र हो जाता है । यथा—
'ॐ नमः शिवाय' इस मन्त्रके जापसे साधकको लौकिक-पारलौकिक सुख, इच्छित फल एवं पुरुषार्थकी भी प्राप्ति हो जाती है । साधकको चाहिये कि भस्म तथा रुद्राक्ष धारण कर 'दासोऽस्मि' कहकर विधिवत् शिवार्चन करे, उनके जप-स्तोत्रादिका पाठ करे । 'शिव' नाम ही कल्याणवाचक है, अतः

येन-केनप्रकारेण शिवका स्मरण अथवा नाम-जप अथवा शिव-साधनासे अपना जीवन कृतार्थ करना चाहिये । नाम-जपका बड़ा महत्त्व है, महात्मा श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

भगवान् शिवके पार्थिव-पूजनकी भी बड़ी महिमा है । रुद्रार्चनमें अक्षत, बेलपत्र, गङ्गा-जल, कमल एवं मन्दारके पुष्पकी बड़ी महत्ता है । शिवजीकी आधी परिक्रमा करनेका विधान है । महामुनि मार्कण्डेयने शिवोपासनासे ही दीर्घ आयुष्य एवं अमरत्व प्राप्त कर लिया—भगवद्दर्शन प्राप्त कर लिया । यह रोचक कथा भागवत, पद्म तथा शिवपुराण आदिमें विस्तारसे वर्णित है ।

परम शिवभक्त वैश्वानरकी रोमाञ्चकारी घटनाका वर्णन पुराणोंमें वर्णित है । वैश्वानरपर इन्द्रने ज्यों ही वज्र चलाया, उन्होंने शिवजीका स्मरण किया । वज्र लगनेसे क्षणभरके लिये वे मूर्च्छित हो गये, पुनः चेतना आयी, आँखें खोलीं तो सामने देखा कि भगवान् गौरीपति शंकर उन्हें गोदमें लिये हुए हैं । भवानीसहित शंकरको देख वे साश्रुनयन नतमस्तक होकर प्रभुके चरणोंमें गिरकर गद्गद हो पुलकित हो गये । आशुतोष चन्द्रमौलिनने कहा—'भक्तवर ! तुमने हमें पुकारा, बस हम आ गये । क्या डर गये हो, अब निर्भय हो जाओ ।' यह कह प्रभुने वैश्वानरको आग्नेयकोणका अधिपति बना दिया, लोकोक्ति है—
'शंकर सहाय तो भयंकर कहा करै ।'

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं कि 'हे शिव ! आप जिसपर अनुकूल होते हैं, उसको ज्ञान, वैराग्य, धन-धर्म, कैवल्य-सुख (मोक्ष) और सहज सुन्दर सौभाग्य आदि सब सहज ही मिल जाते हैं, तो भी खेद है कि मूर्ख मनुष्य आपकी चरणसेवासे मुख मोड़कर संसारके विकट पथपर इधर-उधर भटकते फिरते हैं—

ज्ञान-वैराग्य, धन-धर्म, कैवल्य-सुख, सुभग सौभाग्य शिव ! सानुकूलं ।
तदपि नर मूढ आरूढ संसार-पथ, भ्रमत भव, विमुख तव पादमूलं ॥

(विनयपत्रिका १०)

तात्पर्य यह है कि यह दुर्लभ मानुष-तन पाकर जिस-किसी भी रूपमें परमशिवकी आराधनासे परम कल्याण प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और उनकी कृपादृष्टि पानेके लिये उन्हींके मङ्गलरूप चरणोंकी शरण ग्रहण करनी चाहिये ।

आगमिक शैवोपासना और 'उपाय'-तत्त्व

(डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, एम्. ए., एम्. एड., व्याकरणाचार्य, पी-एच्. डी., डी. लिट्.)

शिवोपासनाके दो रूप हैं—(१) वैदिक, (२) आगमिक। आगमिक शाखाएँ भी अनेक हैं, यथा—(१) पाशुपत, (२) लाकुल, (३) कापालिक, (४) सौम, (५) महाव्रत, (६) जंगम, (७) कारुणिक, (८) कालानल, (९) कालामुख, (१०) भैरव, (११) वाम, (१२) भट्ट, (१३) नन्दिकेश्वर, (१४) रसेश्वर, (१५) सिद्धान्त-मत आदि। इनके अतिरिक्त काश्मीरीय शैवदर्शनकी अद्वैतवादी शाखा 'प्रत्यभिज्ञा' भी है। प्रस्तुत लेखमें प्रत्यभिज्ञादर्शनकी दृष्टिसे शैवोपासनामें मुक्तिके साधनरूप 'उपायों'का विवेचन किया गया है।

यद्यपि शैवोपासनाकी आगमिक शाखाओंमें भक्ति, ज्ञान, योग आदि तत्त्वोंको भी मुक्तिका साधन स्वीकार किया गया है और अन्य साधनोंका भी आत्मीकरण किया गया है; किंतु वे सभी साधन इन 'उपायों'में अन्तर्भुक्त हो गये हैं। 'मध्य-विकासाच्चिदानन्दलाभः' कहकर चिदानन्द-लाभके विकल्प-क्षय, शक्तिसंकोच, शक्तिविकास, वाहच्छेद एवं आदि-अन्त-कोटिका परिशीलन आदि उपाय बताये गये हैं। किंतु ये साधन भी किसी-न-किसी तरह 'उपायों'के अन्तर्गत ही अन्तर्भुक्त हैं। 'उपायों'के अन्तर्गत समस्त भारतीय साधन-परम्पराके सभी मुख्य तत्त्व भी संनिविष्ट हो गये हैं।

शैवोपासनामें उपाय-तत्त्व—'स्वयम्प्रकाश' परप्रकाश्य नहीं है और उपेयतक उपायोंकी पहुँच नहीं है। इसीलिये तान्त्रिक शैवाचार्योंने तात्त्विक दृष्टिसे उपायोंको निरर्थक माना है—

'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्

घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।'

किंतु व्यावहारिक धरातलपर उन्हें मुक्तिका अन्यतम साधन भी स्वीकार किया है। उपायोंके इसी अन्यतम महत्त्वके कारण त्रिकाम्नायके आदिग्रन्थ 'शिवसूत्र'का अध्यायीकरण भी उपायोंके नामपर किया गया है—(१) प्रथम उन्मेष—'शाम्भवोपाय', (२) द्वितीय उन्मेष—'शाक्तोपाय', (३)

तृतीय उन्मेष—'आणवोपाय'। 'विज्ञान-भैरव' नामक आर्ष ग्रन्थमें उपदिष्ट ११२ धारणाओंको टीकाकारोंने उपाय-चतुष्टयमें ही अन्तर्भुक्त करके उनकी व्याख्या की है, अतः उपायोंकी श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध है

उपायोंकी आवश्यकता—त्रिकाचार्योंने मतानुसार आत्मविस्मृति-रूप-बन्धनसे मुक्तिका सर्वोच्च उपाय 'प्रत्यभिज्ञा' है और प्रत्यभिज्ञाके अन्यतम साधन 'उपाय' हैं। अतः प्रत्यभिज्ञा-हेतु उपायोंका आश्रय अनिवार्य है और प्रत्यभिज्ञाके बिना मुक्ति सम्भव नहीं है—

लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो

नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥

(ई० प्र० तत्त्व-संग्रह०)

उपायोंके भेद—शैव-शाक्त-दर्शनके चरम लक्ष्य 'आत्मप्रत्यभिज्ञा' के लिये जिन चार उपायोंका उल्लेख किया गया है, वे निम्नाङ्कित हैं—

(१) आणव, (२) शाक्त, (३) शाम्भव और (४) अनुपाय।

उपाय और समावेश—मुख्यतया उपायत्रयका ही उल्लेख मिलता है; किंतु आचार्य अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक'के प्रथम आह्निकमें मुक्तिके चार मार्गोंके रूपमें उपर्युक्त चार उपायोंकी विवेचना की है। इनका स्वरूप निम्नानुसार है—

(१) आणवोपाय—अल्पज्ञ जीवभावकी स्थिति 'क्रियोपाय'—भेदोपाय।

(२) शाक्तोपाय—शक्ति-प्रधान भावकी स्थिति 'ज्ञानोपाय'—भेदाभेदात्मक उपाय।

(३) शाम्भवोपाय—ब्रह्मभाव, शिवभावकी स्थिति 'इच्छोपाय'—भेदोपाय।

(४) अनुपाय—भावातीत स्थिति—'आनन्दोपाय'। उपायोंके अभावसे अधिगत परम एकाग्रताकी

१-(क) अभेदोपाय एवोक्तः शाम्भवः शाक्त उच्यते। भेदाभेदोभयात्मा यो भेदोपायः स आणवः ॥

महादशाको ही 'समावेश' की आख्या दी गयी है। अतः निम्नाङ्कित समावेशोंका भी उल्लेख किया गया है—

(१) आणव-उपायसे प्राप्त—'आणव-समावेश'।

(२) शाक्त-उपायसे प्राप्त—'शाक्त-समावेश'।

(३) शाम्भव-उपायसे प्राप्त—'शाम्भव-समावेश'।^१

(१) आणवोपाय—भेदप्रधान एवं क्रियाशक्तिरूप उपाय ही 'आणवोपाय' है। 'अणु' अर्थात् परिमित प्रमाता (जीव) परिमित-स्वरूपवाले देह, प्राण, बुद्धि आदिको उपायोंके रूपमें स्वीकार करता है। अतः इस उपायको आणव-उपाय कहते हैं। 'अणुषु भेदेषु उपायेषु भवः आणवः' कहकर भी इसी भावको व्यक्त किया गया है। उच्चार (उच्चारण) (प्राण, अपान आदि वायुकी श्वास-प्रश्वास, छींक आदि वृत्तियाँ, प्राणापानादि पञ्चक, प्राणायाम, मन्त्रजप) करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थानकी कल्पनारूप भेदोंसे युक्त उपाय आणवोपाय कहलाता है। यह उपाय प्रारम्भिक उपासकोंके लिये है। भेदप्रथायुक्त कल्पनाओंसे प्रकल्पित होने एवं उच्चारणादि बहिर्भूत अर्थका साधन होनेके कारण इसे 'क्रियोपाय' भी कहा जाता है। 'क्रियोपाय' ज्ञानोपायका, ज्ञानोपाय इच्छोपायका, इच्छोपाय शाम्भवोपायका एवं शाम्भवोपाय अनुपायका सोपान या साधन है। 'उच्चार' करण, ध्यान, वर्ण, स्थान-कल्पना आदिके माध्यमसे सम्भूत होनेवाले 'समावेश'को आणव समावेश कहते हैं।^२ आणव उपायके अभ्यासोंमेंसे किसी एक या एकाधिक साधनोंद्वारा प्राप्त एकाग्रता आणव-समावेश कहलाती है।

'उच्चार'के दो भेद हैं—(१) प्राणात्मक (पञ्चप्राण-स्वरूप) — उच्चारणं च प्राणाद्या व्यानान्ताः पञ्चवृत्तयः । आद्या तु प्राणनाभिख्या परोच्चारात्मिका भवेत् ॥ (तन्त्रा-लोक) । (२) चिदात्मक । चिदात्माके भी दो प्रकार हैं— (१) चित्रधान (२) विमर्शप्रधान।^३

'करण'के सात प्रकार हैं—(१) ग्राह्य, (२) ग्राहक,

(३) संवित्ति, (४) व्याप्ति, (५) त्याग, (६) आक्षेप, (७) संनिवेश—ग्राह्यग्राहकचिद्व्याप्तित्यागाक्षेपनिवेशनैः ।

करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥ (तन्त्रालोक) शरीराङ्गोंको किसी विशेष प्रकारकी स्थितिमें रखनेका नाम 'करण' है। 'तन्त्रालोक' के ११वें, १५वें, १६वें, २९वें एवं ३२वें आह्निकमें करणोंका सविस्तार वर्णन किया गया है।

सगुण-स्वरूपमें चित्तकी एकाग्रताको 'ध्यान' कहा गया है, जो कि बुद्धिका व्यापार है।

प्राणात्मक उच्चारमें स्वयमेव स्फुटित अनाहतनाद, वर्णोत्पत्तिका स्तोत्र होनेके कारण वर्ण कहलाता है। प्राणके उच्चारके साथ स्वाभाविक रूपसे उच्चरित 'सकार' एवं 'हकार' जो कि सभी वर्णों एवं मन्त्रोंका बोध कराते हैं, 'वर्ण' कहे जाते हैं। सृष्टि एवं संहार-बीज इसका मुख्य शरीर है—'उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः । अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ॥ (त० आ० ५) 'वर्ण' शब्द काले, पीले आदि रंगोंके भी बोधक हैं। प्राणादिककी वृत्तियोंके रूपमें प्रकट 'स्थूल प्राण'का व्यापार 'उच्चार' और सूक्ष्म प्राण 'वर्ण' कहलाता है।

सृष्टिसंहारबीजात्मा सूक्ष्मप्राणे सदा स्फुरन् ।

अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णपदाभिधः ॥

घट-स्थापना, मण्डलनिर्माण, मन्दिर, मूर्ति, चित्र आदिकी संरचना आदिका समावेश 'स्थान-कल्पना'में होता है। 'स्थान' तीन प्रकारके हैं—(१) प्राण, (२) देह और (३) बाह्य। प्राणके ५, देहके २ एवं बाह्यके ११ भेद हैं। 'स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा । प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः ॥ मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम् । लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमामूर्तिरिव च ॥ इत्येकादशधा ' (तन्त्रालोक) — इस प्रकार स्थानके ११ भेद हैं। हृदयादिक स्थानोंमें प्रवाहित प्राणशक्तिमें चित्तको लय कर देना, नाडी, चक्र आदि स्थानों एवं लिङ्ग, चत्वर, प्रतिमा आदिमें

(ख) इच्छाख्यः शाम्भवः प्रोक्तो ज्ञानं शाक्तस्तु भण्यते । आणवस्तु क्रियारूपः फलभेदविवर्जितः ॥

१-समावेशोऽपि त्रिविधः शैवः शाक्तस्तथाणवः ॥

२-उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः । यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥ (प्र०आ०)

३ 'उच्चारः' करणबन्धादिपूर्व मन्त्रोदीरणम् (क्षेमराज, स्व० तं० की टीका) 'प्राणव्यापार उच्चार उच्यते जीवनात्मकः' उच्चारके दो भेद हैं—(१) स्थूल

(२) सूक्ष्म।

चित्तको नियोजित करना भी स्थानकल्पना है। बुद्धि, प्राण, देह, देश प्रभृति अपारमार्थिक एवं विकल्परूप तत्त्वोंके माध्यमसे साध्य 'उपाय' आणव-उपाय है। आणवोपाय क्रियाशक्ति-प्रधान है। क्रियाशक्तिका प्रथमोन्मेष प्राण है जो कि १० है। और यह षडध्वात्मक जगत् इस क्रियाशक्तिका ही उन्मेष है। समस्त षडध्वात्मक जगत्में बाहर-भीतर सर्वत्र प्राणशक्ति स्पन्दित है और अणुरूप है। प्राणशक्ति (हृदयका स्पन्दन-व्यापार), शरीरस्थ नाडीमण्डल, चक्रमण्डल, लिङ्ग, चत्वर एवं प्रतिमादिक आन्तर-बाह्य स्थानोंको स्थानकल्पनाके अन्तर्गत लिया गया है।

आणवोपाय या क्रियोपायमें उपासना, अर्चना आदिका ग्रहण किया जाता है। इसमें योग भी स्वीकृत है। इसमें मन्त्रोच्चारणका विशेष महत्त्व है, इसे क्रियोपाय इसलिये कहा जाता है कि इसके साधकोंके लिये 'इदन्ता' एवं 'अहन्ता' दोनोंका समान महत्त्व है।

(२) शाक्तोपाय—इस उपायके अन्तर्गत बाह्य उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण एवं स्थानकी कल्पना नहीं की जाती, अतः अभेदावस्था विद्यमान है। चूँकि चित्तद्वारा इनके चिन्तनके कारण भेद भी विद्यमान है अतः शाक्तोपाय भेदाभेदात्मक है। अभेद-परामर्शकी प्राप्ति ही 'ज्ञान' है। चूँकि 'आत्मैवेदं सर्वम्' का चिन्तन होते रहनेसे इस धरातलके योगीके मनमें आत्मा एवं अनात्मा दोनोंके विकल्पांश विद्यमान रहते हैं। अतः यह भेदाभेद-रूप भी है और ज्ञानप्रधान भी है। ज्ञानप्राधान्यके कारण ही इसे 'ज्ञानोपाय' भी कहा गया है। 'भेदाभेदौ हि शक्तिता' कहकर इसके द्विविध स्वरूपको व्यक्त किया गया है—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।

यः समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥

—कहकर भी इसीकी पुष्टि की गयी है। सतर्क, सदागम एवं सद्गुरुके आश्रयसे साधकद्वारा उच्चार-करण आदि विकल्प व्यापारोंका शोधन कर लिये जानेपर अर्थात् इन सभीमें स्वात्मस्वरूपका साक्षात्कार करने लगनेके फलस्वरूप उसके चित्तमें विश्वाहन्ता (समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप है। मेरा विशुद्ध आत्मचैतन्य इससे भी परे है और मेरे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं) का जो उदय होता है, वही शाक्तोपायका

विशेष लक्षण है। सार्वार्थ्य-भावनाके कारण साधकमें विशुद्ध विकल्पांका उदय होने लगता है और वह समस्त जागतिक वस्तुओंको अपनेसे अभिन्न मानकर उनमें अपने शुद्ध स्वरूपकी भावना करने लगता है। यह वह उपाय है जिसमें द्वैतभावसे अद्वैतभावमें स्थित होने-हेतु अनवरत प्रयास किया जाता है। इसमें ऐक्यका निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करके अभेदावस्था प्राप्त करने-हेतु प्रयास किया जाता है। इसमें ज्ञानका प्राधान्य है। अतः इसे 'ज्ञानोपाय' कहा जाता है। 'इच्छाख्यः शाम्भवः प्रोक्तो ज्ञानं शाक्तस्तु भण्यते' कहकर आचार्येण शाक्तोपायको मुख्यतः ज्ञानप्रधान माना है।

(३) शाम्भवोपाय—शाम्भवोपायको ही इच्छोपाय भी कहा गया है। 'क्रियोपाय' ज्ञानोपायका एवं 'ज्ञानोपाय' इच्छोपायका सोपान है। ज्ञानोपायकी चरम स्थिति इच्छोपाय या 'शाम्भवसमावेश' है। विकल्पशून्य स्थिति ही शाम्भवावस्था है। परिमित तत्त्वोंके निमज्जनसे शिव-तादात्म्य प्राप्त होता है, वही है शाम्भवोपायकी स्थिति। इस उपायमें चरम सत्ताका ज्ञान 'इच्छाशक्ति'के आभासद्वारा होता है। इसीलिये इसे 'इच्छोपाय' भी कहा गया है। इसमें अकस्मात् चैतन्यका उदय होता है और फिर किसी भी बाह्य साधनाकी आवश्यकता नहीं रह जाती और न तो इसमें समाधि तथा श्वास-निरोध ही आवश्यक रहता है और न तो बाह्य-आन्तर प्रयास ही। न इसमें चिन्तन आवश्यक होता है और न कोई अन्य विकल्प। अनुभवमें आता है कि समस्त जगत् शिवमय है। विज्ञान भैरव-स्वरूप है और अपनेसे अपृथक् है। 'जगत्' दर्पणमें प्रतिबिम्बित नगरीके समान दिखायी पड़ता है। दर्पण-रूप शिवमें जगत् प्रतिबिम्बित-रूपमें भासित होता है।

श्रेष्ठ गुरुद्वारा प्रदत्त शक्तिसे समस्त विकल्पांका विनाश होकर जो परदशा उदित होती है, चिन्तनशून्य योगीमें भावना एवं कल्पनासे परे विकल्पानुपयोगिता एवं शिवतादात्म्यावस्था आविर्भूत होती है, उसे ही शाम्भव-समावेश या शाम्भवोपाय कहते हैं—

अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः ।

उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः ॥

अकिञ्चिच्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता ।

तथा झटिति ज्ञेयः समापत्तिर्निरूप्यते ॥

तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनार्थनपेक्षिणी ।

शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शाम्भवः ॥

(तन्त्रालोक)

आत्मप्रत्यभिज्ञानके लिये जिस प्रपञ्चोपशमकी आवश्यकता है, उसका अन्यतम साधन है—‘हठ-पाक-क्रम’ या ‘शाम्भवोपाय’। यह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयात्मक जगत् मुझपर बोधात्मक सत्तासे उत्पन्न हुआ है, यह मुझसे अभिन्न है तथा अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्तवद् भासित होता है। इस प्रकारका अद्वैतात्मक परामर्श ही शाम्भवोपाय है—

मत् एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।

मद्भिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः ॥

(तन्त्रालोक)

शाम्भवोपायमें केवल पूर्ण अभेद-भावना करणीय है। इसमें बाह्य क्रियाओंके लिये कोई स्थान नहीं है।

(४) अनुपाय—इसे आनन्दोपाय भी कहा गया है। ‘तन्त्रसार’के अनुसार इसके अन्तर्गत तीव्र शक्तिपातद्वारा गुरु साधकको एक बारके उपदेशद्वारा ही ‘नित्योदित समाधि’में लीन कर देता है। उपायके रूपमें इसमें तर्कका आश्रय लेकर सोचना पड़ता है कि स्वयम्प्रकाश स्वात्म-स्वरूप ही तो परमात्मा है, एतदर्थ उपाय निरर्थक है। इसमें मन्त्र, पूजा, ध्यान,

उपासना आदि सभी अनपेक्षित होते हैं। प्रत्यभिज्ञाके उदित होते ही साधक शिवस्वरूपमें समाविष्ट हो जाता है। उसे अहमात्मक स्वात्मस्वरूपमें समस्त विश्व प्रतिबिम्बित दिखायी पड़ता है।

आणव-उपायमें (क्रम एवं कुल-दर्शनको छोड़कर) समस्त तान्त्रिक एवं यौगिक विधियोंका समावेश है। शाक्तोपायमें क्रम-दर्शनकी व्याख्या की गयी है। शाम्भवोपायमें कुलदर्शनकी व्याख्या की गयी है। अनुपायमें प्रत्यभिज्ञादर्शनकी व्याख्या की गयी है। इसमें उपायोंका अत्यल्प महत्त्व है। इसमें चरमोपलब्धि किसी आप्त पुरुषके द्वारा होती है। यह अवस्था सुषुप्तिके समतुल्य है। यह सहज स्वरूप है। यह अनुग्रहमात्रपर आश्रित है। इसमें उपायका महत्त्व नहीं है। इसमें गुरु कृपा करके सकृद्देशनाद्वारा ही शिष्यमें आत्मप्रकाशका उन्मीलन कर देता है। यह शाम्भवोपायकी ही चरम स्थिति है। शाम्भवोपायमें तीव्र एवं अनुपायमें तीव्र-तीव्र शक्तिपातकी आवश्यकता होती है। इसमें भावनाओं एवं कल्पनाओंका भी आश्रय नहीं लिया जाता। अतः यह स्वल्पोपाय है। किसी सिद्ध महापुरुषके दर्शनमात्रसे या शक्तिपातसे साधकको जो चरमोपलब्धि होती है वह अनुपायका ही उदाहरण है।

देवमाता देवी अदिति

महाराज दक्ष प्रजापतिके ‘अदिति’ और ‘दिति’ नामकी दो कन्याएँ थीं। उनका विवाह महर्षि कश्यपसे हुआ था। अदितिसे ‘देवता’ और दितिसे ‘दैत्य’ उत्पन्न हुए। इन दोनोंमें स्वाभाविक शत्रुताके कारण द्वन्द्व-युद्ध हुआ। उसमें देवगण पराजित हुए और दैत्य विजयी। जब देवगण भयभीत होकर इधर-उधर चले गये, तब देवमाता अदिति अमरेश्वरमें जाकर आशुतोष भगवान् शंकरके ध्यानमें निमग्न होकर तपस्या करने लगीं।

तप करते-करते जब चार युग बीत गये, तब वहाँ भूतलसे एक मनोहर और देदीप्यमान शिवलिङ्गका प्रादुर्भाव हुआ। अदिति उस अद्भुत देवदेवकी अनेक प्रकारके स्तोत्रोंसे स्तुति कर ही रही थीं कि उसी समय आकाशवाणी हुई—‘हे कल्याणि ! मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट हूँ। तुम्हारी जो कुछ भी अभिलाषा हो वह पूर्ण होगी, मेरे पास तुम्हारे लिये कोई भी पदार्थ अदेय नहीं है।’ यह सुनकर साष्टाङ्ग प्रणामके बाद अदितिने कहा—‘हे सुरश्रेष्ठ ! यदि आप प्रसन्न हैं तो ऐसा अनुग्रह करें कि मेरे पुत्र (देवगण) दैत्योंद्वारा देवासुर-संग्राममें पराजित हो गये हैं, उन्हें आप ‘अमर’ कर दें और वे सभी विजयी होकर पुनः अपनी यशःश्री प्राप्त कर लें।’

भगवान्ने ‘एवमस्तु’ कहकर कहा—‘देवि ! जो मेरे इस लिङ्गका दर्शन-स्पर्श करके युद्धमें जायगा, वह अवश्य ही विजयी होगा और शत्रुओंके मारे कदापि न मरेगा। उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे।’ इस प्रकार देवमाता देवी अदितिके शिवार्चनसे, उनके अनुग्रहसे देवगणोंने पुनः स्वर्गका राज्य प्राप्त किया।

श्रीरामचरितमानसमें शिव-चरित

(शिवलोकवासी पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

रामं त्रिनेत्रं सोमार्धधारिणं शूलिनं परम् ।

भस्मोद्भूलितसर्वाङ्गं कपर्दिनमुपास्महे ॥

श्रीरामचरितमानसमें प्रधानतः भगवत्-चरित तो है ही, परंतु उसीके अन्तर्गत पाँच भागवतोंके भी चरित हैं। यथा—

(१) उमा-चरित, (२) शम्भु-चरित, (३) भरत-चरित, (४) हनुमत्-चरित और (५) भुशुण्डि-चरित। इनमेंसे उमा-शम्भु-चरितके वक्ता योगी याज्ञवल्क्य और श्रोता भरद्वाज, भरत-चरितके वक्ता स्वयं गोस्वामीजी और श्रोता सुसज्जनवृन्द, हनुमत्-चरितके वक्ता जाम्बवान् और श्रोता श्रीरामचन्द्र और भुशुण्डि-चरितके वक्ता स्वयं भुशुण्डिजी और श्रोता गरुडजी हैं।

उमा-शम्भु-चरित छप्पन दोहोंमें कहा गया है। जिस भाँति उमा-शम्भु अभिन्न हैं, उसी भाँति उनके चरित भी अभिन्न हैं, परंतु ग्रन्थकारने लोकदृष्टिका अनुसरण करते हुए उसे ठीक दो समान भागोंमें विभक्त किया है। अट्ठाईस दोहोंमें उमा-चरित और अट्ठाईस ही दोहोंमें शम्भु-चरित कहा गया है। भेद इतना ही है कि उमा-चरितमें केवल एक छन्द है और शिव-चरितमें पंद्रह छन्द आये हैं, दोनों मिलाकर सोलह छन्द हैं। ऐसा क्यों हुआ, इस बातको तो छन्दके रहस्य जाननेवाले ही कह सकते हैं और यहाँ उसके लिये उपयुक्त अवसर भी नहीं है। यहाँ तो इतना ही कहना है कि—

उमा चरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा ॥

—कहकर ग्रन्थकारने दोनों चरितोंको पृथक्-पृथक् कर दिया है।

शिवचरित कहते हुए गोस्वामीजीने सप्तर्षिके मुखसे निन्दाव्याजसे शिवतत्त्वनिरूपण ऐसी सुन्दरतासे कराया है कि जिसका रसास्वादन सरसचेता पाठक ही कर सकते हैं। सप्तर्षि कहते हैं—

निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ॥

कहहु कवन सुखु अस बर पाएँ। भल भूलिहु ठग के बौराएँ ॥

कहिये, इससे उत्तम शिवतत्त्वनिरूपण और क्या हो

सकता है? जो वरका दूषण है, वही शिवतत्त्वनिरूपण है। शिव निर्गुण हैं, क्योंकि निष्कल और निर्विशेष हैं। शिव निलज हैं, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं। शिव अकुल हैं, क्योंकि अनादि और अजन्मा हैं। शिव अगेह हैं, क्योंकि अपरिच्छिन्न हैं। शिव दिगम्बर हैं, क्योंकि निरावरण हैं। शिव कुबेष हैं, क्योंकि वैराग्यकी मूर्ति हैं। शिव कपाली^१ हैं, क्योंकि सनातन हैं। शिव ब्याली हैं, क्योंकि सर्वाभिभावक हैं।

ऐसा होनेपर भी शिव महाभागवत हैं; यही उनकी अपार लीला है। एक रूपसे शिव निर्गुण, निराकार, निष्कल, निरञ्जन हैं, दूसरे रूपसे वही शिव भगवान्, सगुण, साकार, मृत्युञ्जय, जगद्गुरु, योगीश्वर, विश्वेश्वर, विश्वमूर्ति, आशुतोष, महादेव हैं और तीसरी मूर्तिसे वही शिव महाभागवत, तारकोपदेशक, परमत्यागी, मदनमर्दन और दयाके समुद्र हैं। यथा—

जरत सकल सुर बृंद विषम गरल जेहि पान किय ।

तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस ॥

जिन शिवका रामसे तादात्म्य है या यों कहिये कि शिव राम हैं और राम शिव हैं, (यदि यह न होता तो 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के' ऐसा गोस्वामीजी न लिख सकते, तादात्म्य बिना सेवक-स्वामी-सखा—इन तीन अत्यन्त भिन्न सम्बन्धोंका एकत्र संनिवेश हो नहीं सकता था।) वही शिव लोकशिक्षाके लिये श्रीरामचरितमानसमें भागवत हैं। वही शिव आज सतीके विरहसे दुःखी हैं, कैलास उन्हें सूना मालूम होता है, वहाँ रहनेसे सतीकी स्मृति मनसे हटती नहीं, अतः—

जपहि सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहि राम गुन ग्रामा ॥

कतहुँ मुनिह उपदेसहि ग्याना। कतहुँ राम गुन करहि बखाना ॥

चिदानंद सुखधाम सिव बिगत मोह मद काम ।

बिचरहि महि धरि हृदयँ हरि सकल लोक अभिराम ॥

फिर क्या होता है? भागवतके नेम, प्रेम और भक्तिसे भगवान् प्रकट होते हैं, सतीके हिमालयके घर जन्म लेनेका संदेश देते हैं, उनकी अति पुनीत करनीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और उनके पाणिग्रहणके लिये अनुरोध करते हैं—

१-ब्रह्मदेवका कपाल हाथमें होनेसे शिव कपाली हैं। भाव यह कि जो ब्रह्माकी सृष्टि और संहार कर सकते हैं, वह सनातनदेव हैं।

अब बिनती मम सुनहु सिव जौ मो पर निज नेहु ।

जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु ॥

भगवान्की यह दशा है कि प्रार्थना करते हैं, अपने स्नेहकी याद दिलाते हैं, याचना करते हैं। भागवत दूसरे संकटमें पड़े हैं, उन्हें विरह-दुःख स्वीकार है, परंतु सीताका रूप जिस सतीने धारण किया था, उसका पाणिग्रहण करके भक्तिपथसे विचलित होना स्वीकार नहीं है। पर भागवत भगवत्के वचनका भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। चाहे कुछ भी हो। भगवत्के चाहनेपर भागवतको उसकी चाह रखनी पड़ती है। क्या करें, क्या न करें? खैर 'जानि गरुड़ गुरु गिरा बहोरी' विवाह स्वीकार करना ही पड़ा।

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं । नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा । परम धरमु यह नाथ हमारा ॥

अपना काम कर चुकनेपर भगवत् अन्तर्धान होने लगे, पर भागवत ऐसा अवसर हाथसे क्यों जाने देने लगे? शंकरने उस मधुमयी मूर्तिको हृदयमें रख लिया, उसीके ध्यानमें मग्न हुए समाधि लग गयी।

इधर तारकासुरने देवताओंके नाकों दम कर रखा था। उसके लिये 'संभु सुक्र संभूत सुत एहि जीतइ रन सोइ' यह व्यवस्था थी। संयोग भी अनुकूल आ पड़ा था। पर शंकरकी समाधिकी अवधिका ठिकाना क्या? इसके पहलेवाली समाधि ८७,००० वर्ष ठहर गयी थी, इस बार कितने सहस्र वर्ष रहेगी, कौन कह सकता है? यहाँ मास, पक्ष बीतना कठिन हो पड़ा था। अब समाधिसे इन्हें जगाये कौन? ब्रह्मदेवकी सम्पत्तिसे इस कार्यके लिये कामदेव भेजे गये और भगवदिच्छासे जगानेमें कृतकार्य भी हुए, पर शिवजीके क्रोधानलमें पतंग हो गये। जगत्-विजयी कामको भस्म करनेके लिये महाभागवतकी कोपदृष्टि ही यथेष्ट थी। चलिये, सब बना-बनाया काम बिगड़ गया। जब काम ही नहीं तो शुकसम्भूत सुत कहाँसे होने लगे? पर आशुतोष रतिकी विनतीपर प्रसन्न हो गये। कामदेव अतन होकर फिर जी गये, देवताओंकी जान-मैं-जान आयी, अब क्या था?

सब सुर बिभु बिरंचि समेता । गए जहाँ सिव कृपानिकेता ॥

पृथक पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा । भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा ॥

बोले कृपासिंधु वृषकेतू । कहहु अमर आए केहि हेतू ॥

कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी । तदपि भगति बस बिनवउँ स्वामी ॥

सकल सुरन्ह के हृदयँ अस संकर परम उछाहु ।

निज नयनन्हि देखा चहहि नाथ तुम्हार बिबाहु ॥

स्वामीकी आज्ञा पहलेसे ही हो चुकी थी, स्वीकार करनेमें उग्र ही क्या था? फिर तो देवताओंने बड़ी शीघ्रतासे काम लिया। कहीं फिर समाधिमें न बैठ जायँ। तुरंत सप्तर्षि हिमाचलके यहाँ भेजे गये, लग्न ठीक हुई, गणोंने वरका शृंगार आरम्भ कर दिया, देवतालोग बराती बने, विष्णुके चुटकी लेनेपर गणलोग भी बारातमें शामिल हुए।

जस दूलहु तसि बनी बराता । कौतुक बिबिध होहि मग जाता ॥

बारात चल पड़ी ।

उधर हिमाचलके यहाँ गहरी तैयारी थी, बारातकी आहट मिलते ही लोग अगवानीके लिये निकल पड़े, देवताओंका दर्शन करके बड़े सुखी हुए, तबतक बारातका मूल-भाग सामने आ पड़ा। फिर क्या था?

विडरि चले बाहन सब भागे ।

धरि धीरजु तहँ रहे सयाने । बालक सब लै जीव पराने ॥

ईश्वर-ईश्वर करके बारात दरवाजे लगी। सास परिछनके लिये आयीं, पर—

बिकट बेध रुद्रहि जब देखा । अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा ॥

भागि भवन पैठी अति त्रासा । गए महेसु जहाँ जनवासा ॥

घरमें प्रलय मच गया, मैना पहाड़परसे कूदकर प्राण देनेको तैयार हो गयीं। भला, ऐसे वरसे ऐसी रूप-गुणवती कन्याका विवाह कैसे हो?

अब तो वरपक्षके भी छक्के छूट गये। नारदजीको महलमें जाकर शक्ति-तत्त्वका निरूपण करना पड़ा—

मयना सत्य सुनहु मम बानी । जगदंबा^१ तव सुता भवानी ।

अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि । सदा संभु अरधंग निवासिनि ॥

जग संभव पालन लय कारिनि । निज इच्छा लीला बपु धारिनि ॥

जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई । नामु सती सुंदर तनु पाई ॥

—इत्यादि ।

^१-जगत्की प्रसवित्री होते हुए भी तुमसे प्रसूत भवानी, 'सदा संभु अरधंग निवासिनि' होनेपर भी कुमारी, अजा, अनादि शक्ति होते हुए भी 'तव सुता'।—भाव यह कि अघटितघटनापटीयसी माया हैं।

और सरकारको भी समाजके सहित अपना सहज वेष बदलना पड़ा। ब्याह तो ब्याह ही है। चाहे ईश्वरका ही क्यों न हो।

लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
भए सुंदर सत कोटि मनोज मनोहर ॥
नील निचोल छाल भड़ फनि मनि भूषन।
रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन ॥
गन भए मंगल वेष मदन मन मोहन।
सुनत चले हियँ हरषि नारि नर जोहन ॥

(पा० मं०)

बात सब ठीक हो गयी, सहज एकाकीका विवाह हुआ, सहज निःसंगका नित्यसंगिनीसे संयोग हुआ, अब—

करहि बिबिध विधि भोग विलासा। गनन्ह समेत बसहि कैलासा ॥
हर गिरिजा बिहार नित नयऊ। एहि विधि बिपुल काल चलि गयऊ ॥
तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारकु असुर समर जेहि मारा ॥

भाव यह कि भागवतका भोग-विलास भी जगत्के कल्याणके लिये ही होता है, नहीं तो जिन्होंने कामको भस्म किया, उनका भोग-विलास कैसा? इस भोग-विलासका तत्त्व ग्रन्थकतनि स्वयं भगवतीके मुखसे सप्तर्षिके प्रति

कहलाया है—

तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अबिबेकु तुम्हारा ॥
तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहि काऊ ॥
गएँ समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस की नाई ॥
तुम्हरेँ जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा ॥
हमरेँ जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥

संक्षेपतः यही शिव-चरित रामचरितमानसमें वर्णित है और उसके पाठसे पता चलता है कि शिव ही निराकार, निर्गुण, निष्कल ब्रह्म हैं और उमा ही उनकी माया हैं। माया होनेसे वही शिव सगुण साकार और सविशेष हो जाते हैं—

तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।

और वही शिव अपनी माया उमाके साथ कभी संयोगी होते हैं, कभी वियोगी होते हैं। कभी भगवत् होते हैं, कभी भागवत होते हैं। कभी राम होते हैं, कभी श्याम होते हैं। लोकानुग्रहके लिये अनेक प्रकारकी लीलाएँ किया करते हैं, जिसे देखकर गोस्वामीजी-ऐसे महाकविको भी कहना पड़ता है कि—

चरित सिंधु गिरिजा रमन बेद न पावहि पारु।
बरनै तुलसीदासु किमि अति मतिमंद गवारु ॥

शिवोपासनासे राजर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बन गये

विख्यात महर्षि विश्वामित्रका जन्म क्षत्रिय-कुलमें हुआ था। ये गांधिराजके पुत्र थे। कुशवंशमें उत्पन्न होनेसे ये कौशिक भी कहलाते हैं। एक बार विश्वामित्र बहुत-सी सेना लेकर महर्षि वसिष्ठके आश्रममें गये। वसिष्ठजीने अपनी धेनु (नन्दिनी) की सहायतासे राजा विश्वामित्र तथा उनके साथियोंका आदरपूर्वक विशेष आतिथ्य किया। धेनुका ही यह प्रभाव समझकर विश्वामित्रने वसिष्ठजीसे उस धेनुकी याचना की, परंतु वसिष्ठने धेनु देनेके लिये अपनेको असमर्थ बताया, किंतु विश्वामित्रने बलपूर्वक उसे ले जाना चाहा।

वसिष्ठकी आज्ञासे कामधेनुने असंख्य सेना उत्पन्न की। जिससे विश्वामित्र परास्त हो गये। तभी विश्वामित्रजीने ब्रह्मबलको श्रेष्ठ समझा और ब्रह्मत्व-प्राप्तिके लिये वे घोर तपस्या करने लगे। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने उन्हें 'राजर्षि' पद दिया, किंतु वे संतुष्ट न हुए। उनकी तपस्या और भी तीव्रतर होती गयी। इसी समय मेनकाद्वारा तपमें विघ्न हुआ। विश्वामित्र इस कार्यसे दुःखी होकर वहाँसे चले आये और उत्तर दिशामें आकर हिमालयपर्वत और कौशिकी नदीके तटपर तपस्या करने लगे। आशुतोष भगवान् शिवको प्रसन्न कर उन्होंने ब्रह्मत्व-पद प्राप्त किया। ब्रह्मर्षि विश्वामित्रने इस वृत्तान्तका वर्णन करते हुए कहा—'महाराज युधिष्ठिर ! मैं पहले क्षत्रिय था, उस समय 'मैं ब्राह्मण हो जाऊँ' इस इच्छासे मैंने भगवान् शंकरकी आराधना की और उनकी कृपासे मैंने अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया'—

विश्वामित्रस्तदोवाच क्षत्रियोऽहं तदाऽभवम् । ब्राह्मणोऽहं भवानीति मया चाराधितो भवः ॥

तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत् ।

(महा०, अनु० १८। १६-१७)

रुद्राक्षकी उत्पत्ति, धारण-विधि और माहात्म्य

[रुद्राक्षजाबालोपनिषद्से]

रुद्राक्षोपनिषद्देवं महारुद्रतयोज्ज्वलम् ।

प्रतियोगिविनिर्मुक्तं शिवमात्रपदं भजे ॥

‘रुद्राक्ष-उपनिषद्से जानने योग्य, महारुद्ररूपसे उज्ज्वल, प्रतियोगीरहित, शिवपदवाच्य तत्त्वकी मैं शरण लेता हूँ।’ हरिः ओम् ।

भुसुण्ड नामके ऋषिने कालाग्निरुद्रसे पूछा कि ‘रुद्राक्षकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा उसके धारण करनेसे क्या फल मिलता है—इसे आप लोकहितके लिये कृपा करके कहिये।’ कालाग्निरुद्र भगवान्ने कहा कि ‘त्रिपुरासुर नामक दैत्यका नाश करनेके लिये मैंने नेत्रोंको बंद कर लिया था। उस समय मेरी आँखोंमेंसे जलके बिन्दु पृथिवीपर गिरे और वही रुद्राक्षरूपमें परिणत हो गये। सर्वलोकके अनुग्रहके लिये मैं यह बतलाता हूँ कि उनके नामोच्चारणमात्रसे दस गो-दानका फल और दर्शन तथा स्पर्शसे दुगुने (अर्थात् बीस गो-दानका) फल प्राप्त होता है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।’ इस सम्बन्धमें नीचे लिखी उक्ति है—

भुसुण्ड ऋषिने पूछा कि ‘वह रुद्राक्ष कहाँ स्थित है, उसका क्या नाम है, वह किस प्रकार मनुष्योंके द्वारा धारण किया जाता है, कितने प्रकारके इसके मुख हैं और किन मन्त्रोंसे इसे धारण किया जाता है—आदि सब बातें कृपा करके कहिये।’

श्रीकालाग्निरुद्र बोले—‘देवताओंके हजारों वर्षोंतक मैंने अपनी आँखें खुली रखीं। उस समय मेरी आँखोंसे जलकी बूँदें पृथिवीपर गिर पड़ीं। वे आँसूकी बूँदें भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये स्थावरत्वको प्राप्तकर महारुद्राक्ष नामक वृक्ष हो गईं। रुद्राक्ष धारण करनेसे भक्तोंके रात-दिनके पाप नष्ट होते हैं, उसका दर्शन करनेसे लाखों गुना पुण्य मिलता है। जो मनुष्य रुद्राक्ष धारणकर रुद्राक्षकी मालासे इष्टदेवका जप करता है उसे अनन्तगुने पुण्यकी प्राप्ति होती है। आँवलेके फलके समान आकारवाला रुद्राक्ष उत्तम होता है, बेरके समान आकारवाला मध्यम और चनेके समान आकारवाला कनिष्ठ होता है। अब उसके धारण करनेकी प्रक्रिया कहता हूँ, सुनो।

श्रीशंकरभगवान्की आज्ञासे पृथिवीपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार जातिके रुद्राक्षके वृक्ष उत्पन्न हुए। प्रत्येक जातिके मनुष्यको अपनी-अपनी जातिके रुद्राक्ष ही फलदायक होते हैं। श्वेत रुद्राक्षको ब्राह्मण, लालको क्षत्रिय, पीलेको वैश्य और कालेको शूद्र जानना चाहिये। ब्राह्मणको श्वेत रुद्राक्ष धारण करना चाहिये, क्षत्रियको लाल, वैश्यको पीला और शूद्रको काला रुद्राक्ष पहनना चाहिये। आकारमें एक समान, चिकने, पक्के (मजबूत), मोटे तथा काँटोंवाले रुद्राक्षके दाने शुभ होते हैं। कीड़ा लगे हुए, टूटे-फूटे, बिना काँटोंके, छिद्रयुक्त तथा बिना जुड़े हुए—इन छः प्रकारके रुद्राक्षोंका त्याग करना चाहिये। जिस रुद्राक्षमें स्वयमेव बना हुआ छिद्र हो वह उत्तम है, जिसमें किसी मनुष्यद्वारा छिद्र किया हुआ हो उसे मध्यम जानना चाहिये। शास्त्रमें लिखे अनुसार एक समान, चिकने, पक्के एवं मोटे दानोंको रेशमके धागेमें पिरोकर शरीरके तत्तद् अवयवमें धारण करे। जिस रुद्राक्षकी माला कसौटीके पत्थरपर सुवर्णकी रेखाके समान जान पड़े वह रुद्राक्ष उत्तम है, ऐसे रुद्राक्षको शिव-भक्त धारण करे। शिखामें एक रुद्राक्ष, सिरपर तीस, गलेमें छत्तीस, दोनों बाहुओंमें सोलह-सोलह, कलाईमें बारह और कंधेपर पचास दाने धारण करे और एक सौ आठ रुद्राक्षोंकी मालाका यज्ञोपवीत बनाये। दो, पाँच अथवा सात लड़ोंकी माला कण्ठ-प्रदेशमें धारण करे। मुकुटमें, कुण्डलमें, कर्णफूलमें तथा हारमें भी रुद्राक्ष धारण करे। बाजूबंदमें, कड़ेमें, विशेषकर करधनीमें। सोते-जागते, खाते-पीते सर्वदा मनुष्यको रुद्राक्ष धारण करना चाहिये। तीन सौ रुद्राक्ष धारण करना अधम, पाँच सौ मध्यम और एक हजार उत्तम है। बुद्धिमान् पुरुष—

ॐ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपति-
ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम् ।

—इस मन्त्रसे मस्तकमें,

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः
प्रचोदयात् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

हुआ। रुद्राक्षका नाम उच्चारण करनेसे दस गो-दानका फल मिलता है। वही यह 'भस्मज्योति' रुद्राक्ष है। उस रुद्राक्षको हाथसे स्पर्शकर धारण करनेसे दो हजार गो-दानका फल मिलता है तथा एकादश रुद्रत्वकी प्राप्ति होती है। उस रुद्राक्षको सिरपर धारण करनेसे कोटि गो-दानका फल मिलता है। इन स्थानोंमें, कानोंमें रुद्राक्ष धारण करनेका फल नहीं कहा जा सकता। जो मनुष्य इस रुद्राक्षजाबालोपनिषद्का नित्य पाठ करता है अथवा उसके रहस्यको जानता है वह बालक हो या युवा, महान् हो जाता है, वह सबका गुरु और मन्त्रोंका उपदेश करनेवाला हो जाता है। रुद्राक्षको पहनकर होम करना चाहिये, इन्हींको धारण करके पूजन करना चाहिये, इसी प्रकार यह रुद्राक्ष राक्षसोंका नाश करनेवाला तथा मृत्युसे तारनेवाला है। रुद्राक्षको गुरुसे लेकर कण्ठ, बाँह और शिखामें बाँधे। रुद्राक्षके दाता गुरुको गुरु-दक्षिणामें सप्तद्वीपवाली पृथिवीका

दान भी अपूर्ण ही है, इसलिये उसे श्रद्धापूर्वक कम-से-कम एक गायका दान करे, यह गो-दान ही शिष्यको फल देता है। जो ब्राह्मण इस उपनिषद्का सायंकाल पाठ करता है उसके दिनके पाप नष्ट हो जाते हैं, मध्याह्नमें पाठ करनेसे छः जन्मके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा प्रातःकाल पाठ करनेसे अनेक जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं और छः अरब गायत्रीजपका फल मिलता है। ब्रह्महत्या, मदिरापान, सुवर्णकी चोरी, गुरु-पत्नी-गमन तथा संसर्ग-दोषसे हुए अनेक पाप भी इससे नष्ट हो जाते हैं और वह पवित्र हो जाता है। वह सब तीर्थोंका फल भोगता है, पतितके संग भाषण करनेसे लगे हुए पापसे मुक्त हो जाता है, अपनी पंक्तिमें भोजन करनेवाले सैकड़ों-हजारोंको पवित्र करनेवाला हो जाता है और अन्तमें शिवलोकमें सायुज्य-मुक्ति पाता है, इससे उसका पुनर्जन्म नहीं होता। (अनु०—आई० बी० मेहता)

महाशिवरात्रि-व्रत

(काव्यतीर्थ प्रोफेसर श्रीलौट्सिंहजी गौतम)

बौद्धकालसे ही 'शिव-तत्त्व'के विषयमें घोर अज्ञान-सा छाया हुआ है। आजकलके साक्षर विद्वानोंमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जो प्रायः शिव-तत्त्व, शिवार्चन, महाशिवरात्रि-व्रत आदिके रहस्यसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं, बहुत-से पाश्चात्य विद्वानोंकी कुतर्कपूर्ण विचारधारामें बहे जा रहे हैं तथा कुछ माया-मुग्ध विषयासक्त जन अपने कुत्सित विचारोंको ही मङ्गलमूर्ति शिवपर आरोपित करते हैं। कोई उन्हें गँजेड़ी, भँगेड़ी समझता है, कोई सीधा-सादा, भुलक्कड़ भोलानाथ और कोई उन्हें व्याघ्रचर्माम्बरधारी, डमरू बजानेवाला भूतनाथ। इससे परे उनकी दृष्टि नहीं जाती। हम यह नहीं कहते कि भगवान् अपने भक्तोंकी भावनाके अनुसार रूप धारण नहीं करते, परन्तु अपनी दुर्बलताओंको भगवान्के मत्थे मँढ़ना अवश्य ही निन्द्य कर्म है। इसीसे कहना पड़ता है कि इस सम्बन्धमें लोगोंमें कितना भ्रम फैला हुआ है। अवश्य ही वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें भी भ्रम फैला हुआ है, परन्तु शैव और पाशुपतमत-सम्बन्धी भ्रम उससे बहुत आगे

बढ़ गया है। इनके सम्बन्धमें तो यहाँतक नौबत पहुँच गयी है कि लोग इन्हें अनार्य धर्मतक मानने लगे हैं।^१ इस सम्बन्धमें यहाँ हम अधिक विस्तार न कर केवल इतना निवेदन कर देना ही पर्याप्त समझते हैं कि शैव और पाशुपत-धर्मोंको अनार्यधर्म मानना उचित नहीं है—वे शुद्ध वैदिक आर्य-धर्म हैं। यद्यपि समयके प्रभावसे इनमें अन्य प्रकारके विचारोंका भी थोड़ा-बहुत समावेश हो गया है, तथापि जैसे अनेक नदियोंके आकर मिल जानेपर भी पुण्यतोया गङ्गाका गङ्गापन नष्ट नहीं होता, वैसे ही इस वैदिक धर्मरूपी सुरसरिताकी सुधाधारामें अनेकों विचार-सरिताओंका सम्मिश्रण हो जानेसे ही इसकी पवित्रता नष्ट नहीं हो गयी। इस सम्मिश्रणसे इन आर्य-धर्मोंको अनार्य-धर्म कदापि नहीं कहा जा सकता। जो कहते हैं, वे भूल करते हैं। अस्तु।

जैसे शैवमतके विषयमें मतभेद है, वैसे ही शिवसम्बन्धी व्रतोंके विषयमें भी है। इस विषयकी विधिवत् मीमांसा करना तो इन पंक्तियोंके लेखककी सामर्थ्यके बाहरकी बात है, फिर

१-देखिये डॉ० राधाकृष्णन्-कृत 'भारतीय-दर्शन' प्रथम भाग।

भी अपनी अल्प मतिके अनुसार भगवान् शिवकी अनुकम्पासे प्राप्त हुए कुछ अनुभवके आधारपर यत्किंचित् लिखनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

महाशिवरात्रि-व्रतके रहस्यको जाननेके लिये यह आवश्यक है कि उसका पदच्छेद करके उसके अङ्गीभूत प्रत्येक शब्दपर विचार किया जाय। देखा जाय कि 'शिव' किसे कहते हैं, 'रात्रि' क्या चीज है और 'व्रत' का क्या अर्थ है। साथ ही, इसका साधन क्या है और इसे करनेसे किस फलकी प्राप्ति होती है, आदि।

शिव

अवश्य ही 'शिव क्या हैं' इसका जान लेना शिवकृपापर ही अवलम्बित है। वस्तुतः इसे जानना ही शिवका साक्षात्कार कर लेना है, जो बहुत दूरकी बात है, फिर भी साधारण ज्ञानके लिये इतना जान लेना आवश्यक है—

शेते तिष्ठति सर्वं जगत् यस्मिन् सः शिवः शम्भुः
विकाररहितः ।

अर्थात् 'जिसमें सारा जगत् शयन करता है, जो विकाररहित है वह 'शिव' है, अथवा जो अमङ्गलका हास करते हैं, वे ही सुखमय, मङ्गलरूप भगवान् शिव हैं। जो सारे जगत्को अपने अंदर लीन कर लेते हैं, वे ही करुणासागर भगवान् शिव हैं। जो भगवान् नित्य, सत्य, जगदाधार, विकाररहित साक्षीस्वरूप हैं वे ही शिव हैं, उन्हींका वर्णन श्रीपुष्पदन्ताचार्यने शिवमहिम्नःस्तोत्रमें इस प्रकार किया है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।

रुचीनां वैचित्र्याद्भुजकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

महासमुद्ररूपी शिवजी ही एक अखण्ड पर-तत्त्व हैं, इन्हींकी अनेक विभूतियाँ अनेक नामोंसे पूजी जाती हैं, यही सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् हैं, यही व्यक्त-अव्यक्तरूपसे क्रमशः 'सगुण ईश्वर' और 'निर्गुण ब्रह्म' कहे जाते हैं तथा यही 'परमात्मा', 'जगदात्मा', 'शम्भु', 'मयोभव', 'शंकर', 'मयस्कर', 'शिव', 'रुद्र' आदि नामोंसे सम्बोधित किये जाते

हैं। आचार्यने सत्य ही कहा है—

त्वमापस्त्वं सोमः ।

न विद्यस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत् त्वं न भवसि ।

यही भगवान् शिव वर्णनातीत होते हुए भी अनुभवगम्य हैं, यही आशुतोष भक्तोंको अपनी गोदमें रखते हैं, यही त्रिविध तापोंको शमन करनेवाले हैं, इन्हींसे समस्त विद्याएँ एवं कलाएँ निकली हैं, ये ही वेद तथा प्रणवके उद्गम हैं, इन्हींको वेदोंने 'नेति-नेति' कहा है। यही नित्याश्रय और अनन्ताश्रय हैं और यही दयासागर एवं करुणावतार हैं। इनकी महिमाका वर्णन करना मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।

रात्रि

'रा' दानार्थक धातुसे 'रात्रि' शब्द बनता है, अर्थात् जो सुखादि प्रदान करती है वह 'रात्रि' है। ऋग्वेद-रात्रिसूक्तके यूप-मन्त्रमें रात्रिकी बड़ी प्रशंसा की गयी है—

उप मा पेपिशत् तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित ।

उष ऋणेव यातय ॥

(ऋग्वेद १०।१२७।७)

'हे रात्रे ! अक्लिष्ट जो तम है वह हमारे पास न आये ।.....आदि ।'

रात्रि सदा आनन्ददायिनी है, अतः सबकी आश्रयदात्री होनेके कारण उसकी स्तुति की गयी है और यहाँ रात्रिकी स्तुतिसे प्रकृतिदेवी, दुर्गादेवी अथवा शिवादेवीकी ही स्तुति समझनी चाहिये। इस प्रकार शिवरात्रिका अर्थ होता है 'वह रात्रि जो आनन्द देनेवाली है और जिसका शिवके नामके साथ विशेष सम्बन्ध है।' ऐसी रात्रि माघ-फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीकी है, जिसमें शिवपूजा, उपवास और जागरण होता है। उक्त फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिकी शिवपूजा करना एक महाव्रत है, अतः उसका नाम महाशिवरात्रि-व्रत पड़ा। इस सम्बन्धमें कुछ आवश्यक उद्धरण दिये जाते हैं—

परात् परतरं नास्ति शिवरात्रिपरात् परम् ।

न पूजयति भक्त्येशं रुद्रं त्रिभुवनेश्वरम् ।

जन्तुर्जन्मसहस्रेषु भ्रमते नात्र संशयः ॥

(स्कन्दपुराण)

१-श्रीमाधवाचार्यने स्वप्रणीत 'कालमाधव'में शिवरात्रिकी यों व्याख्या की है—

'शिवस्य प्रिया रात्रिर्यस्मिन् व्रते अङ्गत्वेन विहिता तद्व्रतं शिवरात्र्याख्यम् ।'

सौरो वा वैष्णवो वान्यो देवतान्तरपूजकः ।

न पूजाफलमाप्नोति शिवरात्रिबहिर्मुखः ॥

(नृसिंह-परिचर्या और पद्मपुराण)

इसका आशय यह है कि शिवरात्रि-व्रत परात्पर है। जो जीव इस शिवरात्रिमें महादेवकी भक्तिपूर्वक पूजा नहीं करता, वह अवश्य सहस्रों वर्षोंतक घूमता रहता है, चाहे सूर्यदेवका उपासक हो, चाहे विष्णु तथा अन्य किसी देवका। जो शिवरात्रिका व्रत नहीं करता उसको फलकी प्राप्ति नहीं होती। स्कन्दपुराण फिर डंकेकी चोट कहता है—

शिवं तु पूजयित्वा यो जागर्ति च चतुर्दशीम् ।

मातुः पयोधररसं न पिबेत् स कदाचन ॥

‘जो शिव-चतुर्दशीमें शिवकी पूजा करके जागता रहता है, उसको फिर कभी अपनी माताका दूध नहीं पीना पड़ता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।’

सागरो यदि शुष्येत क्षीयेत हिमवानपि ।

मेरुमन्दरशैलाश्च श्रीशैलो विन्ध्य एव च ॥

चलन्त्येते कदाचिद्वै निश्चलं हि शिवव्रतम् ।

(स्कन्दपुराण)

अर्थात् ‘चाहे सागर सूख जाय, हिमालय भी क्षयको प्राप्त हो जाय, मन्दर, विन्ध्यादि पर्वत भी विचलित हो जायँ, पर शिव-व्रत कभी विचलित (निष्फल) नहीं हो सकता।’ इसका फल अवश्य मिलता है।

यहाँतक ‘शिव’ और ‘रात्रि’ का अर्थ निरूपितकर, उस विशेष रात्रिमें व्रत करनेकी प्रशंसा की गयी। अब तत्त्वतः शिवरात्रि-व्रत क्या है तथा फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिमें क्या विशेषता है, इसका थोड़ा-सा तात्त्विक विवेचन भी किया जाता है। जो मनुष्य ‘कालतत्त्व’का भाव जानते हैं, उन्हें विदित है कि समयपर कार्य करनेसे इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है। फाल्गुनके पश्चात् नये वर्षचक्रका प्रारम्भ होता है। रात्रिके पश्चात् दिन और दिनके पश्चात् रात्रि होती है अथवा लयके बाद सृष्टि और सृष्टिके बाद लय होता है। इस प्रकार लयके बाद सृष्टि और फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीके बाद वर्षचक्रकी पुनरावृत्ति एक ही बात है। वर्षचक्रकी पुनरावृत्तिके समय मुमुक्षु जीव परमतत्त्व शिवके पास पहुँचना चाहता है। ज्योतिषशास्त्रके अनुसार कृष्ण चतुर्दशीमें चन्द्रमा सूर्यके समीप

होते हैं। अतः उसी समयमें जीवरूपी चन्द्रका शिवरूपी सूर्यके साथ योग होता है, अतएव फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको शिव-पूजा करनेसे जीवको इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होती है।

शिवरात्रि-व्रत

अब यह समझना है कि शिवरात्रि-व्रत क्या है? इस व्रतमें उपवास, जागरण और शिव-पूजा प्रधान हैं। इन सबका तात्त्विक अर्थ समझना चाहिये। इसके पहले ‘व्रत’ क्या है, यह समझना आवश्यक है। वैदिक साहित्यमें व्रतका अर्थ वेदबोधित, इष्टप्रापक कर्म है। दार्शनिक कालमें ‘अभ्युदय’ और ‘निःश्रेयस’ कर्मोंका हेतु-पदार्थ ही ‘व्रत’ शब्दका अर्थ समझा जाता था। अमरकोषमें ‘व्रत’का अर्थ नियम है। पुराणोंमें व्रत ‘धर्म’का वाचक है। निष्कर्ष यह है कि वेदबोधित अग्निहोत्रादि कर्म, शास्त्रविहित नियमादि अथवा साधारण तथा असाधारण धर्मको ही ‘व्रत’ कहते हैं अथवा थोड़ेमें यों समझिये कि जिस कर्मद्वारा भगवान्का सांनिध्य होता है वही व्रत है।

क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

देवपूजाग्निहवनं संतोषः स्तेयवर्जनम् ।

सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः ॥

(भविष्यपुराण)

अतः निश्चित हुआ कि व्रत ही समयानुसार साधारण तथा असाधारण धर्मका वाचक है जैसा कि ऊपर कहा गया है।

अब, यह देखना है कि उपवास क्या है? जीवात्माका शिवके समीप वास ही ‘उपवास’ कहा जाता है।

उप—समीपे यो वासः जीवात्मपरमात्मनोः ।

उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ॥

(वराहोपनिषद्)

अथवा—

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।

उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥

(भविष्यपुराण)

देवीपुराणमें कहा गया है—

‘भगवान् (शिव) का ध्यान, उनका जप, स्नान, भगवान्की कथाका श्रवण आदि—इन गुणोंके साथ वास

अर्थात् इन क्रियाओंको करते हुए काल-यापन करना ही उपवासकर्ताका लक्षण है। व्रतीके अंदर ये लक्षण अवश्य होने चाहिये। व्रतीके लिये सब प्रकारके विषय-भोगोंका वर्जन आवश्यक है। केवल अनशन करनेसे उपवास या व्रत नहीं होता। अवश्य ही अनशनसे भी कुछ लाभ तो होता ही है। हाँ, यथेष्ट लाभकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक क्रियाएँ भी करनी चाहिये। इस प्रकार 'व्रत' और 'उपवास' प्रायः एक ही चीजके दो नाम हैं।

जागरण—मुमुक्षु जीवात्माके लिये 'जागरण' आवश्यक है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(गीता २।६९)

'सर्व प्राणियोंकी अर्थात् विषयासक्त संसारी जनोंकी जो निशा है उसमें संयमी जगे रहते हैं। आत्मदर्शनविमुख प्राणिगण जिस जगदवस्थामें जागते हैं, मनीषी, आत्मदर्शननिरत योगीके लिये वह निशा है।' अतः सिद्ध है कि विषयासक्त जिसमें निद्रित हैं उसमें संयमी प्रबुद्ध हैं। अतः शिवरात्रिमें जागरण करना आवश्यक है। शिवपूजाका अर्थ पुष्प-चन्दन-बिल्वपत्र अर्पितकर शिव-नामका जप-ध्यान करना एवं चित्तवृत्तिका निरोधकर जीवात्माका परमात्मा 'शिव' के साथ योग करना है।

जीवात्माका 'आवरणविक्षेप' हटाकर पर-तत्त्व 'शिव'के साथ एकीभूत होना ही वास्तविक 'शिव-पूजा' है। यही जीवनका ध्येय है। योगशास्त्रके शब्दोंमें इन्द्रियोंका प्रत्याहार, चित्तवृत्तिका निरोध और महाशिवरात्रि-व्रत वास्तवमें एक ही पदार्थ हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि—इन चतुर्दशका समुचित निरोध ही सच्ची 'शिव-पूजा' या 'शिवरात्रि-व्रत' है। इसका निरोध कर्म, ज्ञान अथवा भक्तिके द्वारा हो सकता है—श्रीगीता (३।३)ने स्पष्ट कर दिया है कि—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

चाहे शिव-पूजा ज्ञानयोगद्वारा कीजिये अथवा कर्मयोग-

द्वारा, भक्तिका सम्मिश्रण दोनोंमें रहेगा। ज्ञानप्रधान भक्ति अथवा कर्मप्रधान भक्तिद्वारा फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको शिवरात्रि-व्रत करनेसे मुक्ति मिलेगी।

शिवरात्रिव्रतं नाम सर्वपापप्रणाशनम् ।

आचाण्डालमनुष्याणां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥

(ईशानसंहिता)

जो लोग शिव-भक्तिसे प्रेरित होकर सच्चे पवित्र मनसे अनशनव्रतकर परतत्त्व शिवकी पूजा बिल्व-पत्र, दुग्ध, पुष्पादिसे करते हैं, उन्हें भी अपनी भक्तिके अनुसार फल मिलता है, क्योंकि वास्तवमें महाशिवरात्रि-व्रतका उद्देश्य जीवात्माका परमात्माके साथ सहयोग ही है। अपनी-अपनी भक्तिके अनुसार समस्त भूमण्डलके भावुकजन वैज्ञानिक महाशिवरात्रि-व्रतका अनुष्ठान कर सकते हैं। भगवान् भूतनाथकी दयासे उन्हें सिद्धि अवश्य मिलेगी। समस्त प्राणियोंके लिये महाशिवरात्रि-व्रत कल्याणकर है। अज्ञानवश एक व्याधने महाशिवरात्रि-व्रतका अनुष्ठान किया था, जिससे शिवके गणोंने उसके लिये भी एक विमान भेजकर उसे शिवलोकमें पहुँचा दिया। यमने भगवान् शिवके पास जाकर उस व्याधकी इन शब्दोंमें शिकायत की—

निषादो जीवघाती च सर्वधर्मबहिष्कृतः ।

न धर्मोऽप्यर्जितस्तेन निर्गतं यमशासनम् ॥

आदि ।

भगवान् शिवने यमदेवको उस व्याधकी कहानी कह सुनायी कि कैसे उसने बिल्वपत्रद्वारा शिबलिङ्गकी उपासना की और कैसे अनशन-व्रतद्वारा ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने यमदेवको आध्यात्मिक घटनाओंका तारतम्य भी समझा दिया। अस्तु !

महाशिवरात्रि-व्रतके अधिकारी आचाण्डाल समस्त प्राणी हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

यद्यपि वैज्ञानिक महाशिवरात्रिद्वारा ही यथेष्ट लाभ होगा, जैसा कि ऊपर कहा गया है, तथापि अनशनद्वारा भक्तिपूर्वक शिवकी बिल्वपत्र, पुष्प, चन्दन, दुग्ध, दधिद्वारा पूजासे बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ और सांसारिक अभ्युदय प्रारम्भमें होगा। हाँ, भक्ति खरी या अमायिक होनी चाहिये।

नाट्य-परम्पराके आदि प्रवर्तक भगवान् शंकर

(प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम', डी० लिट्०)

ब्रह्माजीद्वारा निर्मित नाट्यवेदकी प्रतिष्ठापनाके पहलेसे ही आदिनट एवं आदिनटीके रूपमें भगवान् शंकर तथा भगवती पार्वतीकी प्रसिद्धि रही है। ज्ञातव्य है कि आचार्य भरतके अनुरोधपर ब्रह्माजीने ऋग्वेदसे पाठ्य अर्थात् संवाद, यजुर्वेदसे अभिनय, सामवेदसे गान और अथर्ववेदसे रस-वृत्ति ग्रहणकर नाट्यवेदकी रचना की थी—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना ।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना ॥

(नाट्यशास्त्र १।१७-१८)

—परंतु बहुत प्रयास करनेपर भी भरत-निर्देशित वह नाटक सफल नहीं हो सका। कारण यह कि उसमें कैशिकी वृत्तिका सर्वथा अभाव था। उल्लेख है कि नटराज शिवको इस रहस्यका पता पहलेसे ही था। अतएव अपने अभिनयको प्रभावपूर्ण बनानेके उद्देश्यसे कैशिकी वृत्तिके सफल निर्वाहके लिये उन्होंने भगवती पार्वतीकी सहायता ली थी—

'रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।'

(मालविकाग्निमित्र १।४ पूर्वार्ध)

अर्थात् आकर्षक अभिनयके लिये भगवान् शिवने नाट्यके दो भाग कर दिये—ताण्डव और लास्य। नटेशके रूपमें तो वे 'ताण्डव'में अप्रतिम थे ही, पार्वतीजीको लास्यका भार सौंपकर उन्होंने 'कैशिकी' की अनुपम योजना भी कर दी। फिर तो कठोरता तथा कोमलताके सफल संनिवेशसे अभिनयको अत्युत्कृष्ट होना ही था। उस रसमय प्रदर्शनका अवलोकन कर नाट्याचार्य भरतको अलौकिक आनन्दानुभूति हुई थी। अस्तु, अपने नाट्य-प्रदर्शनकी अपेक्षित सफलताके लिये उन्होंने विनम्रतापूर्वक उस प्रसंगकी प्रेरक चर्चा ब्रह्माजीसे की थी—

दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः ।

कैशिकी श्लक्ष्णनैपथ्या शृङ्गाररससम्भवा ॥

(नाट्यशास्त्र १।४५)

निसंदेह, शिवके रुचिर नाट्यकर्मसे प्रभावित होकर ही

ब्रह्माजीने 'कैशिकीमपि योजय'—(नाट्यशास्त्र १।४२ उत्तरार्ध) का निर्देश भरतमुनिकी समस्याके समाधानके लिये किया था। इस वृत्तिके समायोजनसे नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत होने लगा। अस्तु, इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् शंकर ही नाट्य-परम्पराके आदि प्रवर्तक हैं।

भगवान् त्रिपुरान्तक शंकरका अभिनय—ताण्डव अपने लिये जहाँ भयंकर है, वहीं परम कल्याणकारी भी है। वे 'शिव' अर्थात् कल्याण-स्वरूप हैं, अतः दूसरोंका अहित कैसे करेंगे, इसीसे वे ताण्डव करते समय अपने चरणोंके स्वच्छन्द विक्षेपसे पृथिवीको बचाते हैं, ग्रहमण्डल क्षतिग्रस्त न हो जाय, इसका ध्यान रखकर अपनी भुजाओंको सीमित कर लेते हैं। इसी प्रकार त्रिनेत्रको एक स्थानपर इसलिये केन्द्रित नहीं करते कि सारे पदार्थ भस्म न हो जायें। वस्तुतः वे तो अभिनयके आधारों—रंगपीठ (पृथिवी), रंगमण्डप (अन्तरिक्ष), रङ्गस्थ समाज (चराचर जीव-समुदाय) की रक्षा और अभ्युदयके लिये ताण्डव-जन्य कष्ट झेलते हैं—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम् ।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ॥

(मुद्राराक्षस १।२)

'लास्य'से 'ताण्डव' भी मनोहर बन जाता है, शक्ति-संयुक्त शिवका प्रकाश पाप-शाप सबका अन्त कर देता है। इसमें समरस अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति होने लगती है। नाटकका प्रयोजन ही है कर्तव्यबोध कराना, रुचि-परिष्कार करना, साहस बढ़ाना, अज्ञानियोंको ज्ञानवान् बनाना, ज्ञानियोंका ज्ञानवर्धन करना, आर्तजनोंका दुःख दूर करना, श्रान्त-क्लान्तको नयी स्फूर्ति प्रदान करना, शोक-संतप्तोंको धैर्यसे काम लेनेकी प्रेरणा देना, यश-आयुको बढ़ाना, बुद्धि-वैभवको विकसित करना तथा समस्त लोकोंका सभी दृष्टियोंसे कल्याण करना, जो भगवान् शंकरके स्वरूप और स्वभावका परिचायक है।

वस्तुतः शिवका प्रेक्षागृह ही ऐसा विलक्षण है कि वहाँ जानेपर किसी भी प्रकारका शोक-संताप नहीं रह जाता।

सच तो यह है कि भगवान् शिवके रंगमंचपर पहुँचते ही आनन्दमय वातावरणके निर्मित हो जानेसे सभी विघ्न-बाधाएँ स्वतः दूर हो जाती हैं। इस प्रकार विरेचन-सिद्धान्तका मूल भी शिवके अभिनयमें ही विद्यमान है।

चूँकि भगवान् शंकर नाट्य-परम्पराके आदि प्रवर्तक हैं, इसलिये नाट्य-मण्डपमें भी सबसे पहले भूतगणोंके साथ उन्हींकी स्थापनाका विधान किया गया—

आदौ निवेश्यो भगवान् सार्धं भूतगणैः शिवः ।

(नाट्यशास्त्र ३।२३ उत्तरार्ध)

नाट्यमें नृत्य और नृत्त स्वतः निहित हैं—उनके बिना रंगमंच पूर्णतः सुशोभित ही नहीं होता। 'नाट्यं गीता-दिरञ्जितम्' (व्यक्तिविवेक, महिम भट्ट) तथा 'न गीतवाद्यानृतज्ञा' (नाट्यदर्पण १।४, आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र) जैसे निर्देशोंसे भी इसी स्थापनाकी पुष्टि होती है।

ध्यातव्य है कि भगवान् शंकर संगीत—गीत, वाद्य एवं नृत्य (गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते) के भी आदि एवं अद्वितीय विद्वान्के रूपमें सुप्रतिष्ठित हैं और 'नृत्त' तो भगवती पार्वतीकी महती कृपा ही है, जिससे नाट्यकला सही अर्थमें महिमा-मण्डित हो सकी। इसीसे नृत्य और नृत्त नाटकके उपस्कारक भी हैं—

निष्कर्षतः 'लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ।'

(दशरूपक १।१०) 'नाट्यति अवस्कन्दयति' अर्थात् आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयोंके साथ-साथ गायन-वादन-नर्तन आदि सभी विद्याओंके प्रयोक्ता भी भगवान् शंकर ही हैं। इसीलिये उन्हें 'विद्यातीर्थ महेश्वरम्' भी कहा गया है। और समस्त विद्याओंकी प्राप्तिके लिये भगवान् शंकरकी उपासना करनेका निर्देश भी शास्त्रोंमें प्राप्त होता है—

'विद्याकामस्तु गिरिशम्' (श्रीमद्भा० २।३।७)

शिवपुराणकी कुछ उपयोगी बातें

अविमुक्तक्षेत्र काशी—शिवपुराणके सनत्कुमार-संहिताके पैंतीसवें अध्यायमें कहा गया है—

अविमुक्ते स्थितो देवो रुद्रावासे तु ईश्वरः ।

प्राणास्तु रुद्रा विज्ञेया अविमुक्तं परं स्मृतम् ।

तस्मिन् स्थाने वसेद्देवो रुद्रावासेऽपि चोच्यते ॥

ईश्वर महादेव रुद्रावासमें स्थित होकर अविमुक्त क्षेत्र (काशी) में रहते हैं, सब प्राण रुद्रमें स्थित हैं, परम शरीर (कारणोपाधि) अविमुक्त काशी क्षेत्र है। उस स्थानमें श्रीमहादेवके रहनेको 'रुद्रावास' कहते हैं।

पञ्चप्राणाग्निहोत्र—मनुस्मृतिका कथन है कि भोजनके पूर्व घृतयुक्त अन्नके पाँच ग्रास पञ्चप्राणोंको उन-उनके नाममें 'स्वाहा' लगाकर, दाँतोंको स्पर्श न कराते हुए मुखमें दे, यह आभ्यन्तरिक प्राणाग्निहोत्र है। शिवपुराणकी सनत्कुमार-संहिताके उनतालीसवें अध्यायमें लिखा है कि इस पञ्चप्राणा-ग्निहोत्रसे सब देवता, चतुर्वेद, ओषधि, वनस्पति, चन्द्र, वायु, स्थावर, जङ्गम, ऋषि, पितर, विष्णु, दोनों अश्विनीकुमार, वरुण, यम, प्रजापति, कुबेर, रुद्र, शिव, नन्दिकेश्वर, उमा, ब्रह्मा, इन्द्र, प्राण, नक्षत्र, सप्तद्वीप, सप्तलोक, यक्ष, राक्षस

आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और पृथिवी तृप्त होते हैं। इससे सिद्ध है कि इस प्राणाग्निहोत्रसे श्रीशिवकी तुष्टि होती है।

काम-दहन—आरोग्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका मूलकारण काम-दहन अर्थात् ब्रह्मचर्य-पालन या जननेन्द्रिय-निग्रह है। यह कामोपभोगकी प्रवृत्ति बड़ी ही प्रबल है, काम बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको भी क्षुभित कर देता है। गीतामें भी कामकी प्रबलताका प्रमाण मिलता है। इसका पूर्ण निग्रह श्रीशिवके तृतीय नेत्र खुलनेसे ही होता है। यह शिवका तृतीय नेत्र सभी मनुष्योंके अभ्यन्तरमें अप्रकट और सुप्तरूपमें स्थित है। कामका पूर्णरूपसे निग्रह करनेके लिये इस तृतीय नेत्रका विकास कर उसे जाग्रत् करना होगा। अपनेको शरीर, प्राण, मन, चित्त, अहंकार और बुद्धि आदि न मानकर, इनसे परे जो शुद्ध चैतन्य है, उसीको अपना असली रूप जान उसमें नित्य स्थित रहना ही तृतीय नेत्रको खोलना है। इस ज्ञान-चक्षुके उदय होनेपर काम, जो कि प्रकृतिका एक गुण है, आप ही शान्त हो जायगा। क्योंकि प्रकृतिका प्रभाव शुद्ध चैतन्यपर नहीं पड़ सकता। गीता (३।४३) में भी लिखा है कि अपनेको सबसे श्रेष्ठ आत्मा मानकर कामका दमन करे। ऐसी आत्म-

भावनाका दीर्घकालतक मनन करनेसे और व्यवहारमें भी इसी भावनाका स्मरण रखकर तदनुसार आचरण करनेसे दिव्य ज्ञान-चक्षुका विकास होता है। जो कोई इस दिव्य ज्ञान-चक्षुद्वारा सर्वत्र अखण्ड, एकरस महाचैतन्यको अपनेमें और दूसरोंमें परिपूर्ण देखेगा वही कामपर विजय प्राप्त कर सकेगा। चैतन्यके प्रकाशके सामने जड प्रकृतिका तम ठहर नहीं सकता। संतानके हेतुसे ऋतुकालमें स्वस्त्री-समागम गृहस्थके लिये ब्रह्मचर्यके विरुद्ध नहीं है।

शिवधर्म—पाँच प्रकारके शिवधर्म हैं—(१) तप, (२) कर्म, (३) जप, (४) ध्यान और (५) ज्ञान। 'तपः कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेति समासतः' (शिवपुराण—वायवीयसंहिता—उत्तरार्ध, अ० ८।३७)। सात्त्विक आहार, उपवास, ब्रह्मचर्य आदिसे शरीरकी शुद्धि शारीरिक तपस्या है। इष्टका कीर्तन, पूजन, अर्चन आदि कर्म है तथा एकाग्रचित्त और प्रेमसे अखण्ड शिव-नामोंका स्मरण जप है। मनको सब विषयोंसे हटाकर शिवरूपमें संलग्न करना ध्यान है और तत्त्वज्ञानके अनुसार आचरण करना ज्ञान है।

यथार्थमें साकार मूर्तिका चिन्तन ही ध्यान है, निराकारका चिन्तन ध्यान नहीं है। 'ध्यानं मद्रूपचिन्ताद्यं नात्माद्यर्थ-समाधयः।'।

शिवपुराण—वायवीयसंहिताके उत्तरार्धमें शिवके ध्यानस्वरूपका वर्णन इस प्रकार है—

अङ्गुष्ठमात्रममलं दीप्यमानं समन्ततः ।

शुद्धदीपशिखाकारं स्वशक्त्या पूर्णमण्डितम् ॥

इन्दुरेखासमाकारं तारारूपमथापि वा ।

नीवारशूकसदृशं बिससूत्राभमेव वा ।

कदम्बगोलकाकारतुषारकणिकोपमम् ॥

(अ० २९।१४२-१४३)

'अङ्गुष्ठमात्र-परिमित, निर्मल, सम्पूर्णरूपसे देदीप्यमान, विशुद्ध दीप-शिखाकी भाँति उज्ज्वल, स्वशक्तिपूर्ण, चन्द्र-कलाके समान अथवा नक्षत्ररूप, नीवारशूक (धानकी बाल)-के समान, मृणालसूत्रके आकारमें, कदम्ब-पुष्पके समान गोलाकृति अथवा हिम-कणके समान शिवका ध्यान करना चाहिये।'।

बिना स्थूल मूर्तिके ध्यानके चित्तकी एकाग्रता हो नहीं सकती, वह मूर्ति भी चित्ताकर्षक और अभिमत^१ होनी चाहिये।

'स्थित्यर्थ मनसः केचित् स्थूलध्यानं प्रकुर्वते'

(शिवपु०, वा० सं०)

अहंता-ममताका त्याग मोक्षका मुख्य उपाय है—इस विषयमें शिवपुराण-धर्मसंहितामें शिवके वचन इस प्रकार हैं—

देहेऽस्मिन्नहमित्येकः पृथक् चिन्त्यः सदा बुधैः ।

एवं ज्ञात्वा चरंल्लोके मुच्यते भवबन्धनात् ॥

ममेति परमं दुःखं न ममेति परं सुखम् ।

द्वाविमौ भवमोक्षाणां न ममेति ममेति च ॥

यस्य नास्त्यात्मनो देहस्तस्य दारादिकं कथम् ।

गृहक्षेत्रादिकं तद्वदेवं बद्धो न मुच्यते ॥

एष पाशुपतो योगः समासात् कथितो मया ।

विद्वान् पुरुष अपनेको देहसे पृथक् आत्मा जानकर विचरण करे, इससे वह भव-बन्धनसे छूट जायगा। 'मेरा' ही परम दुःख है और 'मेरा नहीं' परम सुख। 'मेरा' संसार है और 'मेरा नहीं' मोक्ष। जिसकी अपने शरीरमें ही अहंता (अपनापन) नहीं होती, वह स्त्री-पुत्र-घर आदिको कैसे अपना मान सकता है? जबतक घर-द्वार आदि है, तबतक पुरुष बद्ध ही है, मुक्त नहीं। यही पाशुपतयोग है जिसको संक्षेपमें बतलाया गया है।

शिवपूजासे सृष्टिकी पुष्टि

जैसे वृक्षके मूल-सेचनसे उसकी शाखा आदिकी पुष्टि होती है, इसी प्रकार शिव-पूजासे संसाररूप शरीरकी पुष्टि होती है—

वृक्षमूलस्य सेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा ।

शिवस्य पूजया तद्वत् पुष्यत्यस्य वपुर्जगत् ॥

सर्वाभयप्रदानं च सर्वानुग्रहणं तथा ।

सर्वोपकारकरणं शिवस्याराधनं विदुः ॥

दीक्षा-गुरु—किसी दीक्षा-गुरुसे मन्त्र लेनेसे सफलता होती है, अन्यथा फलमें कुछ न्यूनता रह जाती है।

'दीक्षायुक्तं गुरोर्ग्राह्यं मन्त्रं ह्यथ फलाप्तये'—मन्त्र

१-यथाभिमतध्यानाद्वा—योगसूत्र।

गुरुसे मिलनेपर ही फलप्रद होता है। दीक्षा-गुरुके लक्षणके विषयमें शिवपुराणमें यह वचन है कि 'ब्राह्मणः सत्यपूतात्मा गुरुज्ञानी विशिष्यते'—सत्यवादी पवित्र ज्ञानी ब्राह्मण ही गुरु बनानेके लिये प्रशस्त माना गया है।

उपगम्य गुरुं विप्रमाचार्यं तत्त्ववेदिनम् ।

जापिनं सदगुणोपेतं ध्यानयोगपरायणम् ॥

सर्वशास्त्रोंमें पारंगत, तत्त्वको जाननेवाले, जप करनेवाले, सदगुण-सम्पन्न और ध्यानयोगमें निपुण ब्राह्मण आचार्यके पास जाकर शिवदीक्षा लेनी चाहिये। जो ब्राह्मण सर्वलक्षण-सम्पन्न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे रहित हो, जिसके दर्शनसे

आनन्द न मिले और जिसके स्पर्शसे ज्ञान न होता हो उसे कदापि गुरु न बनाना चाहिये—

सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वशास्त्रविदप्ययम् ।

सर्वोपायविधिज्ञोऽपि तत्त्वहीनस्तु निष्फलः ॥

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्र प्रवर्तते ।

तस्यावलोकनाद्यैश्च परानन्दोऽभिजायते ॥

तस्माद्यस्यैव सम्पर्कात् प्रबोधानन्दसम्भवः ।

गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान् नरः ॥

(शिवपुराण, वि० सं०, अ० १३।४३—४५)

शिव-शक्तिका घर विन्दुनाद है

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)

कृष्णयजुर्वेदीय योगशिखोपनिषद्में एक श्लोक है—

विन्दुनादमहालिङ्गं शिवशक्तिनिकेतनम् ॥

देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ।

(अध्याय १, श्लोक १६७-१६८)

अर्थात् शिव-शक्तिका निवासभूत विन्दुनादमय लिङ्ग ही वास्तविक लिङ्ग है, जिसका निवासस्थान यह शरीर ही शिवालय कहा गया है, जिससे समस्त प्राणियोंको परमात्म-प्राप्ति-स्वरूप यथार्थ सिद्धि प्राप्त होती है।

विन्दु क्या है ? और नादकी प्राप्ति कहाँ होगी ? इसका विवरण ध्यानविन्दूपनिषद्में इस प्रकार आया है—

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम् ।

सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥

अर्थात् परम विन्दु ही बीजाक्षर है, उसके ऊपर नाद अवस्थित है। नाद जब अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) में लय हो जाता है तो वह निःशब्द परमपद कहलाता है।

किसी भी अक्षरको लिखनेके पहले जैसे ही कागजपर कलम या पेंसिल रखते हैं तो सर्वप्रथम विन्दु बनता है, तभी अक्षर लिखा जाता है। चाहे वह अक्षर किसी भी भाषाका क्यों न हो। अक्षर ही क्यों, किसी प्रकारका चित्र या आकृति बनानेके पहले भी विन्दु बनेगा, तभी आकृति बन सकेगी। इसीलिये सभी अक्षरोंका बीज विन्दुको कहा गया है।

विन्दु-ध्यानकी बड़ी महिमा है। उपनिषद्में आया है—

तेजो विन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम् ।

अर्थात् हृदयस्थित विश्वात्मतेजस् विन्दुका ध्यान परम ध्यान है। विन्दु-ध्यानसे साधक ब्रह्मप्रकाशके मण्डलमें गमन करते हैं, जहाँ साधकको दूरदर्शनकी शक्ति प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने रामचरितमानसके उत्तर-काण्डमें लिखा है—जिनके हृदयमें ब्रह्मप्रकाश होता है, उनके हृदयसे अविद्या, पाप, काम-क्रोधादि षट् विकार आदिका नाश हो जाता है और ज्ञान-विज्ञान, सुख, संतोष, विराग एवं विवेकको प्राप्त कर वे शोकरहित हो जाते हैं। यथा—

जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥

पूरि प्रकास रहेउ तिहूँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका ॥

जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अबिद्या निसा नसानी ॥

अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥

× × ×

मत्सर मान मोह मद घोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहूँ ओरा ॥

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना ॥

सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका ॥

यह प्रताप रबि जाकें उर जब करइ प्रकास।

पछिले बाढ़हि प्रथम जे कहे ते पावहि नास ॥

इसके सम्बन्धमें भक्तप्रवर सूरदासजी महाराजने भी बड़ा

अच्छ कहा है—

नैन नासिका अग्र है, वहाँ ब्रह्मको वास।

अबिनासी बिनसै नहि, हो सहज ज्योति परकास ॥

अतिशय ध्यानाभ्याससे तेजोमय विन्दुकी प्राप्ति होती है, उस विन्दुपर नाद स्वाभाविक ही स्थित है। उपनिषदोंमें इसका विस्तारसे विवेचन तो है ही, संतवाणियोंमें भी इसकी भरपूर चर्चा मिलती है। संत पलटू साहबकी वाणीमें आया है—
'विन्दु में तहाँ नाद बोले, रैन दिवस सुहावन।' और 'विन्दु में नादका मेला, उलटिके खेला यह खेला।'

विन्दुपर नाद-ग्रहण होता है, इस विषयमें हमारे परमाराध्य गुरुदेव भी कहते हैं—

युग दृष्टिकी एक तीक्ष्ण नोकसे चीर तेजस बिन्दु।

सुनो अंदर नाद ही, लखो सूर्य तारे इन्दु ॥

(में ही पदावली)

विन्दु-ध्यान करनेवाले साधक स्थूल मण्डलके केन्द्रपर पहुँचते हैं। वहाँ जो शब्द मिलता है, वह सूक्ष्म मण्डलका केन्द्रीय शब्द है। उस शब्दके सहारे सूक्ष्म मण्डलके केन्द्रपर कारण-मण्डलका केन्द्रीय शब्द ग्रहण करते हैं। कारण-मण्डलके केन्द्रपर महाकारण-मण्डलके केन्द्रीय नादको प्राप्त करते हैं। महाकारण-मण्डलके केन्द्रपर कैवल्य मण्डलके केन्द्रीय शब्दको ग्रहण करते हैं। कैवल्य-मण्डलका केन्द्रीय शब्द ही सार शब्द ब्रह्मनाद ओम्, उद्गीथ, स्फोट कहलाता है। इस शब्दके ग्रहण करनेवाले परम प्रभु परमात्मा सदाशिवतक पहुँचते हैं। जहाँ पहुँचनेपर आवागमनका चक्र सदाके लिये समाप्त हो जाता है। परमशान्ति तथा परमानन्द-प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट साधन यही विन्दु और नादकी उपासना है। इस उपासनाको ही पराभक्ति कहते हैं। संत सुन्दरदासजी महाराजने भी विन्दुनाद-साधनाको पराभक्ति कहा है। उनके वचनोंमें स्पष्ट वर्णन हुआ है कि ऐसी स्थितिमें बिना कानके अन्तर्ध्वनि सुनते हैं, बिना आँखके रूपको देखते हैं, बिना जिह्वाके उच्चारण होता है। बिना चरणके नृत्य करते हैं। बिना हाथके ताली बजती है, बिना अङ्गुली संग होता है और बिना सीसके ही सेव्यको प्रणाम करते हैं। इस तरहके आत्म-परमात्म-मिलनको पराभक्ति कहते हैं। यथा—

श्रवण बिना धुनि सुनै, नयन बिनु रूप निहारै।

रसना बिनु उच्चरै, प्रशंसा बहु विस्तारै ॥

नृत्य चरण बिनु करै, हस्त बिनु ताल बजावै।

अंग बिना मिलि संग, बहुत आनन्द बढ़ावै ॥

बिनु शीश नवै जहँ सेव्यको, सेवक भाव लिये रहै।

मिलि परमात्म सों आत्मा, परा भक्ति सुन्दर कहै ॥

नाद-उपासनाकी महत्ताका श्रीमदाद्य भगवान् शंकराचार्यजीने अपने ग्रन्थ योगतारावलिमें बहुत उत्तम ढंगसे वर्णन किया है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके।

नादानुसंधानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥

नादानुसंधान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।

भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।

नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥

अर्थात् योगशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिवजीने मनके लय होनेके सपादलक्ष (सवा लाख) साधन बतलाये हैं। उन सबमें नादानुसंधान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसंधान! आपको नमस्कार है, आप परमपदमें स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसादसे मेरा प्राणवायु और मन—ये दोनों विष्णुके परमपदमें लय हो जायँगे। योग-साम्राज्यमें स्थित होनेकी इच्छा हो तो सब चिन्ताओंको छोड़कर सावधान हो एकाग्रमनसे अनाहत नादोंको सुनो। इसीलिये योगशिखोपनिषद्के अध्याय ५ में विन्दुनादको ही भगवान् विष्णु और लक्ष्मीका भी मन्दिर कहा गया है—

विन्दुनादमहालिङ्गविष्णुलक्ष्मीनिकेतनम् ।

देहं विष्णुवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ॥

अर्थात् 'विन्दुनाद-रूप जो महालिङ्ग है, वही विष्णु और लक्ष्मीका घर है। इस देहको विष्णु-मन्दिर कहते हैं, सभी प्राणियोंको इसमें सिद्धि मिलती है।'।

विन्दु-नाद-साधनाकी सही जानकारी किसी अधिकारी सच्चे साधु-संतों अथवा साधकोंसे प्राप्त हो सकती है। अपने मनसे करनेवालेको प्रकारान्तर होनेपर लाभके बदले हानि भी हो सकती है।



राजपूतानेका गणगौरपूजन

(पं० श्रीझावरमलजी शर्मा)

देवादिदेव भगवान् शंकरकी अर्धाङ्गिनी भगवती पार्वतीकी पतिभक्ति अतुलनीय है। सावित्री और सीताजीने भी उमा—पार्वतीका ही पदानुसरण करना अपना ध्येय माना। वस्तुतः सनातन-सभ्यतामें जो कल्याणमय दाम्पत्य-प्रेम है, उसकी मन्दाकिनीका स्रोत 'शंकर-पार्वती' से ही आरम्भ होता है।

गर्वोन्मत्त दक्षद्वारा अपने पति सदाशिवका अपमान सती सहन न कर सकी और उसने—'तज्जन्म धिग् यन्महता-मवद्यकृत्'—उस जन्मको धिक्कार है, जिससे अपने आराध्यका अपमान होता है, इस भावनासे अपने शरीरको ही त्याग दिया, जो दक्षसे उत्पन्न हुआ था। सतीके आत्मत्यागके इस उज्ज्वल उदाहरणपर ही सती-प्रथाका जन्म हुआ और धर्मप्राण हिन्दू-जातिने इसको इतना अपनाया कि ब्राह्मणसे लेकर शूद्रपर्यन्त कोई भी ऐसा हिन्दू-परिवार न होगा जिसके कुलमें पतिपर आत्मोत्सर्ग करनेवाली सती न हुई हो और जिसकी पूजा उस कुलमें न होती हो।

सतीने ही पर्वतराज हिमालयके गृहमें जन्म धारणकर 'पार्वती' नाम पाया था। कविकुलगुरु कालिदासने अपनी अमर कृति कुमारसम्भवमें पार्वतीजीकी एकान्त-भक्तिका पवित्र और सुन्दर चित्र बड़ी निपुणताके साथ अङ्कित किया है।

देवर्षि नारदसे पार्वती सुन चुकी थी कि प्रेमबलसे एक दिन वह महादेवकी अर्धाङ्गिनी बनेगी, मृत्युको भी जीतनेवाले भूतनाथके हृदयको जीत लेनेमें समर्थ होगी। पार्वतीने अपने हृदयमें इस भावनाको अङ्कित कर लिया। इसके अनन्तर समय पाकर शंकरने समाधि लगायी और पार्वतीने पिताकी आज्ञासे शंकरको पतिरूपमें पानेकी कामनासे सेवा आरम्भ की।

पार्वतीकी सेवामें कामगन्धर्वजित विशुद्ध सेवा-भाव था और उस सेवामें पार्वतीजीने अपने-आपको सब तरहसे लगा दिया। दिनके बाद दिन, पक्ष, महीना, वर्ष और यों ही एक लम्बा समय बीत गया, किंतु चन्द्रशेखरकी पलकें नहीं खुलीं। अपनी समाधिमें ही वे संलग्न थे। उसी अवधिमें वहाँ इन्द्रादि देवोंकी योजनासे समाधि-भङ्ग करनेके लिये वसन्त और रतिसहित मदनका आगमन हुआ। यावच्छक्यबलोदय अपना

प्रभाव दिखाकर मदन भी परास्त किंवा हतमनोरथ ही नहीं, प्रत्युत शंकरके क्रोधानलसे भस्म हो गया।

पश्चात् पार्वतीने और भी कठिन तपस्याद्वारा भगवान् शंकरकी कृपा-लाभ करनेका निश्चय किया। महाकवि कालिदास कहते हैं—

उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा

पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम।

'माताके द्वारा बार-बार तपका निषेध किये जानेपर ही पार्वतीका उमा नाम हुआ।' अस्तु, पार्वतीने अपने संकल्पानुसार दृढ़ताके साथ एकनिष्ठ होकर तप आरम्भ कर दिया; क्योंकि उसने समझ लिया कि तपस्वीके हृदयको जीतनेके लिये तपस्याकी आवश्यकता है। गौरीकी कठिन तपस्याने सबको आश्चर्यचकित—स्तम्भित कर दिया। तपस्या कभी व्यर्थ नहीं जाती। उमाकी तपस्या सफल हुई। आशुतोष भगवान् शंकरका आसन हिला और उन्होंने प्रसन्न होकर पार्वतीकी आकाङ्क्षा पूर्ण की। भगवती उमा—पार्वतीको अपनी देहार्धभागिनी बनाया।

हिन्दू-शास्त्रोंमें सदाशिवकी जो सनातन-मूर्ति बतायी गयी है, उसमें शिव ध्यानमग्न—समाधि लगाये हुए आत्मचिन्तन कर रहे हैं। शंकरका आत्मचिन्तन क्या है, अपने रचे हुए विश्वका निरीक्षण। क्योंकि वे विश्वरूप हैं और विश्व उनका रूप है। अतएव विश्वका निरीक्षण शंकरका आत्मचिन्तन है। उनकी सहायक शक्ति पार्वती आत्मचिन्तननिरत सदाशिवकी सेवामें सावधान विराजमान है। शिवकी आज्ञासे उसने ही विश्वको प्रकृतिरूपसे रचा है। जैसे शंकरका पत्नीप्रेम आदर्श है, उसी प्रकार उमाकी पतिभक्ति आदर्श है।

दाम्पत्य-प्रेमके उच्च आदर्शकी शिक्षा देनेके लिये ही साम्ब शिवकी पूजाका विधान विशेषरूपसे किया गया है। भारतवर्षके अन्य प्रान्तोंके सम्बन्धमें तो मैं कह नहीं सकता, किंतु राजस्थानमें सोलहों आना उक्त विधानकी कार्यमें परिणति ईश्वर-गौरी (ईशर-गणगौर)के महोत्सवके रूपमें देखी जाती है। राजस्थानमें यह गौर-पूजा सौभाग्यवती स्त्रियों और कन्याओंका खास त्यौहार है। यहाँ कन्याओंके लिये

विवाह होते ही प्रथम चैत्रमासमें एक-दो दिन नहीं, पूरे पंद्रह दिनतक 'गणगौरि'-पूजा करना अवश्य पालनीय कर्तव्य समझा जाता है। होलिका-दहनके पश्चात् चैत्रारम्भ होते ही तालाबसे मिट्टी लाकर ईश्वर और गौरीकी मूर्तियाँ बनायी जाती हैं, जिनको सौभाग्यकी कामनासे विवाहिता और योग्य वर पानेकी इच्छासे कुमारी कन्याएँ श्रद्धाके साथ प्रतिदिन लगातार पूजती हैं। पूजाके लिये हरी दूर्वा, पुष्प और जल लानेको अपनी-अपनी टोली बनाकर लड़कियाँ प्रातःकाल सुमधुर गीत गाती हुई निकलती हैं। प्रत्येक विवाहिता लड़की अपने 'व्यावलेवर्ष' (विवाहवाले वर्ष) की गण-गौरि अपनी छः, आठ या दस संख्यक अन्य अविवाहिता साथिनोंको वरणपूर्वक साथ लेकर पूजती हैं। सौभाग्यवती उस विवाहिता लड़कीको मिलाकर उस तुङ्गकी लड़कियोंकी संख्या सात, नौ या ग्यारह तक हो सकती है। यह क्रम चैत्रकृष्णा प्रतिपदासे आरम्भ कर शुक्ला तृतीयातक रहता है। चैत्रशुक्ला तृतीयाको प्रातःकालकी पूजाके बाद मध्याह्नोत्तर (शुभ वार हुआ तो उसी दिन, नहीं तो दूसरे दिन) तालाबमें और जहाँ तालाब न हो वहाँ कूँएँमें, ससमारोह मङ्गल-गानके साथ प्रतिमाविसर्जन किया जाता है। 'गणगौरि' की बिदा अथवा प्रतिमाविसर्जनका दृश्य देखने ही योग्य होता है। इसमें लड़कियाँ और स्त्रियाँ सभी सुसज्जित वस्त्र और आभूषण-धारणपूर्वक भाग लेती हैं। उनकी सम्मिलित कण्ठध्वनिके सामयिक गीत बड़े सुहावने और चित्ताकर्षक होते हैं। 'ईश्वर-गौरि'की वे ही मूर्तियाँ जलमें पधरायी जाती हैं जो पंद्रह दिनतक पूजनके लिये मृत्तिकाकी बनायी जाती हैं। राजघरानोंकी ओरसे 'ईश्वर और गौरी' की जो सवारी निकलती है वह यथास्थान सरोवर या तालाबके किनारे पहुँचकर 'राग-रंग' होनेके बाद राजप्रासादको रौंटा आती है। ये मूर्तियाँ (ईश्वर और गौरीकी) कदमें आठ-दस वर्षके बालक-बालिकाके समान बनी हुई होती हैं। गौरीको अधिक-से-अधिक सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित किया जाता है। ईश्वरको ढाल-तलवार धारण कराकर वीर-वेश बना दिया जाता है। 'ईश्वर-गौरी' अथवा राजस्थानी भाषामें "गण-गौरि"की सवारीमें राज्यके राजा किंवा ठिकानोंके सरदार अपने दरबारियों, राजकीय अधिकारियों और पूरे लवाजमेके साथ सम्मिलित होते हैं। गाजे-बाजेके कारण

क्षत्रिय नरेशोंकी राजधानियोंमें 'गणगौरी' की सवारीके दृश्यका बनाव विशेष दर्शनीय बन जाता है। स्थानीय लोगोंके साथ आस-पासके स्थानोंकी जनता भी बड़ी संख्यामें एकत्र हो जाया करती है। क्षत्रिय नरेशोंकी राजधानियोंमें बूँदीके अतिरिक्त और सभी जगह 'गण-गौरि' की सवारी उत्साहके साथ निकाली जाती है। कितने ही स्थानोंमें मेले लगते हैं और उत्सव तीन-चार दिनोंतक मनाया जाता है।

स्त्रियोंके 'गण-गौरि' त्यौहारके गीत भी राजस्थानमें अपनी विशेषता रखते हैं। उनमें भगवती गौरीकी प्रार्थनाके साथ समयोचित वासन्तिक प्रेमानुराग भी कूट-कूटकर भरा हुआ है। गीतोंमें गौरीके 'हिमाचलकन्या' होनेका स्पष्ट वर्णन है। गौरीकी प्रार्थनाके नमूने देखिये—

गौरि ए गौरि माता ! खोल किंवारी,
बाहर ऊबी थारी पूजन वाळी ।
पूजो ए पूजाओ बाई, काईजी ! मागो ?
अन्न माँगाँ, धन माँगाँ, लाछ माँगाँ, लछमी ॥
जलहर जामी बाबळ माँगाँ रातादेई माई ।
कान कुँवरसो बीरो माँगाँ राईसी भौजाई
ऊँटचढ्यो बहणेई माँगाँ चुड़लावाली बहणल ॥
इत्यादि ।

गौरि ! तिहारेड़ा देसमें जी ! चोखीसी मेंहदी होय,
सो म्हे त्यायी थी पूजतां जी ! सो म्हारै अबिचळ होय ।
गौरि ! तिहारेड़ा देसमें जी ! चोखो-सो काजळ होय,
चोखो-सो गहणू होय चोखो-सो कपड़ो होय,
सो म्हे पहर्यो थो पूजतां जी ! सो म्हारै अबिचळ होय ।
इत्यादि ।

इस 'गण-गौरि'-महोत्सवको बहुत-से लोग केवल राजस्थानका लौकिक त्यौहार समझते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस उत्सवके मनानेका प्रकार लौकिकतासे खाली नहीं है, परंतु इसके मूलमें शास्त्रीयताकी छाप लगी हुई है। निर्णयसिन्धुका वचन है—

चैत्रशुक्लतृतीयायां गौरीमीश्वरसंयुताम् ।
सम्पूज्य दोलोत्सवं कुर्यात् ॥

देवीपुराणमें लिखा है—

तृतीयायां यजेद्देवीं शंकरेण समन्विताम् ।

कुङ्कुमागरुक्पूर्वमणिवस्त्रसुगन्धकैः ॥

स्नगन्धधूपदीपैश्च नमनेन विशेषतः ।

आन्दोलयेत् ततो वत्सं शिवोमातुष्टये सदा ॥

इन वचनोंका अर्थ स्पष्ट है। चैत्रशुक्ला तृतीया

‘गण-गौरि’ पूजाका निर्दिष्ट दिन है। उसमें सौभाग्य-तृतीयाका

महत्त्व भी समाया हुआ है।

शिवोपासना और सांसारिक कार्य

(श्रीराजेन्द्रबिहारीलालजी)

शंकर भगवान्के अनेक रूप हैं। वे विरक्त हैं और गृहस्थ भी हैं। वे योगी हैं और संसारी भी हैं। वे तपस्यामें निमग्न हैं तो विश्वकी सेवामें भी तत्पर हैं। समुद्र-मन्थन करनेसे जब हलाहल विष निकला, तब सभी देवता और दानव घबरा गये और सुरक्षाके लिये शिवजीकी शरणमें गये। सबका संकट हर लेनेके लिये शिवजीने विषको पी लिया और उस समय यह उद्गार व्यक्त किये—समुद्र-मन्थनसे निकले हुए कालकूट विषके कारण प्रजापर कितना दुःख आ पड़ा है। इस समय मेरा यह कर्तव्य है कि मैं इन्हें निर्भय कर दूँ। जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है उनके जीवनकी सफलता इसीमें है कि वे दीन-दुखियोंकी रक्षा करें। सज्जन पुरुष अपने क्षणभङ्गुर प्राणोंकी बलि देकर भी दूसरे प्राणियोंकी रक्षा करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें इस प्रसंगमें जोर देकर कहा गया है कि ‘परोपकारी सज्जन प्रायः प्रजाका क्लेश निवारण करनेके लिये स्वयं दुःख झेला ही करते हैं। वास्तवमें यही सर्वहृदयवासी परमेश्वरकी सच्ची आराधना है।’

भगवान् शिवने विश्वकल्याणके लिये और देवताओंके विशेष आग्रहपर पार्वतीजीसे विवाह किया। रामावतारके समय वे जनहितके निमित्त हनुमान्के रूपमें अवतीर्ण हुए और उन्होंने दुष्टोंके दमन तथा सुराष्ट्रकी संस्थापनाके दुष्कर कार्यमें भगवान् रामकी सहायता की। हनुमान्जीने जन-कल्याणके निमित्त बड़े-बड़े कार्य किये और यही उनकी अद्भुत लोक-प्रियताका मूल कारण है।

यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है कि ईश्वरकी इच्छा और शास्त्रोंके आदेशोंके विरुद्ध हमने संसार, मानव-शरीर और सांसारिक कार्योंका अवमूल्यन कर रखा है। उन्हें हम आध्यात्मिक विकासमें आवश्यक और सहायक नहीं अपितु बाधक मानते हैं। हम यह नहीं समझ रहे हैं कि जो मनुष्य

सृष्टिसे घृणा करता है, वह वास्तवमें सृष्टिके रचयिता और स्वामीसे भी घृणा करता है, जिसके कारण धर्मका कोई आधार ही नहीं रह जाता। इसीका परिणाम है कि हमलोग सैकड़ों वर्षतक पराधीन रहे और आजादी पा जानेके लंबे समयके बाद भी भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, आलस्य, वैर और फूट-जैसी बीमारियोंके शिकार बने हुए हैं। यदि हम अपनी और देशकी उन्नति चाहते हैं तो हमें संसार और सांसारिक कार्योंके महत्त्वको ठीक-ठीक समझना ही होगा।

वेदान्तका डिंडिमघोष है कि सब कुछ ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ है ही नहीं, संसार भगवान्की रचना, अभिव्यक्ति किंवा मन्दिर-रूप है एवं भगवान्से ओतप्रोत है। हम सब भगवान्के विराट् स्वरूपके अंश हैं। हमें सर्वत्र भगवान्के दर्शन करने चाहिये और प्रेम तथा आदरसहित सबकी सेवा करनी चाहिये। लोकसंग्रहके सभी काम जीते-जागते परमेश्वरकी पूजा ही है।

दूसरी ओर देखिये तो भगवान्का स्वरूप होते हुए भी संसार अपूर्ण और दोषयुक्त है। इसमें अभाव, विकार, झूठ-कपट, जरा और मृत्यु है। इसलिये आजकलका अधिकांश धर्मप्रचार यही सिखाता है कि जगत् मिथ्या, निःसार, मायाजाल, प्रलोभनों और पापोंका घर है, परमेश्वरसे दूर और अलग करनेवाला है। अतएव यदि भगवान्से मिलना है तो संसार और सांसारिक कार्योंको तिलाञ्जलि देनी होगी और अधिक-से-अधिक समय धार्मिक कार्योंमें लगाना होगा।

प्रायः सभी धर्म यह सिखाते हैं कि प्रार्थना और उपासना-जैसे धार्मिक काम ही धर्मका सार-सर्वस्व है, भगवन्मय जीवन बनाना एक महत्त्वपूर्ण बात है। पर साथ ही सांसारिक कार्य वास्तवमें भगवान्के साम्राज्यकी सेवा है, विश्वरूपी परमात्माकी आराधना है। सबसे अद्भुत बात यह

है कि सदाचार, सेवा और परोपकार ही धार्मिक कार्योको सात्त्विक अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें सहायक बनाते हैं।

मुण्डकोपनिषद्का एक प्रसिद्ध वाक्य है कि 'परमेश्वर उसीको प्राप्त होता है जिसे वह वरण करता है, जिसपर वह प्रसन्न होता है। परमात्मा न तो प्रवचन करनेसे, न सुननेसे, न बुद्धिसे प्राप्त हो सकता है। वह तो उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसे वह स्वीकार कर लेता है। उसके लिये परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देता है'। तुलसीदासजीकी भी यही सीख है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहि भगत भगत उर चंदन ॥

जब परमात्मा उसीको प्राप्त होते हैं, जिसपर वह प्रसन्न होते हैं तो प्रश्न यह उठता है कि वे किसपर प्रसन्न होते हैं और कृपा करते हैं? इसका उत्तर गीतामें बड़े स्पष्ट शब्दोंमें दिया है, जिनमेंसे कुछका भाव यहाँ दिया जाता है—

'मुझे वही भक्त प्रिय है जो किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, जो सबका मित्र, सबपर दयालु, क्षमावान्, बुद्धिमान् और कार्यकुशल है, सतत योगी है, सब कर्मोंके फलका त्यागी है, जिससे कोई भी जीव उद्विग्न नहीं होता, जो स्वयं भी किसीसे उद्विग्न नहीं होता।' सारांश यह है कि परमात्मा उन्हीं भक्तोंसे प्रसन्न होते हैं, जो सदाचारी और परोपकारी हैं और परमात्माके विश्वरूपकी सेवा बड़े प्रेम और उत्साहसे करते हैं। पूजा, सेवा, सदाचारसे भक्त भगवान्का प्यारा और मोक्षका अधिकारी बनता है।

'सूक्ष्म बुद्धिद्वारा भी उस परमात्माको न तो बुरे आचरणोंवाला, न अशान्त, न असंयमी मनुष्य प्राप्त कर सकता है।' (कठ० १।२।२४)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्का कहना है—

'वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण हुए एवं दूसरोंकी निन्दा करनेवाले आसुरी स्वभाववाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले हैं। ऐसे उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मों नराधमोंको मैं संसारमें बारम्बार आसुरी-योनियोंमें गिराता हूँ।' (गीता १६।१८-१९)

मानव-जीवन मुख्यतः दो प्रकारके कामोंपर निर्भर है—धार्मिक, जैसे ध्यान, पूजा, जप और लौकिक कार्य, जो जीवन-निर्वाहके लिये आवश्यक हैं।

गीताका उपदेश है—'कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा जीवन-निर्वाह भी न हो सकेगा।' (३।८) 'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इसलिये तथा लोकसंग्रहके उद्देश्यसे तू भी कर्म कर (३।२०)।' 'कर्ममें आसक्त होकर अज्ञानीजन जिस प्रकार (उत्साहसे) कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त होकर विद्वान्को लोककल्याणके लिये कर्म करना चाहिये (३।२५)।' 'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिरहित होकर कर्तव्य कर्मका भलीभाँति आचरण करता रह, क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करता हुआ मनुष्य ही परमात्माको प्राप्त होता है (३।१९)।' इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि लौकिक कर्तव्योंका पालन जीवनका निर्वाह और विकास तो करता ही है, साथ-साथ मुक्ति दिलानेमें भी पूर्ण समर्थ है।

जीवन-निर्वाहके लिये मनुष्यको भाँति-भाँतिकी वस्तुओं और सेवाओंकी आवश्यकता होती है। इसलिये उनका पूरा करना परमात्मा और उसके विराट् स्वरूपकी सेवा है। इन आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये अनेक व्यवसाय हैं, जो सभी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं। गीतामें चारों वर्णोंके प्रमुख व्यावसायिक कर्तव्योंका उल्लेख करनेके बाद भगवान् कृष्णने यह आश्वासन दिया है कि अपने-अपने कर्तव्योंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि अपने कर्तव्योंद्वारा वह उस परमेश्वरकी पूजा करता है, जिससे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है (१८।४५-४६)।

गीतामें नित्ययोग या सतत योगकी बात कही गयी है। ऐसा योग संतोषजनक नहीं, जिसमें साधक थोड़ी देर तो भगवान्से सम्पर्क करे और बाकी समय आलस्य, लापरवाही या दुष्कर्मके कारण उनसे दूर या विमुख रहे। इसलिये गीता बारम्बार योगको पूर्णकालिक और सर्वतोमुखी बनानेका आदेश देती है। अल्पकालिक योगकी तरह एकाङ्गी—केवल मनको भगवान्में लगानेवाला—योग भी काफी नहीं।

१-यमेवैष वृणुते तेन लब्धस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ॥ (मुं ३।२।३)

पूर्णयोग तभी स्थापित हो सकता है, जब हर जगह, हर समय, हर परिस्थितिमें तथा व्यक्तित्वके सभी अङ्गों—जैसे बुद्धि, कर्मेन्द्रियों एवं भावनाको परमेश्वरसे जोड़ दिया जाय, अर्थात् उसके प्रिय कामोंमें लगा दिया जाय।

नित्ययोगका आधार यह है कि शास्त्र-मर्यादित लौकिक कार्य भी उपासनाके समान परमात्माकी पूजा है और उपासनाके समान ही फल देनेवाला है। यह बात समझमें भी आती है, क्योंकि सृष्टि भगवान्‌हीकी रचना, मन्दिर और साम्राज्य है। हम सब इस साम्राज्यके नागरिक और कर्मचारी हैं। इसलिये भगवान्‌का प्रेमपात्र बननेके लिये सबसे सहज और उत्तम मार्ग यह प्रतीत होता है कि साधक अपने सभी कर्तव्योंको भगवान्‌का काम समझे और उनका पालन पूरे उत्साह और कुशलतासे करे। इसके विपरीत लोकसंग्रह, सेवा या पेशेके कामोंमें ढिलाई, हेराफेरी, कामचोरी या बेपरवाही करना पाप है, अधर्म है, मोक्ष-प्राप्तिमें बाधक है, क्योंकि कार्यमें कुशलता योगकी एक शर्त है।

लौकिक कार्य भी तप है और भगवत्प्राप्ति करानेमें समर्थ है। मनुस्मृतिका कहना है—‘तपसे मनुष्य समस्त सुख प्राप्त कर लेता है। ब्राह्मणका तप विद्या है, क्षत्रियका तप है जनताकी रक्षा करना, वैश्यका व्यापार तथा वाणिज्य और शूद्रका सेवा। तपद्वारा हर प्रकारकी विद्या, चिकित्सा-ज्ञान, कला आदि मिल जाती है। कोई भी कठिन कार्य तपद्वारा सिद्ध किया जा सकता है। तपस्याद्वारा बड़े-बड़े पापी और अपराधी भी पाप-मुक्त हो जाते हैं। (मनुस्मृति ११।२३४ से २३९)

शासकके लिये तो मनुस्मृतिका बिलकुल स्पष्ट आदेश है—‘राजा या गणपतिको हर समय राज्यके कार्योंमें लगा रहना चाहिये। शासकका प्रमुख कर्तव्य है निशि-वासर राजकाजमें तल्लीन रहना और कहीं कोई गड़बड़ी न होने देना। यही उसकी पूजा है और यही उसके लिये योग है।’

सामान्य धारणा यह है कि धार्मिक कार्य सदा सात्त्विक, पुनीत और पावन होते हैं। किंतु वास्तविकता यह है कि लौकिक कार्योंकी भाँति धार्मिक कार्य भी सात्त्विक, राजसिक या तामसिक हो सकते हैं।

गीताने तीन प्रकारकी श्रद्धाको तपकी परिभाषामें शामिल करनेके बाद सारी तपस्याको तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया

है। यह तीन प्रकारका तप जब निष्काम-भावसे (अर्थात् दूसरोंकी भलाईके लिये) किया जाता है तो सात्त्विक होता है। जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डहीसे किया जाता है वह राजस कहलाता है और जो तप मूढ़तापूर्वक, हठसे, स्वयंको कष्ट देकर या दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस होता है (१७।१४-१९)। अध्यात्मरामायण और भागवतने ऐसा ही वर्गीकरण भक्तोंका किया है। जीवनकी गुत्थियोंको सुलझानेके लिये पूजा और सेवा, अर्थात् धार्मिक और सांसारिक कार्यके परस्पर सम्बन्धों और प्रत्येकके योगदानको ठीक-ठीक समझ लेना बहुत जरूरी है। निष्कर्ष यह है कि विधिपूर्वक सांसारिक कर्तव्योंके पालनसे जीवन चलता है, मुक्ति मिल सकती है और तपस्या सात्त्विक बन जाती है। इसके अतिरिक्त गीताके एक महावाक्य (१२।१२) में कहा गया है कि कर्मफल-त्याग ध्यानसे भी श्रेष्ठ है और तत्काल परम शान्ति देता है। इसका यह आशय नहीं कि ध्यान या पूजाको छोड़ दिया जाय और केवल कर्मफल-त्यागका आश्रय लिया जाय। इसका मतलब यह है कि कर्मफल-त्याग समस्त साधनाका अन्तिम चरण है। पूजा, सेवा आदि सभी शुभ कर्मके फलस्वरूप जो कुछ प्राप्त हो उसे निर्मल हृदयसे जनता-जनार्दनकी सेवामें लगाकर साधक अपनी साधनाको पूरा कर सकता है और अपना कल्याण कर सकता है। गीताका यही सार है कि सत्कार्येंकि पुण्य-फलको भी निरन्तर सत्कार्यमें लगाते रहना चाहिये और सत्कार्येंकि इस क्रमको जीवनपर्यन्त जारी रखना चाहिये।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक आयन्स्टाइनका कथन है कि ‘मनुष्य यहाँ (संसारमें) समस्त प्राणियोंके उपकारके लिये ही आया है।’

स्वामी रामतीर्थका भी कथन था—‘जैसे एक शैव शिवकी, वैष्णव विष्णुकी, बौद्ध बुद्धकी आराधना करता है, वैसे ही विश्वके समस्त प्राणियोंको परमात्माका अंश समझकर उनकी उपासना करो।’

स्वामी विवेकानन्दकी भी यही शिक्षा है—‘वह प्रत्येक प्राणीमें स्थित है। जो सब प्राणियोंकी सेवा करता है, वही ईश्वरकी सच्ची आराधना करता है। प्रमुख उपासना विराट्

रूपकी है जो हमारे चारों ओर है..... पशु और मानव सभी प्राणी हमारे देव हैं। जिनकी आराधना हमें सर्वप्रथम करनी चाहिये, वे हमारे देशवासी ही हैं।

विश्व भगवान्‌का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है, जिसमें भूत,

भविष्य और वर्तमानके सभी देवी, देवता, अवतार, देवदूत, धार्मिकजन, सभी प्राणी और पदार्थ शामिल हैं। संसार, राष्ट्र और सब जीवोंकी सेवा भगवान्‌के विराट् स्वरूपकी पूजा है और यह भगवान्‌ शंकरकी सच्ची और सात्विक उपासना है।

शिवभक्तोंकी कथाएँ—

महान् शिव-भक्त शिलादमुनि

शिलाद नामके एक धर्मात्मा तथा तपस्वी ब्राह्मण थे। पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार वे अश्वे हो गये थे और उनके कोई संतति नहीं थी। संतति प्राप्त करनेके लिये उन्होंने कठिन तप करना प्रारम्भ कर दिया। चिरकालतक निराहार रहकर अनेक नियम-संयमके साथ वे देवराज इन्द्रकी उपासना करते रहे। उनकी उपासनासे प्रसन्न होकर देवराज इन्द्र प्रकट हुए और शिलादमुनिसे प्रसन्नतापूर्वक बोले—‘महर्षे! तुम किस कामनासे ऐसा तीव्र तप कर रहे हो? मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ। यदि कोई वर माँगना हो तो माँगो।’

इन्द्रके ऐसे मधुर वचन सुनकर शिलादमुनि बहुत आनन्दित हुए और हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोले—‘देवराज! मैं पुत्रहीन हूँ। शास्त्रमें कहा गया है कि पुत्रहीन मनुष्यको सद्गति नहीं मिलती। इसलिये कृपानिधे! मुझे कुलका उद्धार करनेवाला एक ऐसा पुत्र दीजिये जो अयोनिज और अमर हो।’

इन्द्रदेवने उत्तर दिया कि ‘अयोनिज और मृत्युहीन पुत्र तो मैं नहीं दे सकता, क्योंकि संसारमें ऐसा कोई नहीं है जो जरा-मरणसे रहित हो। पितामह ब्रह्माजी स्वयं मृत्युहीन नहीं हैं। एक दिन उनका भी समय पूरा हो जायगा और उन्हें अपने शरीरका त्याग करना पड़ेगा। अयोनिज और मृत्युहीन पुत्र देनेकी मुझमें शक्ति है ही नहीं, ब्रह्मा और विष्णुमें भी यह सामर्थ्य नहीं है, किंतु भगवान्‌ रुद्र यदि चाहें तो ऐसा पुत्र दे सकते हैं। यदि तुम अनन्य-मनसे उनकी आराधना करो तो तुम्हारी कामना पूरी हो सकती है। इसलिये तुम उन्हींको प्रसन्न कर अभीष्ट वर प्राप्त करो।’

शिलादसे ऐसा कहकर महेन्द्र ऐरावत गजपर आरूढ़ होकर सब देवोंको अपने साथ लेकर इन्द्रलोकको चले गये। पुण्यशील शिलाद अपनी तपस्यासे महादेवजीको प्रसन्न करने

लगे। उन्होंने अन्नका भक्षण करना एवं जलका पीना तक छोड़ दिया और एकाग्र-चित्तसे भगवान्‌ शिवकी आराधना करने लगे। तप करते-करते कई हजार वर्ष बीत गये। शरीर सूखकर काँटा हो गया, न तो उसमें रुधिर रह गया और न मांस ही, केवल हड्डियाँ भर रह गयीं। उनके शरीरपर बामी जम गयी, जिससे वे दीवालके समान दिखायी देने लगे।

भगवान्‌ शंकर उनके इस कठिन तपसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और पार्वतीजीको साथ लेकर अपने सब गणोंके साथ शिलादमुनिको दर्शन देनेके लिये आये। आते ही उन्होंने मुनिवर शिलादका अपने कर-कमलोंद्वारा मधुर स्पर्श किया। भगवान्‌का मधुर स्पर्श पाते ही मुनिकी सब थकावट दूर हो गयी और उनका चित्त शान्त एवं प्रसन्न हो गया। वे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक स्तुति करने लगे। उनकी स्तुतिसे भगवान्‌को और भी अधिक प्रसन्नता हुई और वे कहने लगे—‘मुने! अब आप अपनी तपस्या पूर्ण समझिये। मैं आपको ऐसा पुत्र दूँगा, जो समस्त शास्त्रोंका वेत्ता और परम ज्ञानी होगा।’

शिलादमुनिने विनय करते हुए कहा—‘हे देवदेव शंकर! आपने मेरे ऊपर परम अनुग्रह किया है। मुझे तो आपकी दयाका ही आश्रय है। भगवान्‌! मेरी प्रार्थना यही है कि मुझे अयोनिज एवं मृत्युहीन पुत्र मिले।’

भगवान्‌ शंकरने कहा—‘विप्र! आपकी कामना पूरी होगी और आप जैसा पुत्र चाहते हैं वैसा ही पुत्र होगा। प्राचीन कालमें ब्रह्माजीने तथा अन्य देवोंने तप करके मुझसे प्रार्थना की थी कि मैं स्वयं भूलोकमें अवतार लूँ और मैंने उनकी वह प्रार्थना स्वीकार भी कर ली थी। उसीकी पूर्तिके लिये मैं ‘नन्दी’ इस नामसे स्वयं आपका अयोनिज पुत्र बनूँगा और आप मेरे पिता बनेंगे।’

इतना कहकर आशुतोष भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये और शिलादमुनि अनुपम वर पाकर अति प्रसन्न हुए। तदनन्तर उन्होंने बड़े समारोहके साथ यज्ञ करना प्रारम्भ किया और उसी समय यज्ञ-प्राङ्गणसे अग्निके समान तेजस्वी भगवान् शंकर प्रकट हुए। उनके उत्पन्न होते ही पुष्करावर्त आदि मेघ बरसने लगे। सिद्ध, साध्य, किन्नर और गन्धर्व आकाशसे मधुर गान सुनाने लगे और देवराज इन्द्रने पुष्पोंकी वृष्टि की।

भगवान् शंकरका बालरूप देखकर सभी देवता और मनुष्य मोहित हो गये। प्रकट होनेके समय ही उनके मस्तकपर जटाका मुकुट विराजमान था। उनके तीन नेत्र और चार भुजाएँ थीं। त्रिशूलसे उनका तेज और भी अधिक बढ़ रहा था। उनके तेजसे समस्त दिशाएँ देदीप्यमान हो गयीं।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देवता और वसिष्ठ आदि मुनि उनकी स्तुति करने लगे, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं, समस्त दिक्पाल उनके चारों ओर खड़े होकर उनकी विनती करने लगे और देवियाँ वात्सल्यवश स्नेहपूर्वक उनका आलिङ्गन करती हुई दुलार-प्यार करने लगीं।

शिलादमुनिने यह समारोह देखा तो उन्हें बड़ा विस्मय हुआ और वे प्रणाम कर स्तुति करने लगे। उन्होंने प्रसन्न होकर गम्भीर स्वरमें कहा—‘हे भगवन् ! हे अयोनिज ! आपने मेरा पुत्र बनना स्वीकार किया। इसलिये मैं कृतकृत्य हो गया। आप त्रिलोकीकी रक्षा करते हैं, विपत्तिसागरमें मग्न भक्तोंका उद्धार करते हैं और अशरणके शरण हैं। आप-जैसे महनीय पुत्रको पाकर मेरी सब चिन्ताएँ दूर हो गयीं। अब मुझे किसी प्रकारका भय नहीं रह गया। आपने मुझको आनन्दित किया है, इसलिये आपका नाम ‘नन्दी’ होगा। अब मेरी यह प्रार्थना है कि आप मुझे इसी प्रकार आनन्दित करते रहें। मेरे कुलमें आपके अवतार लेनेसे मेरी माता और मेरे पिता रुद्रलोकको चले गये और पितामह आदि पितृगण भी उत्तम गतिको प्राप्त हो गये, मेरा जन्म सफल हो गया। मैं आपको नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि मेरी रक्षा कीजिये। आपके अतिरिक्त अब मैं किससे अपने उद्धारकी प्रार्थना करूँ। आप सब देवोंके देव हैं।’

भगवान्की इतनी स्तुति करके शिलादमुनि ऋषियोंसे कहने लगे—‘हे मुनियो ! देखिये, मेरा कितना बड़ा भाग्य है

कि साक्षात् भगवान् मेरे यज्ञाङ्गणमें जन्म लिया है। मेरे समान संसारमें न तो कोई देवता है और न कोई दानव ही, सचमुच मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ।’

नन्दीको पाकर शिलाद बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें अपने साथ अपनी कुटीमें ले गये। वहाँ पहुँचते ही नन्दीश्वरका आकार साधारण मनुष्यके समान हो गया और उनकी दिव्य स्मृतिका भी लोप हो गया। यह देख शिलादको परम दुःख हुआ। शिलादमुनिने नन्दीश्वरको साधारण शिशुके रूपमें देखकर उनका जातकर्म-संस्कार किया। समय आनेपर यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। नन्दीश्वरने थोड़े ही समयमें साङ्गोपाङ्ग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आदिका यथावत् अभ्यास कर लिया। सात वर्ष समाप्त होनेके पूर्व ही उन्होंने आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतशास्त्र, अश्वविद्या, गजविद्या आदिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक समय मित्रावरुण शिलादमुनिके तपोवनमें पहुँचे और कहने लगे—‘मुने ! हमें इस बातको कहनेमें बहुत दुःख होता है कि नन्दीश्वर इतने ज्ञानवान्, विद्वान् और बुद्धिमान् होते हुए भी बहुत अल्पायु हैं। अब केवल एक वर्ष इनकी आयु और अवशिष्ट है।’

इतना सुनते ही शिलादके ऊपर वज्रपात-सा हो गया। वे अचेतन होकर भूमिपर गिर पड़े और कातर-स्वरमें विलाप करने लगे। उनके करुण-क्रन्दनसे समूचा अरण्य गूँज उठा। आस-पासके सभी तपस्वी वहाँ आ पहुँचे। यह वृत्तान्त सुनकर सभी मुनिगण स्वस्त्ययन, मङ्गलपाठ और भगवान् उमापतिकी स्तुति करने लगे। कितने ही ऋषियोंने महामृत्युञ्जय-मन्त्रसे दूर्वाकी एक लक्ष आहुतियाँ दीं। पिताको अत्यन्त दुःखी देखकर नन्दीश्वर भी स्वयं महामृत्युञ्जय-मन्त्रका जप तथा महादेवजीका अर्चन करने लगे।

इस प्रकारकी की गयी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रकट हुए और नन्दीसे कहने लगे—‘वत्स ! तुम तो मेरे अंशसे उत्पन्न हो, तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं हो सकता। तुम्हारा यह शरीर वास्तवमें लौकिक नहीं है। तुम्हारे दिव्य शरीरको शिलादमुनि देख चुके हैं। देवता, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व और दानवोंने भी देखा है। इसलिये प्रिय वत्स ! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो।’

इतना कहकर महेश्वरने अपने दोनों हाथोंसे उनका स्पर्श किया और अपनी कमलोंकी बनी हुई माला उनके गलेमें डाल दी। उस मालाके पहनते ही वे द्वितीय शंकरके समान भासित होने लगे। शिवके सदृश अपना रूप देखकर नन्दीश्वर उनकी स्तुति करने लगे। इस स्तुतिसे शंकरभगवान् और भी प्रसन्न हुए और पार्वतीसे बोले—‘देवि ! आजसे मैं नन्दीश्वरको सब गणोंका स्वामी नियुक्त करता हूँ। यह मुझे अत्यन्त प्रिय होगा और बल-वीर्य-पराक्रममें मेरे ही समान होगा तथा नित्य मेरे समीप निवास करेगा।’

उस समय शिवजीके स्मरण करते ही असंख्य गण आकर उपस्थित हो गये। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवता भी उस उत्सवमें सम्मिलित हुए। शिवजीके कथनके अनुसार स्वयं ब्रह्माजीने विधिविहित रीतिसे नन्दीश्वरका अभिषेक किया और

वे गणाधिपति बना दिये गये। तदनन्तर देवताओंने मरुतोंकी कन्या सुयशाको सब आभूषणोंसे विभूषित कर उत्तम वस्त्र पहनाया और सुवर्णके सिंहासनपर बैठाया। हजारों उत्तम-उत्तम दासी छत्र, चामर आदि लिये उनकी सेवामें खड़ी थीं। इस प्रकार सुयशाको मण्डित कर शिवजीकी आज्ञासे नन्दीश्वरके साथ विवाह कर दिया। जगन्माता पार्वतीने अपने कण्ठसे मोतियोंका हार उतारकर सुयशाको पहिनाया और भगवान् शिवने श्वेत वृष, श्वेत हस्ती, सिंहध्वज, छत्र और स्वर्णका रथ नन्दीश्वरको प्रदान किया। इस प्रकार नन्दीश्वरका अभिषेक तथा विवाहकर वृषके ऊपर आरूढ़ हो पार्वती तथा गणोंसहित नन्दीश्वरको साथ लेकर भगवान् शंकर कैलास चले गये।

(लिङ्गपुराण, अ० ३७।४१—४४)

गालवमुनिकी शिवभक्ति

महर्षि गालव महामुनि विश्वामित्रके प्रिय शिष्य थे। समस्त विद्याओंमें पारंगत तथा वेदविद्यासे विभूषित होकर जब वे गुरुकी आज्ञासे अपने पिताके दर्शनार्थ घर गये, तब वहाँ पहुँचनेपर वैधव्यके दुःखसे दुःखी उनकी माताने कातर स्वरसे उनके पिताके स्वर्गवासका वृत्तान्त बतलाया। गालवमुनि पितृ-वियोगसे दुःखित हो तथा माताको अनाथ देखकर बड़े चिन्तित हुए और मन-ही-मन अपने जीवनको धिक्कारने लगे—‘हाय ! पुत्रका जीवन, विद्या, यश-गौरव तथा धन-ऐश्वर्य किस कामका जो गुरुजनों, विशेषकर पिताकी सेवामें न लगे। मैं बड़ा अभाग्य हूँ। पिताके दर्शनतक मुझ अभाग्यको दुर्लभ हो गये।’ इस प्रकार बारम्बार विचारकर गालवमुनिने अपने गुरुजीका स्मरण किया और धैर्य धारण करके पितृदर्शन करनेका उपाय सोचने लगे। फिर उन्होंने निश्चय किया कि आशुतोष भगवान् शिवके संतुष्ट हो जानेपर कुछ भी असम्भव एवं दुष्प्राप्य नहीं है, अतः अपने पिताके दर्शनके लिये मुझे भगवान् महेश्वरकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

ऐसा निश्चयकर माताकी आज्ञा प्राप्तकर गालवमुनि किसी एकान्त स्थानमें जाकर योग-साधनाद्वारा योगीश्वर आशुतोष भगवान् शंकरका ध्यान करने लगे। थोड़े ही

दिनोंकी कठिन तपस्यासे भगवान् नीलकण्ठ प्रसन्न हुए और अपना साक्षात् दर्शन देकर बोले—‘वत्स ! तुम्हारे पिता, माता और तुम तीनों ही मृत्युसे रहित हो जाओगे अर्थात् अमर हो जाओगे। अब तुम अपने घरमें शीघ्र प्रवेश करो, तुम्हारी कामना पूर्ण होगी। घर जाकर तुम्हें अपने पिताका दर्शन प्राप्त होगा।’

गालवमुनि ऐसा उत्तम वर प्राप्तकर बड़े प्रसन्न हुए और अपने घरको लौट पड़े। घर पहुँचते ही अपने पिताको यज्ञशालाके द्वारसे आते हुए देखकर गालवमुनि बड़े विस्मयमें पड़ गये। वे उस समय समिधा, कुश तथा हव्य-पदार्थ लिये हुए थे। गालवमुनि झटसे पिताके चरणोंपर गिरकर करुणाश्रु बहाने लगे। उनके पिताने उन्हें हृदयसे लगाया और सिर सँघुते हुए अपने कोमल करोंसे उनके समस्त अङ्गोंका स्पर्श किया। पिताने गद्गद स्वरसे कहा—‘प्रिय पुत्र ! बड़े आनन्दकी बात है कि तुम विद्वान् होकर घर आ गये और मैंने अपनी आँखोंसे तुम्हें देखकर पुत्रसुखका अनुभव किया। वत्स ! तुम्हारी शिव-भक्ति सराहनीय है, क्योंकि भगवान् शिवकी अव्यभिचारिणी भक्तिसे ही तुमने श्रेष्ठ विद्या तथा अमरत्व प्राप्त किया है और अपने माता-पिताको भी परमपद प्राप्त कराया है।’

भक्त प्रचेतागण

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।

नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥

‘वही जन्म सफल जन्म है, वे ही कर्म ठीक कर्म हैं, वही आयु आयु है, वही मन मन है और वही वाणी वाणी है, जिनके द्वारा मनुष्य सर्व-समर्थ विश्वात्मा श्रीहरिकी सेवा करते हैं।’ (श्रीमद्भा० ४।३१।९)

आदिराज पृथुके वंशमें बर्हिषद नामक एक पुण्यात्मा राजा हो गये हैं। उन्होंने इतने यज्ञ किये कि पृथिवी उनके यज्ञिय कुशोंसे आच्छादित हो गयी। इनकी पत्नी शतद्रुतिसे दस पुत्र हुए, जो ‘प्रचेता’ कहे गये। ये सब-के-सब भगवान्‌के भक्त थे और परस्पर इनका इतना ऐक्य था कि इनके धर्म, शील, आचार, व्यवहारमें तनिक भी अन्तर नहीं रहा था। पिताने इन्हें विवाह करके संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी। भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिये प्रचेतागण तप करने चल पड़े।

प्रचेताओंने पश्चिम समुद्रके किनारे एक विस्तृत स्वच्छ सरोवर देखा। वहाँ मृदङ्ग आदि बाजे बज रहे थे, गन्धर्व गान कर रहे थे। उस दिव्य गानको सुनकर राजकुमारोंको आश्चर्य हुआ। इसी समय उस सरोवरसे अपने उज्ज्वल वृषभपर बैठे भगवान् शंकर प्रकट हुए। शंकरजीने राजपुत्रोंसे कहा— ‘राजपुत्रो ! जो कोई भगवान् वासुदेवकी शरण लेता है, उससे बढ़कर मेरा और कोई प्रिय नहीं है। मुझे जितने प्रिय श्रीहरि हैं, उतने ही प्रिय उनके भक्त भी हैं और उन नारायणके भक्तोंका भी मैं अत्यन्त प्रिय हूँ। तुमलोग भगवान्‌के भक्त हो, अतः मुझे परम प्रिय हो। तुमपर कृपा करके मैं तुम्हारे पास आया हूँ। मैं तुम्हें एक दिव्य स्तोत्र बतलाता हूँ। इन्द्रियोंको वशमें करके, मनको एकाग्र कर भगवान्‌का स्मरण करते हुए इस स्तोत्रका जप करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा। सर्वात्मा श्रीहरि तुमपर प्रसन्न होंगे।’ भगवान् शंकर उस दिव्य स्तोत्रका उपदेश करके अन्तर्धान हो गये।

प्रचेतागणने अपना सौभाग्य माना कि उनपर आशुतोष प्रभुने स्वयं कृपा की। वे समुद्रके जलमें खड़े होकर उस स्तोत्रका जप करते हुए दस सहस्र वर्षतक तप करते रहे।

उनके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् नारायण उनके सम्मुख प्रकट हो गये। प्रचेतागणने आनन्दविह्वल होकर भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने उनके भ्रातृत्व-प्रेमकी प्रशंसा की। उन्हें लोकप्रसिद्ध पुत्र होनेका आशीर्वाद दिया। परंतु जो कोई भगवान्‌के श्रीचरणोंका आश्रय ले लेता है, उसने चाहे कामनापूर्वक ही भगवान्‌का भजन प्रारम्भ किया हो, भजनके प्रभावसे उसका हृदय शुद्ध अवश्य हो जाता है। उसकी समस्त कामनाएँ अपने-आप नष्ट हो जाती हैं। निष्पाप प्रचेतागणने पिताकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे संतानोत्पादनके लिये यह आराधना की थी। उनके चित्तमें पहले भी कामना नहीं थी। उन्होंने प्रार्थना की—‘प्रभो ! आप स्वयं हमपर प्रसन्न हुए, हमने इन चर्मचक्षुओंसे आपके आनन्दघन रूपके दर्शन किये—इससे महान् सौभाग्य हमारा और क्या होगा ? आपसे हम इतना ही चाहते हैं कि आपकी मायासे मोहित होकर कर्म करते हुए उनके फलस्वरूप जबतक हम संसारमें घूमते रहें, तबतक प्रत्येक जन्ममें हमें आपके भक्तोंका सङ्ग प्राप्त होता रहे। सांसारिक भोगोंकी तो चर्चा ही क्या, स्वर्ग और मोक्ष भी साधुसमागमके सामने नगण्य हैं। स्वामिन् ! हमने जो जलमें खड़े होकर दीर्घकालतक तप किया है, वह तप आपको संतुष्ट करे। आप उसे स्वीकार कर लें।’

भक्तवत्सल प्रभु प्रचेताओंको संतुष्ट करके, उनका इच्छित वरदान देकर अपने धाम पधारे। वहाँसे घर आकर ब्रह्माजीके आदेशसे वृक्षोंके द्वारा समर्पित मारिषा नामकी कन्यासे उन्होंने विवाह किया। भगवान् शंकरका अपराध करके शरीर त्यागनेवाले दक्षने फिर प्रचेताओंके पुत्ररूपसे जन्म लिया। जब ब्रह्माजीने दक्षको प्रजापति बना दिया, तब पत्नीको पुत्रके पास छोड़कर प्रचेतागण समस्त भोगोंको त्यागकर भगवान्‌के ध्यानमें लग गये। उन्होंने प्राणायामादिसे इन्द्रियों तथा मनको संयत करके चित्तको ब्रह्मचित्तनमें लगा दिया। उसी समय देवर्षि नारदजी उनके पास आये। देवर्षिने कृपा करके उनको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उसे ग्रहण करके प्रचेता भगवान्‌के श्रीचरणोंका ध्यान करते हुए परमपदको प्राप्त हुए।

शिवोपासनासे लाभ (कुछ घटनाएँ)

(श्रीयुत चिरञ्जीलालजी शर्मा)

भगवान् एक हैं पर अनेक रूप भी उन्हींके हैं। जिस समय वे जैसा स्वाँग भरते हैं, उस समय उनका वैसा ही नाम पड़ जाता है। संसारका सर्जन करनेपर वे ब्रह्मा, पालन करनेपर विष्णु और संहार करनेपर शिव कहलाते हैं। 'शिव' कल्याणवाची शब्द है। भगवान् शिवकी संहार-लीलामें भी जीवोंके कल्याणका रहस्य छिपा पड़ा है। वे चतुर-शिरोमणि होते हुए भी अपने भक्तोंके लिये निरे भोले हैं। वे रुद्र होते हुए भी वस्तुतः आशुतोष ही हैं। धतूरे और आककी श्रद्धापूर्ण पुष्पाञ्जलि ही लोकपावन शिवकी प्रसन्नता प्राप्त करवानेमें पर्याप्त है। राम-रसमाते 'तुलसी' ने भी 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड (१६४) में यही निर्णय सुनाया है—

इहाँ ऐसो सुख, सुरलोक सुरनाथपद,

जाको फल 'तुलसी' सो कहैगो बिचारिकै।

आकके पतौवा चारि, फूल के धतूरेके द्वै

दीन्हें हैं बारक पुरारिपर डारिकै॥

भगवान् महादेवके 'आशुतोष' विशेषणकी प्रत्यक्ष सार्थकता और आश्चर्यमयी उपादेयताका विश्वास करवानेके लिये यहाँ कुछेक आँखों-देखी घटनाओंका वर्णन किया गया है। ये सभी घटनाएँ यद्यपि सकाम भक्तोंके जीवनमें घटित हुई हैं, तथापि भगवान् श्रीकृष्णकी 'उदाराः सर्व एवैते' इस मान्यताके अनुसार इनका भी कम महत्त्व नहीं है। अस्तु !

चूरू (बीकानेर) में बहुत समय पूर्व गोसाईंजी नामके एक संन्यासी शिवभक्त हो गये हैं। लोग उन्हें सिद्ध महापुरुष मानकर उनकी समाधिकी पूजा करते हैं। स्थानीय शिव-मन्दिरमें ही वे भजन-पूजन करके लोगोंको शिवभक्तिका माहात्म्य बतलाया करते थे। उनके उपदेशानुसार शिव-पूजामें रत रहकर अनेक सकाम भक्तोंने अपने मनोरथ सफल किये। चूरूके श्री... की स्त्री उनके दर्शनार्थ प्रायः नित्य ही आया करती थीं। उनके कोई संतान नहीं थी, अतः श्रीगोसाईंजीके सामने पुत्रकी याचना की। श्रीगोसाईंजीने उनकी वेदनाभरी वाणी सुनते ही तीन पुत्रोंका वरदान दे दिया। कहना नहीं होगा कि महापुरुषके वचनानुसार भगवान् आशुतोषकी दयासे उनके तीन पुत्र हुए और वे तीनों ही करीब साठ-साठ वर्षकी आयु

भोगकर परलोकवासी हुए। शिवभक्त गोसाईंजीने चार दिन पूर्व ही अपनी मृत्युकी सूचना देकर भक्तोंको कह दिया था कि मेरा शरीर मेरे स्वामीकी मूर्तिके सामने ही गाड़ा जाना चाहिये। उनकी मृत्यु संवत् १९२५ में हुई।

उनके परमधामगमनके अनन्तर पूज्य श्रीमोतीरामजी ओझा एवं उनके बाद उनके पुत्र श्रीबैजनाथजी मन्दिरकी सेवा करते रहे, परन्तु इनकी मृत्युके बाद पूजाकार्यमें कठिनता पड़ने लगी। मन्दिर भी पुराना होनेके कारण गिरने लगा। इसी बीच श्री... ने पुत्रकी कामनासे सेवा-पूजाके कार्यमें योग देना प्रारम्भ कर दिया। आशुतोष महादेवके रीझनेमें देरी नहीं, देरी है केवल उनके सामने आतुर होकर—सब आश्रयोंको छोड़कर पुकारनेकी। श्री... को प्रतिभासम्पन्न, परम सुन्दर और प्रभावशाली पुत्रकी प्राप्ति हुई। पर भगवान्को इन्हें अपनी ओर विशेष खींचना था। दैववश बारह वर्षकी अवस्थामें उस बालकका देहान्त हो गया। अब इनके दुःखकी सीमा न रही। पुत्रके मुखदर्शनसे निराश हो गये। चारों ओर आँख पसारकर देखा, पर शंकर-सा उदार दानी और सर्वोपरि शरण्य दीख नहीं पड़ा। कलकत्तेसे सीधे चूरू आये। स्टेशनसे उतरते ही शिव-मन्दिरका रास्ता लिया। मन्दिरके पास पहुँचते ही उन्हें ढाँढस बँध गया। मूर्तिके दर्शनोंसे उन्होंने जिस निश्चित भावना और सुखमयी आशाका अनुभव किया वह निःसंदेह वर्णनसे परे है। आध्यात्मिक जगत्के साधारण सुखाभासको भी प्रकट करनेमें वस्तुतः मानवी भाषा पङ्क्तु ही है। वे उसी आशाभरे हृदयसे उद्भूत कातर स्वरमें अपने शरणदाताके सामने रो पड़े। भगवान्का हृदय दुष्टोंके लिये वज्रसे भी कठोर पर भक्तोंके लिये कुसुमसे भी कोमल होता है। भक्तके आर्तनादसे आशुतोष शिव दयार्द्र हो गये। 'सर्वतःश्रुतिमल्लोके'—सर्वत्र स्थित होकर सबकी सुननेवाले महादेवजीने हृदयकी पुकारका तत्काल उत्तर दिया। तेरह वर्षके दीर्घकालके बाद इस समय उनकी स्त्रीको इतनी अधिक आयुमें भी पुत्रकी प्राप्ति हो गयी। यह है आशुतोष भगवान् शिवकी स्नेहमयी सुन्दर लीलाका छोटा-सा नमूना !

इसी प्रकार दो ब्राह्मण-बन्धुओंकी सकाम पूजा भी

विचित्र ढंगसे सफल हुई। जगत्की दृष्टिसे ये दोनों ही निराधार थे। न मा न बाप ! न धन न कुटुम्ब ! ऐसे असहायोंके विवाहकी चर्चा ही कौन सुने ! सांसारिक आश्रयके छूट जानेपर मनुष्य स्वभावतः सर्वेश्वरकी शरण ढूँढ़ता है। अतः इन दोनोंने भी भगवान् शंकरके द्वार खटखटाने शुरू कर दिये। रात-दिन सरल स्वभावसे आतुर होकर पुकारा करते—‘हे शम्भो ! हमें और कुछ नहीं चाहिये, केवल हमारा विवाह करा दीजिये !’ लोग इनकी कामना सुनकर हँस पड़ते, आकाशसे फल तोड़नेके समान इसकी पूर्तिकी सम्भावनापर खिल्लियाँ उड़ाते, पर ‘**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**’ शिवके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। दोनोंकी अर्जियाँ मंजूर हो गयीं। किसीने मन्दिरमें ही आकर अपनी बेटी दे दी, किसीने पैसा लगा दिया और कुछेक शिवभक्त ही बराती बन गये। धूमधामसे विवाह सम्पन्न हो गया। लोग अनहोनी घटना देखकर दंग रह गये। सच है—शिवजीके द्वारसे कभी कोई निराश नहीं गया।

अब एक और आश्चर्यमयी घटना सुनिये। श्री.... कलकत्ता, रंगून और अहमदाबादके प्रसिद्ध व्यापारी हैं। दैववशात् उनका इकलौता बेटा ८-९ वर्षकी अवस्थामें चल बसा। अनेक डोरे यन्त्र करवाये गये, बीसों औषध—उपचार किये गये, पर उनकी स्त्रीके गर्भ न रहा। अन्तमें निराश होकर गोदके लड़केकी खोज करने लगे। एक बालक पसंद भी कर लिया गया। पर भोले शंकरकी प्रसादी इनको प्राप्त होनी बाकी थी। ये एक दिन मन्दिरमें दर्शनार्थ आये। गोदके पुत्रकी चर्चा

चली। करीब बीस भक्तोंकी मण्डली जम रही थी। कोई भावुक भक्त बोल उठा— ‘सेठजी ! शंकर-सरीखे दाताके होते हुए आप निराश क्यों हो गये ? शुद्ध हृदयसे प्रार्थना कीजिये, भोले शम्भु आपपर प्रसन्न होकर कामना पूरी कर देंगे।’ इनके भी जैच गयी। तत्काल हाथ जोड़कर शिवजीके सम्मुख हो गये। बड़े ही करुणोत्पादक आतुर स्वरमें पुत्रकी याचना की। उपस्थित मण्डलीने एक स्वरसे कहा— ‘सेठजी ! महादेवजीने आपकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। आजसे नवें महीने आपके अवश्य ही पुत्र होगा।’ उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो अणु-अणुमें रमण करनेवाले शिवजीने ही इतने मुखोंसे सेठजीकी पुकारका मधुर उत्तर दिया। ठीक नवें मास आपके पुत्र उत्पन्न हुआ। मैंने उस बालकको तोतली वाणीमें ‘भाईजी, जय छंकरकी’ कहते सुना है। बालकका शिव-भक्त होना स्वाभाविक ही है।

मैं नहीं कह सकता कि जडवादके उपासकोंको इन प्रत्यक्ष सच्ची घटनाओंको पढ़कर भी उस अन्तर्हित सर्वोपरि शक्तिपर विश्वास हो सकेगा, जिसकी शीतल और सुखद छायाका आश्रय लेकर मनुष्य सहज ही दुस्सह त्रितापके भीषण और अनवरत आक्रमणोंसे अविलम्ब उन्मुक्त हो सकता है। भगवान्की सकाम उपासनाका भी जब प्रत्यक्ष इतना अधिक माहात्म्य है तो निष्काम भक्तिके फलस्वरूप यदि भक्तको सुगमतया और शीघ्रतया ऊँचे-से-ऊँचा पद प्राप्त होता है तो कौन-सी बड़ी बात है ?

शिव-सेवाका प्रत्यक्ष फल

(पं० श्रीविद्याभास्करजी शुक्ल)

यत्करोषि यदश्रासि यजुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९।२७)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए ठीक ही कहा है कि ‘हे अर्जुन ! तू जो कुछ भी करता है, खाता है, हवन आदि करता है, देता-लेता है, तपस्या करता है सब मेरे अर्पण कर।’—इस बुद्धिसे मनुष्यको केवल कर्तव्य-ज्ञान रहता है। उसमें अनासक्ति-भाव रहता है और सदसद्विवेक-भाव रहता है। उसके कार्य-पथमें आनेवाली विघ्न-बाधाएँ

उसकी एकनिष्ठामें किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं डाल सकतीं। वह जानता है कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह अपने लिये नहीं, अपने स्वामीके लिये। मुझे वही करना है जिसमें मेरे स्वामी प्रसन्न रहें, कोई भी ऐसा कार्य मुझसे न हो जो मेरे स्वामीकी अरुचि या अप्रसन्नताका कारण हो। यह मेरा शरीर मेरे स्वामीका है, स्वामीके लिये है, इसलिये उनकी सेवामें किसी प्रकार व्यतिक्रम करना अभीष्ट नहीं। सच है, अपनेको और अपने समस्त कार्योंको स्वामीके चरणोंमें अर्पण करनेकी निष्ठावाला भक्त तप्त स्वर्णके समान समुज्ज्वल हो जाता है।

वह भगवान्का और भगवान् उसके हो जाते हैं। वह अपनी तमाम अड़चनोंको तृणवत् समझकर अपने भगवान्को रिझानेमें तन्मय हो जाता है। वह अपना कुछ समझता ही नहीं, सब कुछ भगवान्का समझता है। उसका एक ही भाव रहता है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

भगवान्की इन पुनीत लीलाओंका अनुभव सभी नहीं कर पाते। इसीलिये उनमें उनकी आस्था भी नहीं रहती, क्योंकि भगवान्की आस्थामें आवश्यकता है श्रद्धाकी, धैर्यकी, संतोषकी, प्रतीक्षाकी और सच्ची लगनकी। भगवान्की देन परोक्ष है, परंतु एकनिष्ठावाले और सच्ची लगनवाले भक्त उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी करते हैं।

भगवान्के स्वरूपोंमें शंकर-स्वरूपकी महिमा अमित है। भगवान्का शिव-स्वरूप, बिना किसी भेद-भावके सबपर अपनी समान कृपाको रखनेवाला है। इसीलिये देवाधिदेव महादेवको 'औढरदानी' कहा है। देवोंमें वे सबसे बड़े होनेके कारण तो महादेव हैं ही, परंतु देनेवालोंमें भी सबसे बड़कर देनेवाले होनेसे भी 'महादेव' हैं। उनका दान मनमौजी है, अटपटा है, बेढब है। उपासनासे जितना शीघ्र भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं उतना शीघ्र प्रसन्न होनेवाला भगवत्का कोई स्वरूप नहीं है।

देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, ऋषि-मुनि जब किसीने किसी शक्ति या वस्तुकी इच्छा की है तो सभी प्रायः कैलासपति शंकरकी शरण गये हैं, सभीने उन्हींकी उपासना की है, उन्हींका आश्रय लिया है और आशुतोषसे अपनी इच्छा पूर्ण की है। हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, बाणासुर आदि दैत्य दुर्दमनीय और अजेय शक्ति प्राप्त करनेके लिये भगवान् शंकरकी ही शरण गये। देव, ऋषि, मुनि आदि भी उन्हींकी शरण गये। भस्मासुरने भगवान्को ही मारनेके लिये भगवान्की उपासना की, परंतु भगवान् अपनी देनसे न चूके, उसको इच्छित वरदान दे ही दिया।

कहनेका तात्पर्य यह कि शंकरके समान दूसरा औढरदानी, आशुतोष, जग-हितकारी कोई नहीं। समुद्र-मन्थनसे निकले हुए हलाहल विषको देखकर जब सभी सुरासुर भयभीत हो गये तो जग-कल्याणकारी शंकरने उसे

हँसते-हँसते पान कर लिया। कल्याण चाहनेवालेके लिये शंकरकी उपासना अभीष्ट है। अनन्यभावसे जो उनकी शरण गया है, निहाल होकर लौटा है।

इन्दौर-राज्यके नेमाड़-प्रान्तमें बड़वाह नामका एक शहर है। उससे करीब तीन मील रतनपुर नामका एक गाँव है। रतनपुरके दक्षिणकी ओर तीन मील दूर, नर्मदाके तटपर श्रीविमलेश्वर महादेवका विशाल मन्दिर है। यह मन्दिर सैकड़ों वर्ष पुराना है और एकान्त स्थानमें बना हुआ है। भगवान् विमलेश्वरकी उपासनाका कितने ही भक्त आज प्रत्यक्ष फल भोग रहे हैं।

श्रीदेवेश्वरजी दुबे नामके एक बहुत ही सज्जन, भगवद्भक्त, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण रतनपुर ग्राममें रहते थे। कंगाली ही उनका घर, भिक्षा उनकी जीविका और भजन ही उनका धन था। इसी सम्पत्तिसे संतोषपूर्वक वे अपना और अपने परिवारका पालन-पोषण करते थे। देवेश्वरजीके ठाकुर थे शंकर और शंकरके भक्त थे देवेश्वर। श्रीदेवेश्वरजीने वर्षों एकनिष्ठ होकर शिवजीकी निष्काम आराधना और पूजा की। वे उनके अनन्य भक्त एवं पुजारी रहे।

उस समय एक जमींदार ठाकुरसाहब थे। वे शिव-भक्त थे। उन्होंने देवेश्वरजीको शिवजीपर जल चढ़ाने और पूजा करनेके लिये नियुक्त कर दिया था। इसके लिये ठाकुरसाहब देवेश्वरजीको थोड़ी-सी वार्षिक सहायता दे दिया करते थे। उनके और परिवारके निर्वाहका केवल यही साधन था। परंतु उनकी निष्ठा, भक्ति और श्रद्धामें किंचिन्मात्र भी कमी न थी। वे शिवजीका पूजन अर्थ-दृष्टिसे नहीं किंतु आन्तरिक श्रद्धासे करते थे।

चाहे बिजली चमक रही हो, चाहे बादल गरज रहे हों, चाहे मूसलाधार वर्षा हो रही हो, चाहे शीतसे शरीर गला जा रहा हो, परंतु देवेश्वरजी विमलेश्वरको जायँगे, अवश्य जायँगे। उनको कोई शक्ति उनकी भक्तिसे विचलित नहीं कर सकती। देवेश्वरजी रतनपुरमें रहते थे, मन्दिर वहाँसे तीन मील था। बरसातके दिनोंमें जाँघों और कमरतक चारों ओर मार्गोंमें पानी भर जाता था। नेमाड़ी चिकनी मिट्टीमें देवेश्वरजी जाँघोंतक धँस जाते थे। बागड़ोंके (कीचड़में गिरे हुए) काँटे कभी-कभी पैरोंमें चुभ जाते थे, परंतु देवेश्वरजीकी शंकर-पूजामें एक

दिनका भी व्यतिक्रम न होता था। वे नित्य-नियमसे प्रातःकाल चार बजे उठकर बेलपत्र, पुष्पादि लेकर उसी दल-दलमें खुचते, फँसते, भींगते नर्मदाके किनारे पहुँचते, स्नानादि करते, नर्मदासे जल भरते और मन्दिरमें जाकर श्रीविमलेश्वर महादेवकी पूजा-अर्चा करते थे।

कार्य तो कोई भी व्यर्थ नहीं जाता, परिश्रमका फल मिलता ही है। फिर भगवत्पूजाके विषयमें क्या पूछना ! भगवान् ही उसके हो जाते हैं। वह भगवान्से ही कहला लेता है—‘हम भक्तनके भक्त हमारे’। उसमें भी शंकरकी उपासना,

आशुतोष औदरदानीकी पूजा ! फिर भला, क्यों न फल मिलेगा, क्यों न सिद्धि प्राप्त होगी ? जो उनके ध्यानमें मग्न होगा उसका आनन्द अक्षय है। देवेश्वरपर विमलेश्वर प्रसन्न हुए, शिवजीके प्रत्यक्ष दर्शनकर देवेश्वरजीका हृदय गद्गद, शरीर पुलकायमान, वाणी मौन हो गयी। देवेश्वरजीके कुछ बिना माँग ही भगवान्का वरद हाथ उनपर उठ गया। उनके कुटुम्बपर भगवान् शंकरकी कृपा-दृष्टि बरस पड़ी। उनके पुत्र-पौत्रोंमें भी असीम शिव-भक्ति छा गयी और उनका कुल विद्या, विनय, ईश्वरभक्ति और सम्पत्तिसे परिपूर्ण हो गया।

शिव-कृपा

(श्रीलक्ष्मीनारायणजी)

यह घटना उस समयकी है जब मैं चार-पाँच वर्षका बालक था। इस घटनाका जो हिस्सा मैंने स्वयं देखा वह मुझे खूब याद है और इसकी चर्चा भी मेरे घर अक्सर होती है। इससे पूरी बातोंका मुझे पता है।

हमारा घर मउरानीपुर, जिला झाँसीमें है। मेरे पिताजी उस समय हाथरस, जिला अलीगढ़में आदतका कारबार करते थे। वहीं हमारे वंशके एक वृद्ध महानुभाव श्रीहीरालालजी भी कुछ रोजगार करते थे। वे दूरके रिश्तेसे मेरे पिताजीके चाचा लगते थे। उनके स्त्री या कोई संतान न थी। जब वे बुढ़ापेके कारण दुर्बल होने लगे तो मेरे पिताजी उनको मउरानीपुर लिवा लाये और घरमें उनके रहनेका प्रबन्ध करके फिर हाथरस चले गये।

उन दिनों घरमें मेरी माताजी, मेरे एक बड़े भाई, एक बड़ी बहिन और मेरी दादीजी—ये चार प्राणी थे, मेरा जन्म बादमें हुआ। वृद्ध महानुभाव अब हमारे घरमें रहने लगे। सब लोग इन्हें बड़े बब्बाजी कहते थे।

ये बड़े ही भक्त पुरुष थे। प्रतिदिन सबेरे उठकर स्नानादिके बाद पाठ-पूजनमें ही दोपहरके बारह बजा देते। फिर भोजन करके थोड़ा विश्राम करते और मुहल्लेके लोगोंसे भक्तिसम्बन्धी चर्चा करते। शामको चार-पाँच बजेसे फिर राततक भजन आदिमें लगे रहते। फिर भोजन कर लेट जाते। वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी नगरके दो-एक वृद्ध पण्डित अक्सर उनसे बातें करने आते थे। बड़े बब्बाजी सदा एक माला लिये रहते थे और जब भी अवकाश मिलता, उसे

फेरते रहते थे।

उनके सत्य, दया, अहिंसा, मिष्टभाषण और अक्रोध आदि गुणोंसे प्रभावित होकर घरके सब लोग उनका बड़ा आदर करने लगे। कुछ दिनोंमें वे निःसंकोच घरवालोंकी भाँति ही रहने लगे। उन्होंने अपने संचित धनमेंसे कुछ गहने आदि तो (पिताजीके बहुत रोकनेपर भी) मेरी माताजीको दे दिये और शेष धन लगाकर एक बड़ा सुन्दर शिवजीका मन्दिर बनवाया और उसके साथ एक दो-मंजिला मकान पुजारीजीके रहनेके लिये बनवा दिया। फिर तो वे अक्सर मन्दिरमें ही रहकर भजन करने लगे।

इसके कुछ समय लगभग चार-पाँच वर्षके बाद बब्बाजी दृष्टिहीन हो गये। इन्हें पाठ आदि सब छोड़ना पड़ा। अब भी ये यथापूर्व प्रातः स्नानादि करते और हम तीन बालकोंमेंसे किसीको अपनी लाठीका एक सिरा पकड़ाकर आगे करते और दूसरा सिरा स्वयं पकड़कर शिवालयको जाते और वहीं बैठे-बैठे भक्तिपूर्वक भजन-स्तुति आदि करते रहते। भोजनके समय हमारी मा उन्हें बुलवा भेजतीं। तब वे आकर भोजन करते। शामको भी प्रायः शिवालयमें ही चले जाते।

इन्हीं दिनों हमारी दादीजीकी भी दृष्टि जाती रही। दादीजी बड़ा दुःख मानतीं और कभी-कभी हमलोगोंपर बहुत अप्रसन्न हो जाती थीं। पर बड़े बब्बाजी कभी अप्रसन्न नहीं होते। मुझे पूर्णतया स्मरण है कि मैं अक्सर उनकी माला खेलनेको छीन ले जाता था और उसे कभी तोड़ देता, कभी खो देता। पर

वे मुझे कभी नहीं धमकाते थे। उनको एकमात्र यही दुःख था कि वे दृष्टिहीन होनेके कारण न तो पाठादि कर सकते और न शिव-दर्शन ही।

इस प्रकार दो-तीन वर्ष बीत गये। एक बार भादोंके महीनेमें जल-विहारका मेला था। बब्बाजी सबेरेसे ही शिवालयमें गये हुए थे। दोपहरके बाद तीन-चार घंटे हो गये। पर हमलोग मेला देखनेमें उनको घर लिवा लाना ही भूल गये। जब मैं घर आया तो देखा कि मेरी मा रसोईमें बैठी हैं, उन्होंने अबतक भोजन नहीं किया है, क्योंकि उनका नियम था कि बड़े बब्बाजीको भोजन करानेके बाद ही वे भोजन करती थीं। माताजीने मुझे धमकाया और बब्बाजीको जल्दी लिवा लानेको कहा। मैं उनको शिवालयसे लिवा ला रहा था कि रास्तेमें एक विशालकाय पुरुष मिले। देखनेमें वे मेलेमें आये हुए देहातके लोगोमेंसे जान पड़ते थे। बड़ी सफेद पगड़ी, काली दाढ़ी, जिसमें कुछ बाल सफेद भी थे, और बड़ी-बड़ी आँखें थीं। मैं उन्हें देखकर डर गया।

उन्होंने मुझसे पूछा—‘बूढ़ेको कहाँ लिये जा रहे हो?’ मैं डरके कारण चुप रहा। मेरे बब्बाजीने कहा—‘यह मेरा नाती है, मुझे घर लिवाये जा रहा है।’ नये सज्जनने फिर पूछा—‘यह लाठी क्यों पकड़े है?’ बब्बाजीने उत्तर दिया—‘मुझे दिखायी नहीं देता।’ उन्होंने फिर पूछा—‘तुम कहाँ गये थे?’ बब्बाजीने कहा—‘शिवालयमें।’ उन्होंने कुछ व्यंग्य-हास करते हुए कहा—‘जब तुम अन्धे हो तो तुमने शिवालयमें क्या देखा? वहाँ काहेको गये थे?’

बब्बाजीने तुरंत कहा—‘मैंने कुछ नहीं देखा—यह मेरा अभाग्य है, पर शिवजीने तो देख लिया कि मैं उनकी शरणमें आया हूँ।’

तब उस पुरुषने नरमीसे कहा—‘आँखें दिखलाओ तो, क्या रोग है?’ मेरे बब्बाजीने यह पूछते हुए कि—‘क्या तुम आँखोंके रोग जानते हो?’ अपनी आँखें उन्हें दिखला दीं। इस प्रकार बात करते-करते हमलोग अपने घरके द्वारतक आ गये। वे दोनों द्वारके बाहर चबूतरेपर बैठ गये। उन सज्जनने कहा

कि—‘आँखें तो बनने लायक हैं’ और बब्बाजीके पूछनेपर यह भी कहा कि वे आँखें बनाना जानते हैं। इसपर बब्बाजीने कहा कि ‘बिना लड़के और बहूकी सलाहके मैं आँखें नहीं बनवा सकता।’ तब उन सज्जनने कहा कि ‘ठीक है। मैं तो इस समय तुम्हारी आँखोंमें दवा लगा दूँगा। दो दिन बाद आऊँगा, तब पट्टी खोलूँगा और जो तुम्हारे ‘लड़का-बहू’ की राय होगी तो आँखें बना दूँगा।’ बब्बाजी इसपर राजी हो गये। मुझसे आँख बाँधनेको कपड़ा मँगवाया और उनकी आँखमें कुछ लगाकर पट्टी बाँध दी। फिर वे सज्जन चले गये।

बब्बाजीने रोटी खाते समय यह वृत्तान्त मेरी माताजीसे कहा। पिताजी भी उन दिनों घरपर ही थे। सबकी सलाह हुई कि आँखें बनवा लेनी चाहिये। मेरी दादीजी भी आँखें बनवानेको बड़ी उत्सुकतासे तैयार हुई। मेरी माने कई दिनके लिये आटा पीस रखा, क्योंकि आँख बननेके बाद घरमें कई दिन चक्की चलाना उचित नहीं होता। मेरे पिताजीने भी बाजारसे चीनी, घी, मेवा आदि सब पदार्थ आँखें बनवानेके बाद प्रयोगमें आते हैं, लाकर रख लिये।

उन सज्जनके बतलाये हुए दिन सबेरेसे ही उनकी प्रतीक्षा होने लगी। सब लोग घर ही रहे, पर कोई न आया। दूसरा दिन भी यों ही निकल गया। संध्या-समय मेरे बब्बाजीसे न रहा गया, उन्होंने मेरी माके सामने पट्टी उतारकर फेंक दी। पट्टी खोलते ही वे चिल्ला उठे—‘बहूजी, बहूजी! मुझे खूब दिखायी पड़ता है।’ मैं भी वहीं था, मुझे उठाकर बब्बाजीने गोदमें ले लिया। बार-बार मेरा मुँह चूमते थे। कहते थे कि ‘तेरा मुँह तो देखा ही नहीं था।’ उस समय बब्बाजीकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। वे बार-बार यही कहते थे ‘मेरे शिवजी मेरी आँखें बना गये हैं।’ मेरी माकी और मेरी आँखोंमें भी उस समय आँसू आ गये।

दूसरे दिनसे ही बब्बाजी फिर अपने पाठादिमें पूर्ववत् लग गये और मरते समयतक उन्हें आँखका कोई कष्ट नहीं हुआ। मेरे पिताजी और माताजी अब भी इस घटनाकी बात कहते हैं तो सबको रोमाञ्च हो जाता है।



‘अयोध्याकी घटना’—समस्या और समाधान

पिछले दिनों ६ दिसम्बरको अयोध्यामें जो घटना घटी और उसके बाद देश जिस तरहसे साम्प्रदायिक उन्मादकी ज्वालामें जल उठा, उसने देशके सामने गम्भीर, भयावह और आशंकाभरे प्रश्न खड़े कर दिये। हिंसा और उन्मादको रोकने, सद्भावना स्थापित करने और देशकी स्थितिको पूर्णरूपसे सामान्य बनानेके लिये देशमें आज जो चिन्ता व्याप्त है वह उचित है, किंतु जो उन्माद अयोध्यामें उत्पन्न किया गया और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप जो हिंसा हुई तथा पुनः जो राजनीतिक उन्माद उत्पन्न किया जा रहा है उसका कोई औचित्य नहीं दिखलायी पड़ता। अयोध्यामें जो घटना घटी, उस भूलका यह अर्थ नहीं है कि हम अपने देशमें अशान्ति उत्पन्न कर दें। हिन्दुओं और मुसलमानों—दोनोंको जब इस देशमें एक साथ रहना है तो इन्हें एक दूसरेका सम्मान करना होगा और इस देशकी जो मुख्य राष्ट्रिय और सांस्कृतिक धारा है उसके प्रति दोनोंको नमन करना होगा। स्थिति सामान्य बनानेके लिये इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प नहीं। महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरूसे लेकर आजतक देशके जो भी कर्णधार हुए हैं, उन सभीने बार-बार यही कहा है कि ‘देशकी मुख्य धारासे जुड़कर सभीको रहना चाहिये।’ पर ऐसा हो नहीं पा रहा है। वास्तवमें देशके जिम्मेदार लोगोंको इस ओर ही प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है, तभी वास्तविक शान्ति और स्थिति सामान्य बन सकेगी।

मनुष्य जबतक पापको पाप समझता है, तबतक वह पापसे बचता है। कभी परिस्थिति या किसी लोभ-विशेषके कारण वह पाप कर भी लेता है, तो पीछे पश्चात्ताप करता है, पर जब पापसे घृणा हट जाती है और उसमें बुद्धिमानी तथा गौरवका बोध होने लगता है, पापमें पुण्य-बुद्धि हो जाती है, तब पापसे बचना बहुत कठिन हो जाता है, फिर तो पापके नये-नये तरीके निकलते रहते हैं। इस प्रकार पापको पुण्य, अधर्मको धर्म या अन्यायको न्याय मानते-मानते बुद्धि इतनी तमसाच्छन्न हो जाती है कि फिर सभी चीजें उसे उलटी दीखने लगती हैं—

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(गीता १८।३२)

ऐसा स्वार्थ और कामोपभोगपरायण लोभग्रस्त तामसी मनुष्य या समाज क्रमशः मानवताको खोकर दानव या असुर बन जाता है फिर ऐसा कोई जघन्य कार्य नहीं जो वह नहीं कर सकता।

आज देशमें जो हिंसात्मक घटनाएँ घट रही हैं वे अभूतपूर्व हैं, पूर्वकालमें कोई भी अनैतिक कार्य—हिंसा और हत्या प्रच्छन्न-रूपसे छिपकर व्यक्तिगत रूपसे होती थी, परंतु आजकल यह हत्या और हिंसा खुले रूपमें बिना किसी डर-भयके हो रही है, इन तत्त्वोंका दुस्साहस धीरे-धीरे इतना अधिक बढ़ता जा रहा है कि वे समाज और देशमें आसुरी वृत्तियोंसे युक्त होकर बिना किसी कारण शान्तिप्रिय निर्दोष नागरिकोंकी हत्या करनेमें कोई संकोच नहीं करते। घृणा, द्वेष और क्रोधकी पराकाष्ठा इतनी चरम सीमापर पहुँच गयी है कि वे अपने अस्तित्वको मिटाकर भी दूसरेका विनाश करना चाहते हैं। यह एक अत्यन्त भयावह स्थिति है। देशवासियोंको इस स्थितिका मुकाबला करना होगा। हिंसाको रोकनेके लिये हर प्रयत्न करने होंगे, जिससे यह हिंसा रुके। यह हिंसा तभी रुक सकती है, जब देशके राजनीतिक दल अपनी संकीर्णता और स्वार्थपरताका परित्याग करके भारतीय मनको, भारतीय संस्कृतिको, भारतीय मूल्यों और आदर्शोंको भारतीयताके परिप्रेक्ष्यमें समझनेकी चेष्टा करें।

इतिहास इस बातका साक्षी है कि भारतीय संस्कृतिमें आस्था रखनेवाले लोगोंने कभी भी जोर-जबरदस्ती या तलवारके बलपर अपनी श्रेष्ठता या प्रभुताका प्रदर्शन करनेके लिये न तो कोई मन्दिर बनवाये और न कोई अन्य उपासना-स्थल तोड़े, किंतु दुर्भाग्यवश अन्य संस्कृतियोंमें पलनेवाले कुछ विदेशी आक्रमणकारियोंके द्वारा यह कुकृत्य इस देशमें किया गया ताकि भारतीय स्वाभिमान और गौरव पददलित हो जाय और उसकी जो चेतनशक्ति है वह भी पराजित हो जाय। जिस राष्ट्रकी आध्यात्मिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना और स्वाभिमान पराजित हो जाता है, वह राष्ट्र फिर आक्रमणकारी शक्तिका मनसे गुलाम हो जाता है, यह एक निर्विवाद मनोवैज्ञानिक सत्य है।

सच्ची बात तो यह है कि मन्दिरको गिराकर उसके खण्डहरपर मस्जिद नहीं बनायी जा सकती और मस्जिदको गिराकर उसके खण्डहरपर मन्दिर नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि दोनों ही भारतीय संस्कृतिके प्रतिकूल हैं, पर हमें इसकी गम्भीरतापर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। हमने पहले भी यह लिखा है कि 'श्रीरामजन्मभूमि कोई मन्दिर-मस्जिदका विवाद नहीं है, कारण, मन्दिर तो कहीं भी बनाया जा सकता है, इसी तरह मस्जिद भी कहीं रखी जा सकती है, परंतु जन्मभूमिका स्थान बदला नहीं जा सकता। वह भी ऐसी जन्मभूमि; जो साक्षात् परब्रह्म परमात्माके अवतारकी भूमि हो। यह जन्मभूमि करोड़ों-करोड़ देशवासियोंका दिव्य स्मृति-स्थल है, जो अति पवित्र है।'

सहिष्णुता भारतीय संस्कृतिकी मुख्य धाराका एक प्रमुख अंश है। इस राष्ट्रकी मुख्य धारा सहिष्णुतापर आश्रित है। पर दूसरी संस्कृति सहिष्णुतापर आश्रित नहीं और न उससे परासूत। इसीलिये पिछले वर्षोंमें कश्मीरमें जो सैकड़ों मन्दिर तोड़ डाले गये और ऐसे-ऐसे पुरातन मन्दिरोंको तोड़ डाला गया जो हजारों वर्षों पहले बने थे। साथ ही इन दिनों भी पाकिस्तान और बंगलादेश तथा ब्रिटेन आदि देशोंमें सैकड़ों हिन्दू-मन्दिर तोड़ डाले गये, जिसपर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की गयी और न उस तरहकी संवेदनशीलता दिखायी गयी जैसी संवेदनशीलता उस ढाँचेको लेकर दिखायी जा रही है जिसे बाबरने बनवाया था। कुछ लोगोंके अनुसार जो शायद कभी मस्जिद भी नहीं थी, कारण, वहाँ चार सौ वर्षोंमें नमाज नहीं पढ़ी गयी। मस्जिदमें मीनार होती है जो उसमें नहीं थी। वुजू करनेके लिये कुँआ होता है जो उसमें नहीं था। वह तो केवल एक ढाँचा मात्र था। जो इधरके पचास वर्षोंसे एक मन्दिरके रूपमें प्रस्थापित था।

वास्तवमें ६ दिसम्बरको अयोध्यामें मस्जिद नहीं, बल्कि मन्दिर गिराया गया। जबतक यह स्पष्टता राजनीतिक स्तरपर अब नहीं होती, तबतक देश भटकता रहेगा। भारतमें हिन्दू और मुसलमान दोनोंकी ही रहना है, क्योंकि दोनों इसी धरतीकी संतानें हैं। लेकिन इन दोनोंमेंसे कोई यह कहे कि भारत उसकी मातृभूमि नहीं है, वह इसे नमन नहीं करेगा और यदि कहे कि वह इस देशके पूर्वजोंसे प्यार नहीं करेगा, उन्हें

सम्मान नहीं देगा, उनसे प्रेरणा नहीं लेगा तो ऐसी मानसिकतामें सुधार लानेके लिये समुचित मार्ग-दर्शनकी आवश्यकता होगी, क्योंकि यह मानसिकता घोर असहिष्णुता और मातृ-भूमिके प्रति अश्रद्धाकी द्योतक है।

आज कुछ लोग यह कहनेमें भी गौरवका अनुभव करते हैं कि जहाँ विवादित ढाँचा था, उसपर पुनः मस्जिदका निर्माण करा दिया जाय। यह बात तो कभी मनमें भी नहीं आनी चाहिये, कारण, इस प्रकारकी कल्पना अथवा भावना देशमें द्वेष, क्रोध और घृणाका सृजन करनेमें सहायक होगी।

भारतवर्ष जो आध्यात्मिकताकी भूमि थी, आज विशेष रूपसे तमसाच्छन्न है, त्यागपूर्ण आध्यात्मिक भावनाका भी बड़ी तेजीसे नाश हो रहा है। नैतिक स्तर गिर रहा है। सदाचार, संयम, सत्य, त्याग, कर्तव्यपरायणता, ईश्वरनिष्ठा और ईमानदारी आदि सदगुणोंके विनाशमें दक्षता समझी जा रही है, सर्वत्र असत्य, असंयम, नास्तिकता, दम्भ, मान, द्वेष और वैरका निर्लज्ज नृत्य अथवा स्वार्थपरायणताका नग्न ताण्डव है। मानवजीवनमें प्रमादका पूर्ण विस्तार हो रहा है। इसी जीवनकी ओर बड़ी तेजीसे पथभ्रष्ट हुए कुछ लोग दौड़ लगा रहे हैं, इसका परिणाम शान्ति, सद्भाव और सुख कैसे होगा? यह रोग तो प्रायः सर्वत्र ही फैल रहा है, पर देशके कुछ भागोंमें बे-लगाव हो गया है। आज जो देशमें घोर अशान्तिका वातावरण है, उसका कारण यही महारोग है; कोढ़को महारोग कहते हैं, पर यह सत्तालोलुपता, स्वार्थ और कामासक्ति-जनित प्रमाद तो मनका महारोग है। शरीरका महारोग तो मिट भी जाता है, पर यह मानस महारोग सहजमें पीछा नहीं छोड़ता।

वास्तवमें 'स्वार्थपूर्ण कामनाओंकी पूर्तिमें सुख है', यह धारणा ही भ्रान्त है। जबतक यह भ्रान्ति नहीं मिटेगी, तबतक वास्तविक सुख दूर-से-दूर हटता चला जायगा। अतः विश्वात्मा सर्वान्तर्यामी परमात्मप्रभुसे यह प्रार्थना करनी चाहिये कि वे जगत्के जीवोंकी असत्-बुद्धिका विनाश कर उन्हें सन्मार्गकी ओर अग्रसरित करते हुए स्नेह-सद्भाव और शान्तिका अवलम्बन प्रदान करें।

—राधेश्याम खेमका

‘कल्याण’के पंद्रहवर्षीय ग्राहक बनें

‘कल्याण’का पंद्रहवर्षीय सदस्यता-शुल्क रु० ५००.०० (सजिल्द विशेषाङ्कका रु० ६००.००) है। व्यक्तिके अतिरिक्त फर्म, प्रतिष्ठान आदि संस्थागत ग्राहक भी बन सकते हैं। आवश्यकतानुसार उक्त अवधिमें उत्तराधिकारीको भी ग्राहक बनाया जा सकता है। इस अभिनव योजनासे सभीको अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिये।

‘कल्याण’के पिछले वर्षोंके कुछ प्राप्य विशेषाङ्क

मत्स्यपुराण (पूर्वार्ध) सानुवाद—वर्ष ५८वाँ, मूल्य रु० २४.०० (डाकखर्चसहित)

योगतत्त्वाङ्क—वर्ष ६५वाँ, मूल्य रु० ५५.०० (डाकखर्चसहित)

संक्षिप्त भविष्यपुराणाङ्क—वर्ष ६६वाँ, मूल्य रु० ५५.०० (डाकखर्चसहित)

‘कल्याण’का वर्तमान (जनवरी, १९९३ का) विशेषाङ्क

‘शिवोपासनाङ्क’

स्वयं ग्राहक बनिये एवं इष्ट-मित्रोंको बनाइये!

[वार्षिक शुल्क रु० ५५.००, पंद्रहवर्षीय
शुल्क रु० ५००.०० (डाकखर्चसहित)]

व्यवस्थापक—‘कल्याण’ कार्यालय,

पो०-गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५ (उ०प्र०)

Be subscriber of English Periodical

THE KALYANA-KALPATARU

[Period extends from Oct. to Sept.]

Annual subscription Rs. 40-00 only.

HANUMĀN-NUMBER

(Vol. XXXVIII No. 1

October 1992)

Manager—‘THE KALYANA-KALPATARU’

Po. Gita press, Gorakhpur 273005

श्रीहनुमान-अङ्क (सचित्र)

सहृदय पाठकोंकी विशेष माँगपर आजसे अठारह वर्ष-पूर्व—सन् १९७५ई०में ‘कल्याण’के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित—‘श्रीहनुमान-अङ्क’ पुनर्मुद्रित होकर अब ग्रन्थाकारमें सुलभ है। इसमें श्रीहनुमान्जीका आद्योपान्त जीवन-चरित्र—जन्मसे लेकर अबतक—उनके अमर बने रहकर किये गये क्रिया-कलापोंका तात्त्विक एवं प्रामाणिक सुरुचिपूर्ण चित्रण है। श्रीहनुमान्जीको तत्काल प्रसन्न करनेवाले विविध स्तोत्र, यन्त्र, मन्त्र, ध्यान और पूजन-पद्धतियों आदि साधनोपयोगी बहुमूल्य सामग्रीका भी इसमें उल्लेखनीय समावेश है। पृष्ठ-संख्या ५२०, बहुरंगे चित्र ८, मूल्य रु० ४०.००, डाकखर्च रु० ८.०० अतिरिक्त।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

पुनर्मुद्रित परमोपयोगी ग्रन्थ

पदरत्नाकर (सचित्र)

परम श्रद्धेय नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित यह काव्य-संग्रह अपने नामके अनुरूप श्रीराधा-माधव-युगल तथा श्रीकृष्णकी रसमयी व्रज-लीलाओंके सजीव शब्द-चित्रों और अमूल्य भाव-रसरत्नोंका समुद्र (रत्नाकर) है। इसमें सहस्रों सरस पदोंके रूपमें दिव्य मधुर लीलाओंके चित्रणके साथ चेतावनी, वैराग्य, उद्धोधन और आत्म-प्रबोधविषयक अनेक प्रेरक पद भी दिये गये हैं। अधिकांश पद व्रजभाषामें तथा परम्परागत शास्त्रीय गेय शैलीमें हैं। भक्ति तथा प्रेमके उत्कृष्ट भावोंको उजागर करनेवाली श्रीपोद्दारजीकी यह रससिद्ध रचना आनन्द, प्रेम और शान्तिका संचार करनेवाली, नित्य मननीय और भगवत्प्रेमका रसास्वादन करानेमें विशेष सहायक हो सकती है।

पृष्ठ-संख्या ९७६, बहुरंगे चित्र ८, बहुरंगा आकर्षक आवरण, मूल्य रु० ३५.०० डाकखर्च रु० १३.०० अतिरिक्त। कुछ समयसे समाप्त इस ग्रन्थका प्रेमी महानुभावोंकी माँगपर पुनर्मुद्रण किया गया है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

- (१) कलकत्ता—गोविन्दभवन-कार्यालय; फोन: ३८६८९४
१५१, महात्मा गाँधीरोड। पिन ७००००७ „ ३८०२५१
- (२) दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—
२६०९, नयी सड़क। पिन ११०००६ „ ३२६९६७८
- (३) पटना—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—
अशोक-राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर
फाटकके सामने। पिन ८००००४
- (४) कानपुर—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; नं०
२४/५५, बिरहाना रोड। पिन २०८००१ „ २५२३५१
- (५) वाराणसी—गीताप्रेस, कागज-एजेन्सी; ५९/९, नीची-
बाग। पिन २२१००१ „ ६३०५०
- (६) हरिद्वार—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; सब्जी
मण्डी, मोतीबाजार। पिन २४९४०१

- (७) ऋषिकेश—गीताभवन, गङ्गापार, पो० स्वर्गाश्रम। फोन: १२२
पिन २४९३०४

स्टेशन-स्टाल

- (१) दिल्ली-जंक्शन, प्लेटफार्म नं० १, (२) नयी दिल्ली, प्लेटफार्म नं० ८-९,
(३) अन्तर्राज्यीय बस-अड्डा-दिल्ली, (४) निजामुद्दीन, (नयी दिल्ली)
प्लेटफार्म नं० ४-५, (५) कानपुर, प्लेटफार्म नं० १, (६) गोरखपुर, प्लेटफार्म नं० १,
(७) वाराणसी, प्लेटफार्म नं० ३, (८) हरिद्वार, प्लेटफार्म नं० १, (९) कोटा
(राजस्थान) प्लेटफार्म नं० १, (१०) पटना-जंक्शन, पुस्तक-ट्रॉली,

अन्य अधिकृत पुस्तक-विक्रेता

गीताप्रेस-पुस्तक-प्रचार, केन्द्र

बुलियन विल्डिंग, जौहरी बाजार, जयपुर-३

फोन: ५६३३७९

‘कल्याण’ नामक हिन्दी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

- १-प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर,
२-प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक,
३-मुद्रक एवं प्रकाशकका नाम—
रामदास जालान;
(गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये)
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय,
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर,
४-सम्पादकका नाम—राधेश्याम खेमका,
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय,
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर,

५-उन व्यक्तियोंके नाम-पते
जो इस पत्रिकाके मालिक
हैं और जो इसकी पूँजीके
भागीदार हैं।

श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय,
पता—नं० १५१, महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता,
(पश्चिम बंगाल सोसाइटी पंजीयन अधिनियम
१९६१के अन्तर्गत पंजीकृत एक सोसाइटी)।

मैं रामदास जालान गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

दिनाङ्क १-२-९३

रामदास जालान
(गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये)
प्रकाशक

वर्ष



प्रभु करि कृपा पाँवरी दीनी ।
सादर भरत सीस धरि लीनी ॥

कल्याण

वर्ष ६७

संख्या ५

हे राम हे राम राम राम हे हे । हे कृष्ण हे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे हे ॥

(संस्करण २,००,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, वि० सं० २०५०, श्रीकृष्ण-सं० ५२१९, मई १९९३ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अक्रूरजीको राम-कृष्णके दर्शन	५२९	१०-'मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की' (प्रो० श्रीपशुपतिनाथजी उपाध्याय)	५५३
२-कल्याण (शिव)	५३०	११-मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी कुछ सहायता कर सकता हूँ	५५५
३-सबमें निष्काम प्रेम और शोक-निवृत्तिके उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका- द्वारा गीताभवन, स्वर्गाश्रममें दिये गये प्रवचनका अंश) ..	५३१	१२-प्रश्नोत्तर [एक सत्संगी भाईद्वारा ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजसे पूछे गये प्रश्न और उनके उत्तर]	५५६
४-'उठ नाम ले' (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ) ..	५३९	१३-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	५५७
५-तृष्णा (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	५४०	१४-शिवभक्त महाकाल [भक्त-गाथा]	५५८
६-स्वभाव नहीं बदलता (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)	५४३	१५-मातासे याचना	५६२
७-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	५४७	१६-पढ़ो, समझो और करो	५६३
८-सेवा-धर्म (डॉ० श्रीनरेशकुमारजी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच्० डी०)	५४९	१७-मनन करने योग्य	५६४
९-व्यक्तित्वकी दासता	५५१	१८-कल्याणका मार्ग	५६६
		१९-आगामी ६८वें वर्ष (सन् १९९४ ई०) के विशेषाङ्क 'श्रीरामभक्ति-अङ्क' की विषय-सूची	५६८

चित्र-सूची

१-भरतको पादुका-दान	(इकरंगा)	आवरण-पृष्ठ
२-राम-श्यामके समीप अक्रूरजी	(रंगीन)	मुख-पृष्ठ
३-कालभीतिके सामने शिवलिङ्गका प्राकट्य	(रेखा-चित्र)	५६१

प्रत्येक	साधारण	{ जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनंद भूमा जय जय ॥ जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥ जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥	{ कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ५५.०० रु० विदेशमें ९ डालर (अमेरिकन)
अङ्कका	मूल्य		
भारतमें	२.५० रु०		
विदेशमें	२० पेंस		

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

ई०

या

५३

५५

५६

५७

५८

५९

६०

६१

६२

६८

४

४

१

वर्षिक

हित)

००००

डालर

कन)





आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

वर्ष ६७ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, वि०सं० २०५०, श्रीकृष्ण-सं० ५२१९, मई १९९३ ई० { संख्या ५
पूर्ण संख्या ७९८

अक्रूरजीको राम-कृष्णके दर्शन

ददर्श कृष्णं रामं च ब्रजे गोदोहनं गतौ । पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥
किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ । सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विदविक्रमौ ॥
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्ब्रजम् । शोभयन्तौ महात्मानावनुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥
रथान्तूर्णमवपुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः । पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः ॥

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् !) ब्रजमें पहुँचकर अक्रूरजीने श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाइयोंको गाय दुहनेके स्थानमें विराजमान देखा । श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण किये हुए थे और गौरसुन्दर बलराम नीलाम्बर । उनके नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए थे । उन्होंने अभी किशोरावस्थामें प्रवेश ही किया था । वे दोनों गौर-श्याम निखिल सौन्दर्यकी खान थे । घुटनोंका स्पर्श करनेवाली लंबी-लंबी भुजाएँ, सुन्दर वदन, परम मनोहर और गजशावकके समान ललित चाल थी । उनके चरणोंमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश और कमलके चिह्न थे । जब वे चलते थे, उनसे चिह्नित होकर पृथिवी शोभायमान हो जाती थी । उनकी मन्द-मन्द मुसकान और चितवन ऐसी थी, मानो दया बरस रही हो । वे उदारताकी तो मानो मूर्ति ही थे × × × । उन्हें देखते ही अक्रूरजी प्रेमावेगसे अधीर होकर रथसे कूद पड़े और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामके चरणोंके पास साष्टाङ्ग लोट गये । (श्रीमद्भा० १०।३८।२८—३०, ३४)

कल्याण

तुम यदि निराशा, असफलता, दुःख, शोक, विषाद, अशान्ति, अवनति, दुर्गति, अवरोध, कलह, युद्ध, भय, बन्धन, बीमारी और विनाश आदिकी बातें सोचते रहोगे, मनमें इन्हींकी कल्पना करके इन्हींके विविध भयानक चित्रोंको देखते रहोगे, तो याद रखो—तुम्हारी कल्पनाके ये चित्र बाहर भी तुम्हारे लिये वैसा ही भयानक वातावरण, वैसे ही बुरे संयोग, वैसे ही असाधारण कारण और अन्तमें वैसे ही परिस्थिति पैदा कर देंगे। मनमें जैसा संकल्प होता है, वैसा ही परिणाम भी होता है।

अतएव यदि शुभ परिणाम चाहते हो, तो नित्य शुभ संकल्प करो। उत्साह, सफलता, सिद्धि, सुख, आनन्द, आह्लाद, शान्ति, उन्नति, विकास, प्रेम, सेवा, निर्भयता, मुक्ति, स्वस्थता और निर्माणके सुन्दर सुशोभन संकल्प करो। इनसे तुम्हारा चित्त-क्षेत्र बहुत ही निर्मल सुगन्धिसे भर जायगा। फिर बाहरके वातावरण, संयोग, कारण और परिस्थिति भी ठीक वैसी ही बन जायगी। जीवन अपरिमित, अपूर्व सुख-शान्तिसे ओतप्रोत हो जायगा।

याद रखो—जो लोग दिन-रात अशुभ संकल्प करते रहते हैं, वे स्वयं तो दुःखी रहते ही हैं, जगत्को भी स्वाभाविक ही अपने अशुभ भावोंका दान देकर—उन्हें फैलाकर सबको न्यूनाधिकरूपसे दुःखी करते हैं। इसी प्रकार शुभ संकल्प करनेवाले पुरुष स्वयं सुखी होते हैं और संसारके सब प्राणियोंको भी सुखी करते हैं।

यह भी याद रखो कि सारे शुभका परम आधार है—ईश्वरमें विश्वास। समस्त शुभ विचार, शुभ संकल्प, शुभ गुण और शुभ भाव ईश्वर-विश्वाससे ही उदय होते और टिकते हैं। जिसका ईश्वरमें विश्वास नहीं, वह शुभ संकल्प और शुभ पदार्थोंका उत्पादन, संग्रह, संवर्धन और संरक्षण नहीं कर सकता। उसका चित्त बरबस अशुभकी ओर प्रवृत्त होता है।

जिसका ईश्वरमें विश्वास होगा, वही यह समझेगा कि

दुनिया जो कुछ है सब ईश्वर है, और दुनियामें जो कुछ है सब ईश्वरका है तथा वही अपनेको और अपने सब कुछको ईश्वरके अर्पण कर सकेगा। इस प्रकार जो अपना सर्वस्व ईश्वरके अर्पण कर देता है, उसका फिर जगत्के साथ केवल पवित्र सेवाका सम्बन्ध शेष रह जाता है। वह केवल सेवाके लिये ही जीवन-धारण और जीवनके समस्त कार्योंका यथाविधि सम्पादन करता है। क्योंकि वह सचराचर प्राणीमें अपने प्रभुको देखता है—**‘मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥’**

इस प्रकारके विश्वासी सेवकमें सारे सद्गुण, सारे सद्विचार, सारे सत्संकल्प अपने-आप ही आ जाते हैं—उसके चित्तमें कभी अशुभका, असत्का उदय ही नहीं होता। वह सर्वथा और सर्वदा नित्य नयी-नयी उमंगसे अपने प्रभुके सुखमय स्मरणके साथ-साथ उनकी सेवाके ही शुभ संकल्प किया करता है और इसी आनन्दमें निमग्न रहता है कि प्रभु कृपापूर्वक सेवामें उसे निमित्त बनाते हैं और उसकी सेवा स्वीकार करते हैं।

उसको न अपनेमें मोह-ममता रहती है और न तो जगत्के किसी पदार्थमें ही। वह अपने शरीरकी तथा जगत्के पदार्थोंकी इसीलिये देख-रेख करता है कि वे प्रभुकी सेवाके साधन हैं। ऐसी अवस्थामें उसके अन्तःकरणमें अशुभका तो कोई लेश रहता ही नहीं, वरं वह आग्रहपूर्वक किन्हीं शुभ संकल्पोंको भी अपनेमें रखनेका प्रयत्न नहीं करता, वे तो उसी प्रकार अनिवार्यरूपसे उसके हृदयमें स्वाभाविक ही बने रहते हैं, जैसे चन्द्रमाके साथ उसकी निर्मल शीतल सुधामयी ज्योत्स्ना और सूर्यके साथ उसका प्रखर प्रकाश रहता है।

जबतक ऐसा न हो, तबतक सत्संग, स्वाध्याय और भजनके द्वारा ईश्वरमें विश्वास बढ़ानेकी तथा बार-बार अशुभ संकल्पोंको हटाकर शुभके स्मरण, संवर्धन और संरक्षणकी सतत चेष्टा करते रहो।—**‘शिव’**

सबमें निष्काम प्रेम और शोक-निवृत्तिके उपाय

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा गीताभवन, स्वर्गाश्रममें दिये गये प्रवचनका अंश)

सबमें भगवद्बुद्धि और प्रेम हो जाय तो बेड़ा पार है। बढ़ानेका उपाय है सबको मान देना।

सबके साथ हमलोगोंको निष्कामभावसे प्रेम करना चाहिये या भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये प्रेम करना चाहिये। भगवान् और महात्माजनोंको छोड़कर संसारमें जितने प्राणी हैं—देवता, मनुष्य, यक्ष-राक्षस आदि सभीमें गुण-अवगुण होते हैं। गुणोंका वर्णन तो करना चाहिये, किंतु किसीके दोषका वर्णन नहीं करना चाहिये। किसीमें अवगुण नहीं बल्कि गुण ही देखना चाहिये। हम किसीके गुणोंका वर्णन करें तो उसका हमारेमें प्रेम होगा, हमारा उसके साथ प्रेम बढ़ेगा किंतु गुणोंका गान सच्चा करना चाहिये, झूठा नहीं। झूठे गुणगानसे कोई असर और लाभ नहीं होता। यदि कोई भी मनुष्य झूठसे लाभ उठाना चाहे तो वह गलत रास्तेपर है। गुणोंका गान करनेसे अच्छे पुरुष, देवतागण तथा जिनसे ऊँचा और कोई नहीं, वे भगवान् भी खुश हो जाते हैं। नीच और बदमाश भी गुणोंका गान करनेसे खुश हो जाता है। इसी प्रकार यदि हम किसीको मान दें तो उससे भी वह खुश होता है। भगवान् स्वयं तो अमानी हैं, किंतु वे भी दूसरोंको मान देते हैं—‘अमानी मानदः’।

हमलोगोंको भी भगवान्से यह बात सीखनी चाहिये कि स्वयं तो मान चाहें नहीं और दूसरोंको मान दें। हम दूसरोंको मान देंगे तो उसके साथ हमारा प्रेम अवश्य ही बढ़ेगा। मान देनेसे, कीर्तिगान करनेसे और हित करनेसे प्रेम बढ़ता है। यह प्रेम बढ़ानेका अकाट्य उपाय है। हम देवताओंको मान देंगे तो वे खुश होंगे, भगवान्को मान देंगे तो वे खुश होंगे। नीच-से-नीच आदमीका मान करेंगे तो वह खुश होगा, यहाँतक कि यदि हम कुत्तेका भी मान करेंगे तो वह भी खुश होगा। आप करके देखिये, कोई कुत्ता है और उसे पुचकारिये, मान करिये, बुलाइये तो वह खुश हो जायगा और उसका तिरस्कार तथा अपमान करेंगे तो उसका चेहरा उदास होगा और वह निराश होकर चला जायगा। इससे यह बात सिद्ध होती है कि मान देनेसे कुत्ता भी खुश होता है। नीच और बदमाश आदमी भी खुश होता है और साधु-संत भी मान पाकर खुश होते हैं, भगवान् भी राजी होते हैं, अतः सबसे प्रेम

समस्त जगत्को भगवान्की प्रजा समझकर प्रेम करे तथा इससे बढ़कर सबको अपनी आत्मा समझकर प्रेम करे और इससे भी बढ़कर सबको भगवत्स्वरूप समझकर प्रेम करना चाहिये। भगवान्का स्वरूप कैसे कि यह समस्त संसार भगवान्का संकल्प है, जैसे मनोराज्य और सपनेका संसार अपना संकल्प है। ‘परमात्माका संकल्प होनेसे उनका स्वरूप ही है’—यह समझकर सबसे प्रेम करना चाहिये, सबकी सेवा करनी चाहिये। सबकी सेवासे सबमें प्रेम होता है। रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सो अनन्य जाकेँ असि मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(४।३)

‘चराचर भगवान्का स्वरूप है, भगवान् स्वरूपकी राशि हैं और मैं उनका सेवक हूँ’—इस प्रकार जिसकी मति हर समय अटल रहती है, भगवान् कहते हैं वह मेरा अनन्यभक्त है, तो यह भगवान्की अनन्यभक्ति भी है और उच्चकोटिका प्रेम भी हो जाता है। ऐसा प्रेम हम निष्कामभावसे करें, स्वार्थको त्याग करके करें तो उससे हमारी आत्मा शुद्ध होती है और परमात्माका ज्ञान होता है और फिर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

अब दूसरी बात बतायी जाती है। आजकल किसीका जवान लड़का मर जाता है, उसे बड़ा दुःख होता है। किसीका जामाता मर जाता है, उसे बड़ा दुःख होता है। किसीकी स्त्री मर जाती है तो उसे बड़ा दुःख होता है। इस प्रकार घरमें जितने हैं वे सभी मरेंगे और एक-एकका दुःख होगा तो हम थोड़ा विचारपूर्वक एक ही दिन सब बात समझ लें तो दुःख हो तो एक ही दिन हो जाय फिर आगे कभी दुःख हो ही नहीं, अतः दुःखका तो अन्त ही कर देना चाहिये। यदि मनुष्यका शरीर पा करके भी हमने दुःखका अन्त नहीं किया तो फिर पशु-पक्षीकी योनिमें दुःखका अन्त तो होना ही नहीं है। यह मनुष्यका शरीर आपको भगवान्ने दुःखोंका अन्त करनेके लिये ही दिया है। जो बात बीत गयी उसके लिये शोक करना मूर्खता है। इसी बातको एक स्थलपर कहा गया है—‘गतं न शोचामि कृतं न

मन्ये ।' जो बात बीत जाती है, उसका न तो मैं शोक करता हूँ और न अपनी बड़ाई ही करता हूँ तो मैं मूर्ख कैसे ? तो जो आदमी बीती हुई बातको सोचता है वह मूर्ख है ।

कोई भी घरमें मर जाता है तो मैं सबके लिये एक व्यापक बात कहता हूँ । स्त्रीका पति मर जाता है, पतिकी स्त्री मर जाती है, किसीका भाई मर जाता है, किसीका बाप मर जाता है, किसीकी मा मर जाती है, किसीकी लड़की मर जाती है, किसीका लड़का मर जाता है—ये तो मरते-जन्मते रहते हैं । समझो कि हमारी लड़की थी, उसका विवाह कर दिया, गौना कर दिया और वह मर गयी । अब उसकी हम चिन्ता-शोक करें तो हमारी गलती है । इसी प्रकारसे हमारा जवान लड़का यदि मर गया, उसका हम शोक करें तो हमारी मूर्खता है । इस प्रकारका उत्तम विचार रखना चाहिये । भगवान् ने हमें लड़की दी, लड़का दिया । हम उनकी सेवा करते हैं, उनकी शादी करते हैं तो उन लोगोंका जो पूर्वका ऋण था वह खाता बराबर हो गया तो भगवान् ने उनको बुला लिया । हमारे यहाँ वे रहते, उसकी अपेक्षा भगवान् के यहाँ चले गये तो अच्छी बात हुई । भगवान् के यहाँ जो सुख है वह हमारे यहाँ नहीं है । हम तो मोहवश चाहते हैं कि यहाँ ही रहे । नरसिंह मेहताका लड़का मरा तो वे नाचने लगे, कीर्तन करने लगे और बोले कि भगवान् ने बहुत बड़ा उपकार किया जो मेरे लड़केको अपने पास बुला लिया । इसी प्रकार अपने घरमें कोई पैदा हो तो उसका कोई भार नहीं समझना चाहिये । भगवान् ने इसे हमारे यहाँ भेजा है । भगवान् का भेजा हुआ समझकर हम उसकी सेवा करते हैं तो भगवान् बड़े खुश होते हैं और जब वह यहाँसे बिदा हो जाता है तो वहाँ उसकी और अच्छी सेवा होती है । इसके लिये हम क्यों चिन्ता करें ? देखो, यहाँ बहुत-से भाई लोग आते हैं । आये हुए भाई लोगोंकी बड़ी प्रसन्नता और आनन्दके साथ सबको मिलकर सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये । वे चले गये तो दूसरे आये, उनकी सेवा करनी है और वे चले गये और फिर दूसरे आये तो उनकी सेवा करनी है, तात्पर्य हमलोगोंको हर समय सेवा करनी है, ऐसा समझो कि आनन्द लूटना है । जो चले गये, हमको उनकी चिन्ता नहीं करनी है, वे जहाँ जायँगे वहाँ भगवान् ने उनके लिये पहलेसे ही प्रबन्ध कर रखा है । हम क्यों चिन्ता करें ? इसी प्रकार अपने घरमें

जो जन्म लेते हैं उनकी सेवा करनी है और मर गये तो वे जहाँ जायँगे, वहाँ उनकी सेवा होगी । भगवान् का सब जगह प्रबन्ध है अन्यथा यहाँसे जो लोग बिदा होकर चले गये हैं उनके लिये भी हमको चिन्ता करनी पड़े । यहाँ दस दिन रहे, पंद्रह दिन रहे, उनकी सेवा-शुश्रूषाका प्रबन्ध किया, अब वे चले गये तो उनको दूसरी जगह न मालूम क्या-क्या दुःख-सुख होता होगा, यह अपनेको क्या मालूम । अपनेको तो यही समझना चाहिये कि यहाँसे अधिक सुख सब जगह है । यह हमारी कमी है कि हम अधिक सेवा-खातिरी नहीं कर सके । आगे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि हम और अधिक सेवा करें । यह हमारा कर्तव्य होना चाहिये । किंतु यहाँसे बिदा होनेके बाद अपनी कोई जिम्मेदारी नहीं है । सब जगह उनकी खातिरी अधिक-से-अधिक होती रहती है । भगवान् ने सब जगह उनका प्रबन्ध कर रखा है । इसी प्रकार अपने घरमें कोई आदमी मर जाय उसकी भी चिन्ता - शोक नहीं करना चाहिये । शोक और चिन्ताको पासमें नहीं आने देना चाहिये ।

यही बात अब दूसरी दृष्टिसे कही जाती है—जैसे कोई भाई हमारे यहाँ रुपयोंकी थैली रख जाय और कह जाय कि हम बदरिकाश्रम, गङ्गोत्तरी, कर्णप्रयाग, देवप्रयाग जाते हैं । यह रुपयोंकी थैली आप तिजोरीमें रख लें । पाँच-दस दिनके बाद लौटकर वापस आता है तो कहता है कि साहब ! हम तीर्थ हो आये, लाओ हमारी थैली । यदि हम थैली देनेमें आपत्ति करें तो हम चोर हैं । अमानत-रूपमें जो थैली हमारे पास रखी उसे देनेमें आना-कानी करें तो अत्याचार करते हैं और दे करके यदि पश्चात्ताप करते हैं तो यह भी गलती है कि देखो उसकी थैली अपने हाथमें आ गयी थी, तिजोरीमें रख दी थी, अब उसे निकालकर हमने दे दी । यह ईमानदारीका काम नहीं है । इसी प्रकार भगवान् ने हमारे पास लड़का या लड़की भेजी यानी एक थैली अमानतरूपसे भेजी और जब भगवान् उसे वापस लौटा लेते हैं तब दुःख किस बातका ? भगवान् की चीज थी वे ले गये । लड़कीको उसका पति गौनेमें ले जाता है तो हम रोवें क्यों ? उसकी चीज थी वह ले गया । हमने उसे खुशीसे दे दी, अथवा हम खुशीसे यदि न दें और वह खुद आकर अपनी पत्नी ले जाय तो हम चिन्ता क्यों करें ? इसमें तो अधिक सुख होना चाहिये । इसी प्रकार यदि कोई मर जाय या भगवान् के

घर चला जाय तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये, बल्कि भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो ! इसकी आत्माको शान्ति मिले ।

यदि ज्ञानकी दृष्टिसे हम विचार करें तो जैसे एक मुसाफिरखानेमें सब लोग इकट्ठे होते हैं और अपने-अपने समयके अनुसार चले जाते हैं तो कोई भी किसीकी चिन्ता-शोक नहीं करता । रेलगाड़ीके डिब्बेमें एक साथ बहुतसे भाईलोग यात्रा करते हैं और अपने-अपने स्टेशनपर उतर जाते हैं तो शेष लोग सोचते हैं कि बहुत अच्छा हुआ, गाड़ी तो खाली हुई । अपने खूब भजन-ध्यान करते हुए चलो । ऐसे ही घरका आदमी मर गया तो घर रेलके डिब्बे-जैसा खाली हो जाता है, समझो उसका स्टेशन आ गया, वह उतर गया । तो खूब भजन-ध्यान करना चाहिये । छोटा बच्चा मर जाय तो समझना चाहिये कि यह उतर गया तो ठीक है, क्योंकि उसका स्टेशन आ गया था, यहीतकका उसने टिकट लिया था ।

यदि कहो कि स्त्रीके लिये तो पति ही सबसे बढ़कर है और पतिकी आयु समाप्त हो गयी तो पति मर गया, युवावस्थामें ही विधवा हो गयी । बहुत ही दुःखकी बात है, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जो कुछ होता है सब भगवान्की दृष्टिमें होता है, भगवान्की इच्छासे होता है, अतः भगवान्की इच्छामें ही अपनी इच्छा मिलानी चाहिये । भगवान्की इच्छाके बिना कोई मरता नहीं, भगवान्की इच्छासे, भगवान्के हुकुमसे ही कोई आदमी मरता है । कोई भी मर गया तो खुश होना चाहिये । उस स्त्रीको भी यह समझना चाहिये कि भगवान्की मेरे ऊपर यह बड़ी भारी दया है । यदि कहो कि यह दया समझमें नहीं आती, तो कौन-सी दया समझमें आती है ? स्त्री मिले, रुपये मिले, पुत्र मिले और संसारके पदार्थ मिलें तो भगवान्की दया है और ये चले जायें तो भगवान्का हमलोग कोप समझते हैं, अपने पापका फल समझते हैं । किंतु विचार करके देखें कि भगवान् हमें पुत्र, स्त्री, धन, मकान, रुपये और ऐश्वर्य दें तो यह उनकी साधारण दया है, लेकिन यदि वापस ले लें तो भगवान्की विशेष दया समझनी चाहिये । दें तो कम दया और वापस लें तो अधिक दया है । यह हमारा शरीर यदि आरोग्य रहे तो भगवान्की कम दया है, बीमार रहे तो अधिक दया है । यदि कहो कि हम

समझे नहीं इस बातको तो समझो कि भगवान् पुण्यका फल देते हैं । स्त्री, पुत्र, धन, विद्या, ऐश्वर्य, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा और शरीरमें आरोग्यता—ये सब चीजें जो भगवान् देते हैं तो यह पुण्यका फल है, यह भगवान्की दया है, तो इसमें थोड़ा ख्याल यह करना चाहिये कि ये देनेसे आपका पुण्य क्षय होता है कि नहीं ? ये चीजें आपके पुण्यके फलस्वरूप मिल गयीं तो पुण्यका खाता बराबर हो गया और पापका खाता खड़ा है ।

भगवान्के यहाँ आपका एक पुण्यका खाता है और एक पापका । आपने जो पुण्य किया था, उस पुण्यके बदले स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य—ये सब चीजें आपको दे दीं । यह आपका पुण्यका खाता बराबर कर दिया । दूसरे दिन तुम मर गये । पुण्यका खाता तो बराबर हो गया और सब पदार्थ यहीं रह गये और तुम रोते-रोते यहाँसे चले गये । क्या लाभ हुआ, भगवान्ने तुमको किसलिये दिया था ? इसलिये दिया था कि इसके द्वारा तू मेरी प्राप्ति कर । इन चीजोंके द्वारा भगवान्की प्राप्ति कैसे होती कि जब भगवान्के काममें इन चीजोंको हम लगा देते । हमने जो अच्छा काम किया, पुण्य किया, उसका फल भगवान्ने दिया । अब हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये ? हम प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये, उनकी प्राप्तिके लिये उसीको सौंप दें, उसीको समर्पण कर दें । इसमें एक प्रकारसे हमारी बुद्धिमानी है और उसका फल है भगवान्की प्राप्ति । यदि रुपयोंको भी भगवान्के काममें लगा दें, शरीर आरोग्य है तो भगवान्के काममें लगा दें, जो कुछ भी भगवान्ने दिया है वह सब भगवान्के काममें लगा दें तो यह भगवान्की बड़ी भारी कृपा है ।

ठीक है, तब तो भगवान्की कृपाका फल (लाभ) आपको हुआ । तो भगवान्ने हमको ये सब चीजें इसलिये दी थीं कि इनसे लाभ उठाना चाहिये । परमात्मामें इनको लगाना चाहिये और हम नहीं लगा रहे हैं । उस समय भगवान् उनका विनाश करते हैं । क्योंकि भगवान् कहते हैं कि इसमें फँस करके आगे जाकर इसकी दुर्गति होगी । इसमें यह समझना चाहिये कि भगवान् हमारे पाससे उसे हटा लेते हैं, यह भगवान्की विशेष दया है । भगवान् हमें बीमारी भेजते हैं तो इसका अर्थ है कि हमने कोई पाप किया था, उस पापके फलस्वरूप हमको बीमारी भेजी, रोग हमको प्राप्त हुआ, हम उसे भोग रहे हैं और

उसे भोग लिया तो हमारा जो पाप है वह दूर हो गया। जितना भी कष्ट मिला वह पापका फल है और उस कष्टको हम स्वीकार कर लेते हैं तो पापका भोग हो जाता है। तो हम पापके ऋणसे मुक्त हो जाते हैं। भगवान् पापोंसे मुक्त करनेके लिये ये संसारके दुःख भेज रहे हैं। भीष्म पितामह जब शरशय्यापर पड़े थे तो भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि प्रभो ! मैंने जो पाप किये हैं उनको आप रोगके रूपमें भेज दीजिये तो मैं पापोंके ऋणसे मुक्त हो जाऊँ और फिर मेरा संसारमें जन्म न होवे। भीष्मजी तो चाहते हैं कि हमने जो पाप किये हैं उसका फल हमको इसी शरीरमें भुगता देवें। दूसरे जन्मके लिये न रखें। वे समझदार थे, बुद्धिमान् थे, वे तो माँग पेश करते हैं। यह बात महाभारतमें आयी है।

दूसरी बात यह है कि रोगके भोगनेके समयमें समझदार और शास्त्रोंपर विश्वास करनेवालोंको यह बात भी याद आती है कि जो हम बीमारी भोग रहे हैं यह मेरे पापका फल है। भविष्यमें हमें पाप नहीं करना चाहिये अन्यथा इसी प्रकारसे पापका फल भोगना पड़ेगा। तो वे सावधान हो जाते हैं और नये पाप करनेमें हिचकते हैं, यह भी हमारे लिये लाभकी बात है।

तीसरी हमारे लाभकी बात यह है कि ऐश-आराममें, भोग-प्रमादमें हम भगवान्को भूल जाते हैं और जब मार पड़ती है तब भगवान् याद आते हैं। यह भी भगवान्की दया है कि भूले-भटकोंको भगवान् याद दिलाया करते हैं। जब मार नहीं पड़ती तो भगवान् कम याद आते हैं, इसलिये भगवती कुन्तीदेवीने कहा कि हे प्रभो ! संकटके समयमें आपकी स्मृति विशेष होती है। इसलिये मैं तो यही चाहती हूँ कि आपत्ति सदा हममें बनी रहे। किसी भक्तने भी कहा है कि—

सुखके माथे सिल पड़े जो नाम हृदयसे जाय।

बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाय ॥

भक्तका यह कहना है कि जिस सुखसे भगवान्की विस्मृति हो उस सुखके ऊपर पत्थर पड़े अर्थात् मैं उस सुखको नहीं चाहता। जिस दुःखसे भगवान्की स्मृति हो उस दुःखकी बलिहारी है अर्थात् वह दुःख बार-बार आये। तो किसी भी प्रकारका जब दुःख प्राप्त होता है तो उससे बड़ा लाभ होता है।

विधवा माताओंका प्रकरण चल रहा था। उसमें हमने यह कहा कि जिनके पति मर गये उन्हें यह समझना चाहिये

कि यह भगवान्का विधान है। भगवान्की इच्छासे यह बात हुई है और इसमें भी भगवान्की दया समझनी चाहिये। इस प्रकार भी नहीं समझमें आये तो ऐसे सोचना चाहिये कि यदि पति जीवित होते तो लड़के-लड़की होते। तो उनकी विवाह-शादी करनी पड़ती। घरमें जवाईँ आता, लड़केकी बहू आती, सास-बहूमें लड़ाई होती तो रात-दिन घरमें क्लेश होता। जवाईँ मर जाता तो घरमें बेटी विधवा होकर रहती। उसका एक क्लेश बढ़ता। भगवान्ने बड़ा अच्छा किया। भगवान् यह चाहते हैं कि तुम भजन-ध्यानमें लगे। हाड़-मांसके पुतले इस सांसारिक पतिको क्या पति बनाती है, मुझ परमात्माको पति बना। इस प्रकारसे भगवान्ने बड़ी दया की, वे अपने परमधाममें बुलाना चाहते हैं। तो जो स्त्री पतिके मरनेके बाद भगवान्को ही अपना सर्वस्व मान ले और समझे कि भगवान् ही हमारे माता-पिता हैं, भगवान् ही हमारे गुरु हैं और भगवान् ही हमारे पति और हमारे सर्वस्व हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

भगवान्ने अपने भजनमें लगानेके लिये सभी रुकावटें दूर कर दीं, किंतु यदि उसने कोई लड़का गोद ले लिया, उसका विवाह-शादी किया तो वह स्वयं ही अपने ऊपर झंझट लेती है तो उसका फल तो आगे जाकर उसे ही भोगना है, अतः स्त्रीको अपनी तरफसे कुछ भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि पति चला गया, पुत्र चला गया, वह तो भगवान्की मर्जीसे गया। स्त्रीने तो पतिको मारा नहीं, उसने तो कुछ किया नहीं। वह घटना अपने-आप घट गयी। भगवान्की इच्छासे हुई, उसमें तो खुशी ही होनी चाहिये। प्रभु जो कुछ करता है वह अच्छा ही करता है, अतः उसमें आनन्द मानना चाहिये और खूब भगवान्से प्रेम बढ़ाना चाहिये। इसपर लोकमें प्रचलित एक छोटी-सी कहानी इस प्रकार है—

एक समय भगवती उमादेवी (पार्वती) शिवजीसे कहने लगीं—‘महाराज ! आप भगवान्के भक्तकी प्रशंसा किया करते हैं। भक्तोंका दर्शन मुझे भी करा दें।’ वे बोले—‘बहुत ठीक’ और उनको एक वैश्यके पास ले गये। स्वयं ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया और साथमें भगवती पार्वतीको ब्राह्मणी बना करके वहाँ पहुँचे। अतिथि समझकर वैश्यने इनकी बड़ी

सेवा की। उसके घरमें दो-एक बकरियाँ थीं। उनका दूध निकाल करके उसकी खीर बनाकर खीर-पूड़ी खिलायी और खूब सेवा की। जाते समय शिवजीने कहा कि 'तेरी सब बकरियाँ मर जायँ।' यह सुनकर पार्वती बहुत नाराज हुई, बोली—'महाराज ! इसने तो आपकी इतनी सेवा की और आपने इसे शाप दे दिया।' शिवजी बोले—'इसका कारण तुमको एक सालके बाद बताऊँगा।' पार्वतीने कहा—'ठीक है।' एक वर्ष बीत गया। पार्वती और शिवजी वहाँ जाकर देखते हैं कि वहाँ न तो उसकी स्त्री है और न कोई बकरी है, सब मर गये और वह वैश्य एकान्तमें बैठकर भजन-ध्यानमें मस्त है। इसकी बकरियाँ भी मर गयी हैं और स्त्री भी मर गयी है। अकेला अपना भजन-ध्यानमें लगा हुआ है। शिवजीने कहा कि देखो, यह भजन-ध्यान करता है और मस्त है तो इस समय यदि यह बकरियाँ रखता तो बात ठीक थी या अब भगवान्‌के भजन-ध्यानमें मस्त है यह बात ठीक है ? पार्वती बोली—'यही ठीक है।' तो शिवजी बोले—'तो बोलो मैंने उस समय इसे शाप दिया या वरदान दिया ? मैंने इसके हितके लिये ही ऐसा काम किया। अब इसके कोई झंझट नहीं, कोई बाल-बच्चा नहीं, सब झगड़े समाप्त। अब अपना भजन-ध्यान करता है, हानि तो हमारे स्वार्थकी हुई। क्योंकि पहले इसने आनेपर इतनी सेवा की थी अब पूछा भी नहीं। उसे पता भी नहीं कि हम इसके यहाँ आये और इसे कोई लाग भी नहीं। लाग भी तब हो जब वह जिम्मेदारी समझे। अब अकेला है, ध्यानमें मस्त है।' यदि भगवान्‌ घरमें सबका सफाया कर दें तो अकेला भजन-ध्यान करे तो अच्छी बात है और यह भी अच्छी बात है कि भगवान्‌ यदि लड़का-लड़की दें तो उनसे भी हमको नफरत नहीं करनी चाहिये। जो कुछ भी भगवान्‌का विधान है उसमें ही खुश रहना चाहिये। पैदा हो तो आनन्द, मर जाय तो आनन्द और लाखों रुपये चले जायँ तो आनन्द, आ जायँ तो आनन्द। शरीरमें बीमारी पैदा हो तो आनन्द और मिट जाय तो आनन्द। आनन्दको निरन्तर कायम रखना चाहिये। आनन्द तभी कायम रह सकता है कि जब कभी कोई घटना हो तो उसे भगवान्‌की कृपा समझे। भगवान्‌का विधान समझे और यह समझे कि यह भगवान्‌का मङ्गलमय विधान है। इसे भगवान्‌की लीला समझकर खुश होना चाहिये। जो

कुछ अपने-आप संसारमें हो रहा है उससे खुश होना चाहिये। संसारमें जो जन्म लेगा वह मरेगा। यहाँ बैठे हम सभीमें कोई भी ऐसा नहीं जो नहीं मरेगा। कौन कब मरे, दस वर्षमें, बीस वर्षमें, पचास वर्षमें, इसका मुझको बिलकुल भी पता नहीं है। लेकिन यह हमको पता है कि सौ वर्षके भीतर-भीतर सब मर जायँगे। यदि कहो कि भविष्यकी बात आपने कैसे कही तो हमने सोच-समझकर यह बात कही है। निश्चय ही सौ वर्षके बाद भी कोई जीता रहे यह सम्भव नहीं। इसलिये यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है और न ही किसीको रहना निश्चित है, मरेंगे यह निश्चित है। अधिक-से-अधिक अवधि हमने बतायी है। आजसे लेकर सौ वर्षकी अवधिसे अधिक किसीकी भी आयु नहीं है। अब आपको ख्याल करना चाहिये कि सब मरनेवाले ही हैं, कोई कल मरे तो कोई परसों मरे, दो महीनेमें मरे तो क्या और दस वर्षमें मरे तो क्या ? आखिरमें तो मरना ही है। इसलिये उसकी चिन्ता क्यों करे ?

यहाँकें कुटुम्ब, रुपये, ऐश्वर्य, मकान आदिसे आपका निश्चय वियोग होगा। जब एक दिन वियोग होना ही है तो रुपये गये तो वियोग हुआ और हम गये तो वियोग हुआ, मकानमें हम मर गये तो वियोग हुआ या मकान गिर गया, भूकम्पमें नष्ट हो गया तो वियोग हुआ, सभी चीजें नष्ट होनेवाली हैं। लाख जतन करनेपर भी कोई भी चीज स्थिर नहीं रह सकती। मकान आदि जड़ या चेतन—जिन पदार्थोंके साथमें आपका सम्बन्ध है उन सबके साथमें सम्बन्ध-विच्छेद होनेवाला है। यदि आप खुशीसे इनका सम्बन्ध छोड़ देंगे तो बड़े आनन्दकी बात है और भगवान्‌ आपका सम्बन्ध छुड़ा दें और उसपर भगवान्‌की दया मानकर आप खुश हो जायँ तो भी आनन्द-ही-आनन्द है और नहीं तो इसके विपरीत आपको दुःख-ही-दुःख है। यदि कोई चीज नष्ट होगी और आप उसका संयोग चाहेंगे तो आपको दुःख होगा। आप यहाँसे बिदा होंगे, इनको छोड़कर जायँगे तो आपको दुःख होगा और यदि पहलेसे ही इनसे स्नेह-प्रेम हटाकर निश्चिन्त हो करके बैठेंगे तो आनन्द ही मिलेगा। जैसे टिकट कटाकर मनुष्य बैठता है और अपने गन्तव्य स्थानपर जाना चाहता है और प्रतीक्षा करता है कि अब गाड़ी आये तो बैठ जायँ। इसी प्रकार मृत्युकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। तैयार होकर प्रभुके पास, अपने मित्र

भगवान्के पासमें जाना है, जल्दीसे-जल्दी अपना जाना हो जाय तो अच्छी बात है। इसी प्रकारसे सभी पदार्थ हैं। उन सभी जड़-चेतन पदार्थोंसे पहलेसे ही स्नेह तोड़ देना चाहिये। जड़ पदार्थ क्या है ? रुपये, ऐश्वर्य—ये सब जड़ पदार्थ हैं। चेतन क्या है ? अपना कुटुम्ब, इन सबसे प्रेम हटाकर एक भगवान्से प्रेम करना चाहिये। भगवान्में प्रेम क्यों करना चाहिये? इसलिये कि भगवान् कभी मरते नहीं। भगवान्के साथ हमारा संयोग हो जायगा तो फिर कभी वियोग होनेका नहीं। जिस चीजसे अन्तमें वियोग होना है, आखिरमें संयोगका त्याग ही करना है, उससे पहलेसे ही स्नेह तोड़ देना चाहिये। विचारके समयमें ही अपनेको जो सुख-दुःख होगा वह होगा, फिर भविष्यमें कभी नहीं होगा। सारे संसारके पदार्थ दुःखरूप और नाशवान् हैं, ऐसा समझ करके तथा उनके साथ विचार करके सबसे अपना स्नेह हटाकर केवल एक भगवान्से प्रेम करना चाहिये। इन पदार्थोंके साथ जो हमने प्रेम किया यह बड़ी भारी गलती की; क्योंकि ये सभी मरणधर्मा हैं। उनसे प्रेम करनेसे क्या लाभ ? जो चीज रहनेवाली नहीं, थोड़े दिनके लिये उससे प्रेम क्यों करे ? प्रेम तो उससे करना चाहिये जो चीज स्थिर रहनेवाली है। वह है परमात्मा। उसे छोड़कर संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सदैव स्थिर रहे।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(५।२२)

‘इन्द्रियोंके जितने भोग हैं और इनसे जो सुख हैं वे दुःखके हेतु हैं। आदि और अन्तवाले हैं ऐसा समझकर ज्ञानी-विवेकी इनमें नहीं रमते।’ संसारके किसी पदार्थमें न तो प्रेम करना चाहिये, न उसका संग करना चाहिये। न उसके नष्ट होनेसे रोना चाहिये और न पैदा होनेसे उसमें हर्ष मानना चाहिये। भगवान् गीताका उपदेश देते हुए सार बात कहते हैं। दूसरे अध्यायके ११वें श्लोकसे भगवान् उपदेश आरम्भ करते हैं, भगवान् कहते हैं—थोड़ा आँख खोलकर देखो—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो शोक करनेके योग्य नहीं हैं उनके लिये तू शोक करता है और बातें पण्डितोंकी-सी करता है। किंतु पण्डित नहीं है। ‘गतासूनगतासूंश्च’ जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये पण्डित—ज्ञानी—विद्वान् लोग शोक नहीं करते। उनके लिये मूर्ख लोग शोक करते हैं, अज्ञानीजन शोक करते हैं। भगवान्का कहना है कि शोक करने लायक कोई भी नहीं है, फिर जो मर गये हैं उनके लिये शोक किस बातका ? जो मर गये वे मर गये। वे वापस लौटकर आनेके नहीं तो उनके लिये शोक करना व्यर्थ है। उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ? इतना ही सम्बन्ध था कि उनके साथ हमारा लेन-देन था। सब छूट गया, हिसाब डेढ़ा हो गया, बड़ी अच्छी बात हुई, वे अपने रास्ते चले गये, उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। आत्माकी दृष्टिसे भी शोक नहीं करना चाहिये, भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-

त्रायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(२।२०)

यह आत्मा न जन्म लेता है न मरता है। यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर आत्माका नाश नहीं होता। आत्माके लिये शोक नहीं करना चाहिये और शरीरके लिये भी शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि शरीर रहनेकी चीज नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

(२।२८)

सारे भूत-प्राणी आदिमें भी निराकार थे, शरीरधारी नहीं थे और भविष्यमें भी। बीचमें थोड़े समयके लिये शरीरवाले प्रतीत होते हैं। वह शेष हो जायगा तो उसके लिये क्या शोक है ? रात्रिमें स्वप्नमें कहीं राज्य मिल गया जो न कल था और न आज है तो हम उसके लिये क्यों शोक करें ? वास्तवमें विचार करें तो हमें न तो शरीरकी दृष्टिसे और न ही आत्माकी दृष्टिसे शोक करना चाहिये। न शरीरके बदलनेका ही शोक करना चाहिये, क्योंकि—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

(२।१३)

जिस प्रकार जीवात्माका शरीर बालक-अवस्था, युवावस्था, वृद्धावस्थावाला होता है, उसी प्रकार देहान्तरकी प्राप्ति होती है, किंतु जो धीर हैं, ज्ञानी हैं वे इसमें मोहित नहीं होते, मूर्खलोग ही मोहित होते हैं ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(२।२२)

जैसे पुराने वस्त्रोंको छोड़कर मनुष्य नये दूसरे वस्त्रोंको धारण कर लेता है, उसी प्रकारसे यह जीवात्मा पुराने शरीरको छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण कर लेता है, इसमें शोककी कौन-सी बात है । तो इस प्रकारसे भगवान्ने उपदेश देकर यही बताया है कि न तो शरीरकी दृष्टिसे शोक करना चाहिये और न आत्माकी दृष्टिसे । इसी प्रकार रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें भी ताराको बालिके मरनेपर जब वह व्याकुल होकर विलाप कर रही है, रो रही है, उस समय भगवान् श्रीराम उसे उपदेश देते हैं—

छिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित अति अधम सरीरा ॥

प्रगट सो तनु तव आगें सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥

(११।४-५)

वे कहते हैं—तारे ! आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—इन पाँच भूतोंसे निर्मित यह अधम-अपवित्र, पापी शरीर पड़ा है, इसके लिये यदि रोती हो तो यह तो कहीं गया नहीं, यहीं मौजूद है और यदि आत्माके लिये तू रोती है तो आत्मा तो नित्य, सत्य वस्तु है उसका कभी नाश होता नहीं । तुम्हारे रोनेका क्या कारण है वह बता । यह सुनते ही ताराको ज्ञान हो गया तो उसने भगवान्से श्रेष्ठ भक्तिका वर माँग लिया—

उपजा ग्यान चरन तब लागी । लीन्हेंसि परम भगति बर माँगी ॥

(११।६)

उसके हृदयमें उसी समय ज्ञान उत्पन्न हो गया, क्योंकि उपदेश स्वयं भगवान् थे । उसको ज्ञान हो गया और भगवान्के

चरणोंमें गिर गयी और भगवान्की परम भक्तिको उसने वररूपमें माँग लिया तो इससे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि उसका रोना बेकार था । इस बातको ध्यानमें रखकर हर एक माता-बहनोंको जिनका पति मर गया हो इस उपदेशको याद करना चाहिये, यह भगवान्द्वारा ताराके निमित्त दिया हुआ सबके लिये उपदेश है । हर एक माता-बहनोंको भगवान्के चरणोंमें नमस्कार करके उनकी परम भक्ति माँग लेनी चाहिये । इसी प्रकार घरमें कोई भी मर गया है तो गीताको पढ़कर यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यह शरीर तो नाशवान् है, इसके लिये शोक करनेकी आवश्यकता नहीं, आत्मा जो अविनाशी है, उसके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं । और शरीर जब पुराना हो जाता है तो बदलना आवश्यक है । जैसे कपड़ा पुराना होता है तो उसको बदल लेते हैं । बदल लेनेपर प्रसन्नता होती है, ऐसे ही प्रसन्नता ही होनी चाहिये । कभी भी चिन्ता और शोक नहीं करना चाहिये । वैराग्यकी दृष्टिसे विचार करके देखें तो जितना बड़ा कुटुम्ब रहता है उसमें आसक्ति होनेके कारण उतनी ही जप-ध्यानमें कमी रहती है । चित्तमें वैराग्य हो जाता है तब ये चीजें उसको अच्छी नहीं लगतीं । एकान्त स्थान उसको अच्छा लगता है, कुटुम्बकी वृद्धिको देखकर घबराता है । वैराग्यकी दृष्टिसे हम देखें तो बहुत ज्यादा कुटुम्बका होना हमारे लिये अच्छा नहीं है । परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक नहीं है । इन सब बातोंको हम याद करें, अतः वैराग्यकी दृष्टिसे भी हमें शोक नहीं करना चाहिये । कोई घरमें मर गया हो तो ज्ञानकी दृष्टिसे भी शोक नहीं करना चाहिये । जैसे गीता और रामायणका दृष्टान्त देकर बतलाया गया ।

भक्तिकी दृष्टिसे ख्याल करके देखें तो भी शोक नहीं करना चाहिये । क्योंकि भगवान्की चीज भगवान्के पास चली गयी । सब भगवान्की चीजें हैं, उन्होंने माँगा लीं तो हमारे लिये अच्छी बात है । समझो कि जिनके प्राण चले गये उनके लिये भी शोक करनेकी जरूरत नहीं । जिनके प्राण अन्तमें जानेवाले हैं तो उनके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं कि ये बने रहें । भगवान् जो कुछ करते हैं उसीमें हमको आनन्द मानना चाहिये, प्रसन्न रहना चाहिये । सबमें भगवान्का दर्शन करके सबकी सेवा करनी चाहिये और प्रत्येक क्रियाको भगवान्की लीला समझना चाहिये । जो कुछ भी हो रहा है उसे

देखकर खुश होना चाहिये। जो होना है वही होगा, उसमें हेर-फेर तो होना नहीं है, फिर हम चिन्ता-शोक और भय करके अपने जीवनको क्यों नष्ट करें। माता-भाइयोंको इस तरफ ध्यान देना चाहिये।

आप ख्याल करें कि प्रह्लादके ऊपर एकसे बढ़कर एक आपत्ति आती रही। उसके ऊपर हर समय अत्याचार होते रहे और प्रह्लादके मनमें प्रसन्नता बढ़ती रही। प्रह्लाद इस तत्त्वको समझता था कि यह सब भगवान्की तरफसे ही यातना है, भगवान्का विधान है और इसमें मङ्गल भरा हुआ है, अतः यह भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार है। उसको आगमें बैठा दिया तो वह आग भी शीतल हो गयी और वह आनन्दमें मुग्ध हो रहा है। उसने कभी यह बात नहीं कही कि हमारे ऊपर अत्याचार हो रहा है, हमें बड़ा भारी कष्ट दिया जा रहा है। हे प्रभो ! हे परमात्मा ! इस कष्टको मिटाओ। इस कष्टको दूर करो, मैं आपका भक्त हूँ, मुझको इस कष्टसे बचाओ। प्रह्लादने कहीं भी यह बात नहीं कही। यदि यह बात ऊँचे दर्जेकी होती तो प्रह्लाद भी कहता। यह तो हमलोगोंकी कमजोरी, बेसमझी है कि उसको मिटानेके लिये प्रयत्न करते हैं, चेष्टा करते हैं, प्रार्थना करते हैं, भगवान्के मङ्गल-विधानको माननेमें तो जल्दी अपना काम सिद्ध हो जाता है। देखिये, प्रह्लादको कितना समय लगा ? थोड़े समयमें भगवत्प्राप्ति हो गयी। ध्रुवको साढ़े पाँच महीने कितना कष्ट हुआ। असुरलोग आकर तकलीफ देने लगे, किंतु ध्रुवके हृदयमें किंचित् भी भय नहीं हुआ। उसके ऊपर कितनी आपत्ति आयी, इसका ध्रुवने कभी विचार भी नहीं किया। ध्रुव और प्रह्लादको याद करके हम विचारते हैं तो हमें निश्चय होता है कि कोई भी घटना हमारे मनके विपरीत आकर प्राप्त हो तो भगवान्की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। भगवान्की विशेष दया समझनी चाहिये कि समय-समयपर भगवान् हमारी परीक्षा करते रहते हैं। इसमें कभी फेल नहीं होना चाहिये। दुःखके ऊपर दुःख, आपत्तिके ऊपर आपत्ति आने लगे तो हमारे सारे पाप शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं और आगे चलकर देखते हैं तो भगवान् खड़े हैं। जैसे ध्रुव और प्रह्लादने भगवान्को देखा। आपने आपत्तिकी तरफ ख्याल किया, किंतु उसके फलकी

तरफ ख्याल नहीं किया। तो आपको फलकी तरफ ख्याल करना चाहिये। साढ़े पाँच महीने ध्रुवने बड़ी तकलीफ पायी, बादमें ध्रुवको साक्षात् भगवान् विष्णु मिल गये। प्रह्लादने भी तकलीफ पायी, किंतु छोटी अवस्थामें ही उनको भगवान् मिल गये।

इस प्रकार कैसी भी विपत्ति आकर प्राप्त हो तो उसे भगवान्का पुरस्कार मानकर हँसते रहना चाहिये। कोई भी काम हो उसीमें सहमत हो जाना चाहिये कि यह भगवान्की इच्छा है, भगवान्की इच्छामें ही अपनी इच्छा, भगवान्की खुशीमें ही अपनी खुशी, निजकी कोई भी इच्छा नहीं, कोई भी मरजी नहीं, यह हमारे लिये परम सौभाग्यकी बात है। इस तरह अपना जीवन बितानेसे बहुत जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान्के भेजे हुए दुःखमें सुख-बुद्धि करनी चाहिये। जैसे माता लड़केको मारती है तो उस मारमें अमृत भरा है, सुख भरा हुआ है, लड़केका हित भरा हुआ है। उस मारमें जो हित है वह तो थोड़ा है, अल्प है और भगवान्की मारमें जो हित है वह बड़ा भारी है। वह बड़ी मा है, उसका हृदय लाखों, करोड़ों माताओंसे भी बढ़कर है। हमको थोड़ा विश्वास रखना चाहिये, धैर्य रखना चाहिये कि भगवान् हमको मार रहे हैं, तकलीफ पहुँचा रहे हैं तो इसमें बड़ा भारी हित है। हमारी समझमें नहीं भी आये तो यह बात हमको मान लेनी चाहिये। गुरु जो मारता है उसमें भी हित है, किंतु भगवान्-जितना नहीं। तो ऐसा समझकर हमको हँसते रहना चाहिये। कोई भी काम हो भगवान्की लीला समझनी चाहिये। वस्तुमात्रमें भगवान्के स्वरूपका अनुभव करना चाहिये और चेष्टामात्र जो हो रही है अपने-आप हो रही है, अनिच्छासे, परेच्छासे हो रही है वह भगवान्की लीला है। जो अनिच्छासे हो रहा है, उसको खुद कर रहे हैं और जो परेच्छासे कोई कार्य हो रहा है तो उसको भगवान् करवा रहे हैं। इसमें भगवान्का हाथ है ऐसा समझकर हमको खुश होना चाहिये कि हमारे मित्र, प्रेमी, मालिक, भगवान्का हाथ है फिर दुःख होनेका कोई कारण नहीं। दुःख होता है तो हमारी मूर्खता, नासमझी है। शास्त्रों और महात्माओंपर विश्वास करके भगवान्की लीलामें हर समय हमें खुश रहना चाहिये।

'उठ नाम ले'

(महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

उठ रे जाग !

कौन हो तुम ?

अरे मैं हूँ, जिसे तू पुकारता है। वही मैं आया हूँ—उठ नाम ले।

मेरे प्रियतम ! तुम आये हो ! मैंने तुम्हें कितना पुकारा है, तुम्हारे लिये मैं कितना रोया हूँ, कितने दिन बाद तुम्हें सुधि आयी है ? किंतु तुम कहाँ हो ? किस ओर ?

क्या तू मुझे देख नहीं पाता ?

मैं तो तुम्हें देख नहीं पाता।

मैं तो तेरे सामने हूँ, तेरे पास हूँ, पीछे हूँ, ऊपर हूँ, नीचे हूँ, अंदर-बाहर सभी जगह तो समाया हुआ हूँ, अरे मैं तो अखिल विश्वमें व्याप्त हूँ। मुझसे पृथक् जगत्में कुछ नहीं है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

(गीता १५।१५)

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

मैं पृथिवीरूप हूँ—मेरी वन्दना कर नाम ले। मैं जल हूँ—मुझे प्रणाम कर नाम ले। मैं अग्नि, वायु, क्षुद्र तथा बृहत् हूँ—सत्-असत् जो कुछ देख रहा है या सुन रहा है, सब मैं ही हूँ, दसों दिशाओंमें मेरे कान हैं—तेरी प्रत्येक पुकार, प्रत्येक बात मैं सुनता हूँ, मैं बधिर नहीं हूँ। पुकार-पुकार

मेरा नाम ले, मैं तुझे आज्ञा देता हूँ, जबतक जिह्वा स्ववशमें है, तबतक तू अविराम नाम ले। फलाफल, शान्ति या अशान्तिकी तू चिन्ता मत कर, यह मेरा आदेश है, इसमें ही मैं संतुष्ट रहूँगा, यही समझकर तू मेरा नाम ले। सुन, तेरे मुखसे नाम सुननेमें मुझे बड़ा मधुर लगता है, तभी तो तेरे पास-पास घूमता हूँ और कहता हूँ कि नाम ले। तुझमें कपट तथा संसारमें आसक्ति है, इसलिये नाम लेनेमें भय क्यों ? तेरा पाप, स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति, आधि-व्याधि सब नष्ट कर दूँगा। अरे, तू नाम ले।

मैं सर्वभूतोंका सुहृद् हूँ, तुझे संसारकी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी—ले मेरा नाम मङ्गलमय। मैं तेरा मङ्गल ही कर रहा हूँ, करता आया हूँ और करता ही रहूँगा। नाम ले। तू लोक-संगमें चञ्चल हो जाता है—नाम नहीं ले सकता ? विश्वास नहीं रख पाता है ? तू लोक-संगका त्याग कर दे।

विषयोंमें उन्मत्त होनेसे दुःख भोगना ही पड़ेगा। निर्जन मुझे बड़ा प्रिय है। तू निर्जनमें बैठे नाम ले और मैं बैठे-बैठे सुन लूँ। मुझे तू देख नहीं पाता है—ऐसा कहकर आक्षेप न कर, मैं समयकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ, समय होते ही दिखायी पड़ूँगा। नाम ले शान्ति मिलेगी, नाम ले अमर होगा, नाम ले जीवन्मुक्त हो जायगा। मैं कह रहा हूँ—नाम ले, यह समझकर नाम ले कि मैं सुन रहा हूँ।

श्रीराम राम रामेति ये वदन्त्यपि सर्वदा।

तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः ॥

'भगवान्के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्के प्रभाव और प्रेमरहस्यकी बातें सुननी चाहिये और उन्हींके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे उद्धारमें कोई शंका नहीं है।'

'समय बीत रहा है, बहुत सोच-समझकर इसे कीमती काममें लगाना चाहिये। वह कीमती काम भगवान्का भजन और संतोंका संग ही है।'

'भगवान्को सर्वोत्तम समझनेके बाद एक क्षणके लिये भी भगवान्का ध्यान नहीं छूट सकता। जबतक भगवान्के ध्यानका आनन्द-रस नहीं मिलता, तभीतक वह संसारके विषयोंकी धूल चाटता है।'

'जो मनुष्य संसारके क्षणभंगुर, नाशवान् पदार्थोंको सच्चा और सुखदायी समझकर उनका चिन्तन करता है, उनसे प्रेम करता है और अज्ञानसे उनमें अपना जीवन लगाता है, वह महामूर्ख है।'

तृष्णा

[तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः]

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

बुढ़ापा आ गया, इन्द्रियोंकी शक्ति जाती रही, सब तरहसे दूसरोंके मुँहकी ओर ताकना पड़ता है, परंतु तृष्णा नहीं मिटी। 'कुछ और जी लूँ, बच्चोंके लिये कुछ और कर जाऊँ, दवा लेकर जरा ताजा होऊँ तो संसारका कुछ सुख और भोग लूँ। मरना तो है ही परंतु मेरे हाथसे लड़केका विवाह हो जाय तो अच्छी बात है, दूकानका काम बचे ठीकसे सँभाल लें, इतना-सा उन्हें और ज्ञान हो जाय', बहुतसे वृद्ध पुरुष ऐसी बातें करते देखे जाते हैं। मेरे एक परिचित वृद्ध सज्जन जो लगभग करोड़पति माने जाते हैं और जिनके जवान पौत्रके भी संतान मौजूद है, एक बार बहुत बीमार पड़े। बचनेकी आशा नहीं थी। बड़ी दौड़-धूप की गयी, भाग्यवश उस समय उनके प्राण बच गये। मैं उनसे मिलने गया, मैंने शरीरका हाल पूछकर उनसे कहा कि 'अब आपको संसारकी चिन्ता छोड़कर भगवद्भजनमें मन लगाना चाहिये। इस बीमारीमें आपके मरनेकी नौबत आ गयी थी, भगवत्कृपासे आप बच गये हैं, अब तो जितने दिन आपका शरीर रहे, आपको केवल भगवान्का भजन ही करना चाहिये।' उन्होंने कहा—'आपका कहना तो ठीक ही है, परंतु लड़का इतना होशियार नहीं है, पाँच साल मैं और जिंदा रहूँ तो घरको कुछ ठीक कर जाऊँ' लड़का भी कुछ और समझने लगे। मरना तो है ही। क्या करूँ, भजन तो होता नहीं।' मैंने फिर कहा कि 'अब आपको घर क्या ठीक करना है। परमात्माकी कृपासे आपके घरमें काफी धन है। आपके लड़के भी बड़े होने चले हैं। मान लीजिये, अभी आप मर जाते तो पीछेसे घरको ठीक कौन करता?' उन्होंने कहा—'यह तो मैं भी जानता हूँ परंतु तृष्णा नहीं छूटती।'।

इस दृष्टान्तसे पता लगता है कि तृष्णा किस तरहसे मनुष्यको घेरे रहती है। ज्यों-ज्यों कामनाकी पूर्ति होती है त्यों-ही-त्यों तृष्णाकी जलन बढ़ती चली जाती है।

निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिराजतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति ।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति

ब्रह्मा विष्णुपदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः ॥

'जिसके पास कुछ भी नहीं होता वह चाहता है कि मेरे सौ रुपये हो जायँ, सौ होनेपर हजारके लिये इच्छा होती है, हजारसे लाख, लाखसे राजाका पद, राजासे चक्रवर्ती-पद, चक्रवर्ती होनेपर इन्द्रका पद, इन्द्र होनेपर ब्रह्माका पद पानेकी इच्छा होती है और ब्रह्मा होनेपर विष्णुपदकी और विष्णुपदसे शिवपदकी कामना होती है। इस तरह तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, इसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती।'।

मेरे एक मित्र मुझसे कहा करते हैं कि जब हम निर्धन थे, तब यह इच्छा होती थी कि बीस हजार रुपये हमारे पास हो जायँगे तो हम केवल भगवान्का भजन ही करेंगे। परंतु इस समय हमारे पास लाखों रुपये हैं, वृद्धावस्था हो चली है, परंतु धनकी तृष्णा किसी-न-किसी रूपमें बनी ही रहती है। यही तो तृष्णाका स्वरूप है।

जगत्के सुखभोगोंकी तृष्णाने ही लोगोंको भगवान्से विमुख कर रखा है। यह पिशाचिनी किसी भी कालमें भगवच्चिन्तनके लिये मनका पिण्ड नहीं छोड़ती। सदा-सर्वदा सिरपर सवार ही रहती है। रेलमें, मोटरमें, गाड़ीमें, जहाजमें, मन्दिरमें, मस्जिदमें, दूकानमें, घरमें, बाजारमें, वनमें, सभामें और समारोहमें सभी जगह यह साथ रहती है। इसीसे मनुष्य दुःखोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सर्वसंसारदुःखानां तृष्णौका दीर्घदुःखदा ।

अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥

संसारमें जितने दुःख हैं उन सबमें तृष्णा ही सबसे अधिक दुःखदायिनी है। जो कभी घरसे बाहर भी नहीं निकलता, तृष्णा उसे भी बड़े संकटमें डाल देती है।

भीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम् ।

खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णोव शर्वरी ॥

तृष्णा महा अन्धकारमयी कालरात्रिकी तरह धीर पुरुषको भी डरा देती है। चक्षुयुक्तको भी अंधा बना देती है और शान्तको भी खेदयुक्त कर देती है।

विषय—तृष्णामें मतवाले मनुष्योंकी, असफलताका

दिग्दर्शन कराते हुए महाराज भर्तृहरि कहते हैं—

उत्खातं निधिश्चकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णाः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः ।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णोऽधुना मुञ्च माम् ॥

(वैराग्यशतक, ४)

धनकी तृष्णाने क्या-क्या काम नहीं कराये—

खोदत डोल्हो भूमि, गड़ीहु न पाई सम्पति ।
धाँकत रह्यो परवान, कणकके लोभ लगी मति ॥
गयो सिन्धुके पास, तहाँ मुक्ताहु न पायो ।
कौड़ी कर नहि लगी, नृपनको शीश नवायो ॥
साधे प्रयोग श्मशानमें, भूत प्रेत वैताल सजि ।
कितहूँ भयो न वांछित कछू अब तो तृष्णा मोहि तजि ॥

गड़े धनके लिये जमीनका तला खोद डाला, रसायनके लिये धातुएँ फूँकी, मोतियोंके लिये समुद्रकी थाह ली, राजाओंको संतुष्ट रखनेमें बड़ा यत्न किया, मन्त्रसिद्धिके लिये रातों श्मशान जगाया और एकाग्र होकर बैठा हुआ जप करता रहा । पर खेद है कि कहींपर भी एक फूटी कौड़ी हाथ न लगी । इसलिये हे तृष्णो ! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़ । फिर कहते हैं—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित् फलम्
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशंकया काकवत्
तृष्णो दुर्मतिपापकर्मनिरते नाद्यापि संतुष्यसि ॥

(वैराग्यशतक, ५)

भटक्यो देश-विदेश, तहाँ कछु फलहु न पायो ।
निज कुलको अभिमान छोड़ सेवा चित लायो ॥
सही गारि अरु खीझ हाथ झारत घर आयो ।
दूर करतहूँ दौरि, स्वान जिमि पर घर खायो ॥
इहि भाँति नचायो मोहि तैं, बहकायो दै लोभतल ।
अबहूँ न तोहि संतोष कहु, तृष्णा ! तू पापिनि प्रबल ॥
तृष्णासे ही इतनी लाञ्छना, निर्लज्जता और इतना अपमान, दुःख सहन करना पड़ता है ।

एक दुःखके बाद नया दुःख आनेमें तृष्णा ही प्रधान कारण होती है । मनुष्य किसी भी अवस्थामें संतोष नहीं करता, इसीलिये बारम्बार उसकी स्थिति बदलती रहती है । तृष्णाके

मारे भटकते-भटकते सारी उमर बीत जाती है, अन्तमें वह जैसे-का-तैसा रह जाता है, पीछे हाथ मल-मलकर पछतानेसे भी कोई लाभ नहीं होता ।

यदि भाग्यवश धन प्राप्त भी हो जाता है तब भी वह तृष्णा उसका कुछ विशेष सदुपयोग नहीं होने देती, सारी उमर बातोंमें ही बीत जाती है ।

अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको भोगोंकी तृष्णासे मुँह मोड़कर परमात्माके लिये तृपित होना चाहिये । भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती, 'बुझै न काम अग्नि तुलसी कहूँ, बिषय भोग बहु घी ते' अग्निमें घी डालते जाइये, वह और भी धधकेगी, यही दशा कामनाकी है । उसे बुझाना हो तो संतोषरूपी शीतल जल डालिये । धन तो वही असली है जिससे मनुष्यको सुख मिलता है । ऐसा धन संतोष है । 'संतोषः परमं धनम् ।' ऐसे अनेक करोड़पति देखे जाते हैं जो तृष्णाके फेरमें पड़े हुए असंतोष और अतृप्तिकी तीव्र आगसे जल रहे हैं । उनके अन्तःकरणमें क्षणभरके लिये भी शान्ति पैदा नहीं होती । इसीलिये तो वे महान् दुःखी रहते हैं—

अशान्तस्य कुतः सुखम् ।

न्यायसे धन कमाने और उसका सदुपयोग करनेकी मनाही नहीं है । परंतु धनकी तृष्णासे मतवाले होनेकी आवश्यकता नहीं । इसीलिये शास्त्रोंमें इसके लिये एक मर्यादा बतायी है, क्योंकि धनमें बड़ी मादकता होती है, धनमद सबसे बड़ा मद होता है । यह मद मनुष्यपर जब चढ़ जाता है तब उसे अंधा बना देता है । वह अपने सामने जगत्में किसीको भी बुद्धिमान् नहीं समझता । वे पुरुष धन्य हैं जो धन होते हुए भी मदहीन और विनम्र हैं । परंतु ऐसे पुरुष संसारमें विरले ही होते हैं । धनकी स्वाभाविक मादकता आये बिना प्रायः रहती नहीं । अतएव साधक पुरुषोंको चाहिये कि वे आजीविकाके लिये उतना ही कार्य करें जिससे उनकी गृहस्थी बड़ी सादगीके साथ साधारणरूपसे ठीक चलती रहे । धन बटोरकर भोग भोगने या पुण्य कमानेकी इच्छा रखकर धनके लिये तृष्णा न करें । इससे परमार्थके साधनमें बड़ा विघ्न होता है ।

धन कमाना बुरी बात नहीं है । धनकी तृष्णा ही बुरी है । जगत्के किसी भी भोग्यपदार्थकी तृष्णा मनुष्यको बन्धनमें डाल देती है । तृष्णा हो तो एक प्यारे मनमोहनके मुखकमल-

दर्शनकी हो, जिससे त्रिविधतापोंका सदाके लिये नाश हो जाता है। परंतु वह तृष्णा उन्हीं भाग्यवानोंको नसीब होती है, जो भोगोंकी तृष्णाको विषयत् त्याग देते हैं, जो जगत्के केवल देखनेमें रमणीय पदार्थोंके असली जहरीले रूपको पहचान कर उनसे मुँह मोड़ लेते हैं, उन्हींके अन्तःकरणमें भगवच्चरण-दर्शनकी तीव्र पिपासा उत्पन्न होती है। फिर वे पागल हो उठते हैं उस रूपमाधुरीका दर्शन करनेके लिये। उन्हें दूसरी बात सुहाती नहीं। जगत्के विषयी लोग कोई उन्हें पागल समझते हैं, कोई मूर्ख समझते हैं, कोई निकम्मा समझते हैं, कोई अशक्त समझते हैं और कोई अविवेकी समझते हैं, परंतु वे अपनी उसी धुनमें इतने मस्त रहते हैं कि निन्दकोंकी ओर ताकनेकी भी उनको फुरसत नहीं मिलती। प्यासके मारे जिसके प्राण छटपटाते हों, वह जलको छोड़कर दूसरी ओर कैसे ताकेगा ? उसे जबतक जल नहीं मिल जायगा, तबतक जगत्की गप्पें कैसे सुहायेंगी ! वह तो दौड़ेगा वहींपर जहाँ उसे जल दीखेगा। वह क्यों परवाह करेगा लोगोंके जबानकी। जिसके मनमें जो आवे सो कहे, उसे तो अपने कामसे काम। जो जगत्की ओर ताकते हैं, उनकी बात सुनने और उन्हें जवाब देनेके लिये ठहरते हैं उन्हें पूरी प्यास नहीं होती, वे प्यासकी अधिकतासे छटपटाने नहीं लगते। इसीलिये उन्हें सुनना, ठहरना और जवाब देना सूझता है। जिसके तृष्णा बढ़

जाती है वह तो उन्मत्त हो जाता है।

लगी है प्यास जोरोसे ढूँढ़ता हूँ सरोवरको।

सुहाता है नहीं कोई मुझे अब दूसरा कुछ भी ॥

जब इतनी तृष्णा बढ़ती है तब भगवान्का आसन डोल जाता है, उन्हें आना पड़ता है वैकुण्ठ छोड़कर उस रूपके प्यासे मतवाले भक्तको अतुल सौन्दर्य-सुधा पिलाकर सदाके लिये तृप्त और संतुष्ट कर देनेके लिये। भगवान्के इस मनोहर मिलनसे संसारकी समस्त ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं, उसकी जन-मनहर अनोखी वाणी सुनते ही अविद्याकी बेड़ियाँ पटापट टूट जाती हैं, कर्मोंका बन्धन खुल पड़ता है। अमावास्याकी घोर निशा शरद्-पूर्णमाके अमृतभरे प्रकाशके रूपमें परिणत हो जाती है। धन, मन, कुल, विद्या और वर्णका सारा अभिमान उस प्रियतमके प्रेमकी बाढ़में बह जाता है—मायाका लेन-देन चुक जाता है। उसके लिये दरवाजा खुल जाता है उस सर्वत्र अबाधित परमात्माके परम धामका। उसके कोई भी अपना-पराया नहीं रह जाता, सर्वत्र ही मोहनकी मधुर मुरलीका सुरीला स्वर सुनायी पड़ने लगता है और दीखने लगता है सर्वत्र केवल उस एकका अपार विस्तार। ऐसी स्थितिमें वह उसीमें अनुरक्त, उसीमें तृप्त और उसीमें संतुष्ट हो रहता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता—‘तस्य कार्यं न विद्यते।’

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै ।

ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहै ॥

या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं ।

तीननि मैं तन कृमि, कै विष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहै ॥

कहँ वह नीर, कहाँ वह सोभा, कहँ रँग-रूप दिखैहै ।

जिन लोगनि सों नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं ॥

घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं ।

जिन पुत्रनिहि बहुत प्रतिपाल्यो, देवी-देव मनैहैं ॥

तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं ।

अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि मैं कछु पैहै ॥

नर-बपु धारि नाहिं जन हरिकौं, जम की मार सो खैहै ।

सूरदास भगवंत-भजन बिनु बृथा सु जनम गँवैहै ॥

(सूर-विनय-पत्रिका)

स्वभाव नहीं बदलता

(पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

कृष्णाय वासुदेवाय गोविन्दाय नमो नमः ।

सच्चिदानन्दरूपाय निष्कलाय नमो नमः ॥

गीता-वक्ता कृष्णजी, गीता-श्रोता पार्थ ।

गीता-कर्ता व्यासजी, दिखलाया परमार्थ ॥

दिखलाया परमार्थ, तत्त्व समझाया झीना ।

भक्तिमार्ग दुःसाध्य, साध्य सीधा कर दीना ॥

भोला ! भज श्रीकृष्ण, भजा उनको सो जीता ।

कृष्ण तजे मर जाय, यही उपदेशत गीता ॥

एक बार एक मुमुक्षुने एक संतसे निम्नलिखित प्रश्न किये—

(१) भगवन् ! गीताके १८वें अध्यायके श्लोक ५९, ६० और ६१ में भगवान्ने अर्जुनके हृदयमें ऐसा भाव क्यों भरा कि युद्धसे विमुख होनेपर प्रकृति तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ेगी ।

(२) उपर्युक्त भाव भरनेसे क्या मनुष्यकी अपने व्यक्तित्वसे आस्था न उठ जायगी ?

(३) आस्था उठ जानेपर क्या मनुष्य सत्कार्य आदिके करनेमें उत्साहरहित नहीं हो जायगा ?

(४) १८वें अध्यायके ६७वें श्लोकमें भगवान्ने तपश्चर्यारहित व्यक्तिको आत्मविषयक ज्ञानोपदेश करनेसे मना क्यों किया ?

(५) क्या ६१वें श्लोकमें उपदिष्ट 'यन्त्रारूढानि मायया' अभक्तोंके विषयमें ग्राह्य नहीं है ? यदि नहीं तो क्यों ? और यदि है तो वे बेचारे उपदेशसे वञ्चित क्यों रखे जायँ ? न्यायसे तो ज्ञानके अभावमें दरिद्र होनेके कारण वे ही विशेष अधिकारी हैं ।

(६) क्या ऐसा करनेपर भी समदर्शिताकी रक्षा हो सकती है ? महाराज ! मैं बेढंगा हूँ, क्षमा चाहता हूँ ।

संत पढ़े-लिखे तो कुछ थोड़े ही थे, परंतु बहुत दिनोंतक संत-महात्माओंकी जूतियाँ उठाते रहे थे, उनकी जूतियाँ उठानेके प्रतापसे दुनियाभरके भोगोंको वे पैरकी जूती समझते थे, सौम्य प्रकृतिके गम्भीर स्वभाववाले युक्तिकुशल थे, फिर भी मिजाजमें कुछ-कुछ मसखरापन—हँसोड़पन था । अतः

मनमें हँसकर वे इस प्रकार उत्तर देने लगे—

संत—भाई ! भगवान्ने यह भाव तो नहीं भरा है कि तू युद्धसे विमुख होगा तो प्रकृति तेरा पिण्ड नहीं छोड़ेगी । यह कहा है कि तू जो युद्धसे विमुख होना चाहता है, तेरी प्रकृति शूरता और धीरतासे सम्पन्न है इसलिये तुझे ऐसा करने न देगी । तुझसे अवश्य युद्ध करायेगी । भाव यह कि अपनी क्षात्रप्रकृतिके कारण तू युद्धसे विमुख हो नहीं सकता । यह भगवान्का कथन सोलहों आने सत्य है; क्योंकि किसीका स्वभाव बदलता नहीं है । अर्जुन प्रथम तो देवक्षत्रिय इन्द्रके अंश थे, जन्मसे भी क्षत्रिय थे, बालकपनसे ही युद्ध करना सीखे थे, बड़े-बड़े शूरवीरोंको हरा भी चुके थे और अपने युद्धसे महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे गाण्डीव धनुष भी प्राप्त कर चुके थे । भला ! ऐसा शूरवीर क्षत्रिय युद्धसे कैसे मुँह मोड़ सकता है ? जब थोड़े कालका पड़ा हुआ स्वभाव ही छूटना कठिन होता है तब परम्परासे प्राप्त स्वभाव न छूटे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अच्छा, भाई ! बता तू क्या काम करता है ?

मुमुक्षु—महाराज ! मैं सर्जन हूँ, चीराफाड़ीका काम करता हूँ । साथ ही अच्छा फिजीशियन भी हूँ । दवाओंका भी अच्छा ज्ञान है ।

संत—(प्रसन्न होकर) भाई ! तभी तू दयालु-स्वभावका है, गीताका रहस्य पूछकर सबको ढंगमें लाना चाहता है और आप बेढंगा बनता है । यह तेरा ढंग अच्छा है, मुझे भी पसंद है । अच्छा, यदि कहीं सर्जनोंकी परीक्षा ली जाय तो क्या तू वहाँ अपने हाथकी सफाई दिखाना न चाहेगा ? यदि कहीं दस-पाँच सर्जन एकत्र हों, वहाँ कोई ऐसा मरीज आवे कि जिसके पेट चीरनेकी जरूरत हो, सब सर्जनोंकी सम्मति हो कि बिना पेट चीरे मरीजको आराम नहीं हो सकता और तुझे यह युक्ति मालूम हो कि बिना पेट चीरे ही आराम हो जायगा, तो क्या तू वहाँ चुप बैठा रहेगा ? क्या किसीको बेढंगा चीरा देते देखकर तू उसे रोकेगा नहीं ? जहाँ कहीं सुनता है कि कोई असाधारण रोगी है, क्या वहाँ दौड़कर नहीं जाता ?

मुमुक्षु—हाँ महाराज ! कई बार परीक्षा दी है,

सर्टिफिकेट भी मिले हैं। कई ऐसे केस आये हैं जिनको बिना चीर-फाड़के मैंने अच्छा कर दिया है। किसी कम्पाउंडरसे किसीका ऑपरेशन करवाता हूँ, तो सामने खड़ा रहता हूँ। जहाँ कहीं सुनता हूँ कि किसी सर्जनको कामयाबी नहीं हुई, वहाँ अवश्य जाता हूँ और तो क्या कहूँ महाराज ! स्वप्नमें भी चीर-फाड़ ही करता रहता हूँ।

संत—भाई ! जब तू अपने बहुत थोड़े दिनके स्वभावमें ऐसा मग्न रहता है कि स्वप्नमें भी तुझे वही दीखता है, फिर भला अर्जुन अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकते थे ? युद्ध भी धर्मयुद्ध था, अधर्मयुद्ध तो था नहीं कि उसे छोड़ देते। भाई ! कोई भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। तार्किक आकाशकी उत्पत्ति कभी सिद्ध नहीं होने देगा, वैशेषिक परिणामवाद ही सिद्ध करेगा, मीमांसक कर्मको ही ईश्वर मानेगा, कालवादी कालको ही महेश्वर कहेगा, योगी पुरुष-विशेषको ईश्वर कहेगा, सांख्यवादी प्रधानको ही कर्ता मानेगा, शून्यवादी शून्य ही बतावेगा और ब्रह्मवादीको तो स्वप्नमें भी भेद दिखायी न देगा। व्याकरणका पण्डित अशुद्ध शब्द सुनकर बोले बिना नहीं रहेगा, गानेवाला ताल-भंग नहीं होने देगा। घोड़ा कैसा ही नटरखट हो, घुड़सवार उसपर सवार हो ही जायगा, कवि किसी कविकी कविताको देखेगा तो तुरंत उसमें अलङ्कारका ही गुण-दोष ढूँढ़ने लगेगा। सारांश यह कि जिसका जो स्वभाव है, वह उसको नहीं छोड़ता। नाचनेवालीका पैर बिना नाचे नहीं रह सकता, बजानेवालीका हाथ बिना हिले नहीं रह सकता और गानेवालीका गला बिना गाये नहीं रह सकता। और तो क्या, चोर भी बिना चोरी किये नहीं रह सकता। इसीसे कहावत है कि 'चोर चोरीसे जाय तो क्या हेरा-फेरीसे भी जाय ?' ऐसे चोरका एक सच्चा वृत्तान्त याद आया, उसे सुनाता हूँ, यह तुझे स्वभावके समझनेमें मदद देगा।

एक बार मैंने सुना कि 'झूसीमें एक साधु ऐसा तितिक्षु और क्षमाशील है कि चाहे उसे कोई कितना ही छेड़े, बुरा-भला कहे, मारे-पीटे, वह क्षुब्ध होता ही नहीं।' मुझे ऐसे साधुओंको देखनेका उन दिनों बड़ा ही शौक था। मैं उसके पास गया। मैंने देखा कि जैसा सुना था, वह वैसा ही, वरं उससे भी अधिक तितिक्षु है। मैंने उससे ऐसी तितिक्षा किस प्रकार प्राप्त हुई, यह पूछा तो वह कहने लगा—

तितिक्षु साधु—भाई ! मेरी कहानी अपूर्व है, आप सुनकर आश्चर्य करेंगे। सुनिये, मैं मीना जातिका हूँ, मीनोंका पेशा चोरी है, यह आपने सुना ही होगा। अपने कुलके अनुसार मैंने भी चोरीका उद्यम सीखा। सीखा क्या मेरे बापने मुझे वही काम सिखाया। लगभग चौदह-पंद्रह वर्षकी उम्रमें मैं अपने कार्यमें निपुण हो गया। एक दिन मेरा बाप मेरी परीक्षा लेनेके लिये मुझे अपने साथ लिवा ले गया। चम्बल नदीके किनारेपर जाकर मेरे बापने एक खरगोश मारा और उसे मेरे पास रखकर वह किसी कार्यसे कहीं चला गया, उसके जाते ही मैं उस खरगोशका दिल निकाल कर खा गया, बापने लौटकर देखा तो मालूम हुआ कि खरगोशका दिल गायब है। कहने लगा— 'इसका दिल कहाँ गया ?' मैंने कहा— 'अजी ! इसमें दिल था ही कहाँ, जो कोई ले जाता !' बाप बोला— 'अबे ! मुझ पचास वर्षके बूढ़ेको सिखाता है कि दिल था ही नहीं, कोई बिना दिलके नहीं होता।' मैंने सूखे-से मुँहसे कहा— 'बापू ! इसके दिल होता तो यह पकड़ा ही क्यों जाता ? और मरता ही कैसे ? इसके दिल नहीं था, तभी तो आपके फंदेमें फँस गया ! दिलवाले किसीकी दमपट्टीमें नहीं आते ! इसके दिल था ही नहीं।' बाप भीतरसे प्रसन्न हो ऊपरसे झुँझलाकर बोला— 'अरे ! मानता ही नहीं है, मुर्गीकी एक ही टाँग कहे जाता है ? दिल सबके होता है। हाँ, किसीका दिल कमजोर होता है, तो किसीका बलवान्, कमजोर दिलवाले मजबूत दिलवालोंके पंजेमें फँस जाते हैं ! अच्छा ! कल देखूँगा, तेरा दिल कितना मजबूत है।' यह कहकर मेरा बाप मुझे एक मकानपर ले गया और ऐंडा लगानेको कहा। थोड़ी देरमें मैंने दीवारमें छेद कर दिया। बापने मुझे भीतर घुसा दिया और खुद बाहर खड़ा रहा, जब मैं भीतर घुस गया तो मेरा बाप 'चोर-चोर' चिल्लाने लगा, घरवाले जाग गये और उन्होंने मुझे पकड़ लिया। मेरा बाप इतनी कार्रवाई करके चम्पत हो गया, मुझे घरवालोंने खूब पीटा और सारे गाँवको इकट्ठा कर लिया, पुलिस भी आ गयी। पुलिसने मुझे एक पेड़में उलटा टाँग दिया और खूब मारा। पुलिस पूछती रही कि बता तेरे साथ कोई दूसरा था या नहीं ! मैं तो पहलेसे पक्का था ही, कितनी ही मार खानेपर मैंने न बताया तो नहीं ही बताया। पुलिस पूछ-पाछकर हार गयी। दोपहरको मेरा बाप पहुँचा। पुलिस मेरे बापको जानती ही थी, कहने

लगी—‘इस चोरसे पूछो कि इसके साथ कोई था या नहीं?’ मेरा बाप मुझे एकान्तमें ले गया और उसने मुझसे भाग जानेको कहा। मैं भाग आया। पीछेसे मेरा बाप पुलिसको सब कच्चा-चिट्ठा कहकर चला आया। पुलिस हमलोगोंसे मिली रहती थी। सारा वृत्तान्त सुनकर चुप हो गयी और गाँववालोंको समझा-बुझाकर मामला रफा-दफा कर दिया।

इसके बाद मैंने अपने कार्यमें निपुण होकर बहुत-सी चोरियाँ कीं और डाके भी मारे। कुछ दिनोंके लिये महाराजा होलकरने मुझे रक्षक भी बना लिया था, फिर भी कभी-कभी लोभमें आकर मैं चोरी-डाकेमें चला ही जाता था। एक दिन शामको चोरी करनेके विचारसे एक ग्राममें गया, वहाँ एक पण्डितजी गीताकी कथा कह रहे थे, मैं भी सुनने बैठ गया। पण्डितजीने पहले तितिक्षा और धैर्यकी महिमा कही और फिर वे कहने लगे—

‘श्रोताओ ! तितिक्षा और धैर्य ऐसी वस्तुएँ हैं कि मनुष्यको शीघ्र ही कल्याण-पथपर आरूढ़ कर देती हैं, परंतु ये ही यदि चोर-डाकुओं आदिमें हों तो उनको अधोगति प्राप्त कराती हैं। लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट कर देती हैं। संसारमें कोई वस्तु बुरी नहीं है। हमारे दुरुपयोगसे अच्छी वस्तु भी लाभके बदले हमको हानि ही पहुँचाती है, अस्त्र-शस्त्र हमारी रक्षा करते हैं और वे ही हमको हिसक और पापी भी बनाते हैं। धैर्य और तितिक्षा यदि साधुमें हों तो इस लोकमें उसकी कीर्तिके कारण होते हैं, सुखकी प्राप्ति कराते हैं और अन्तमें आनन्दस्वरूप परमात्मासे मिला देते हैं। चोरके लिये वे ही दुःखके हेतु होते हैं, यहाँ अपकीर्ति कराते हैं, दण्ड दिलवाते हैं, यहाँतक कि कभी-कभी फाँसी भी दिलवा देते हैं। परधनसे चोर अमीर तो होता नहीं, धन जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है। अग्नि जला देती है अथवा राजा आदि छीन लेते हैं, चोरी करनेवाला अन्तमें मरकर यमराजके यहाँ भयानक नरकोंमें नाना प्रकारके कष्ट भोगता है।’

भाई ! इस प्रकार पण्डितजीने चोरीके अनिष्ट फल अनेकों प्रकारसे बतलाये, उनकी बातें सुनकर मेरा मजबूत दिल भी उस समय काँप गया। उसी समय मैंने चोरी न करनेका निश्चय किया और पण्डितजीके पैरों पड़कर उनसे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया और कल्याणका मार्ग पूछा।

पण्डितजी प्रसन्न होकर कहने लगे—‘भाई ! तेरा कोई पूर्वपुण्य उदय हो आया है। माखनचोर भगवान्की तुझपर दया हो गयी है, तू उन्हीं भगवान्का ध्यान किया कर, चोरीका स्वभाव तेरा जल्दी नहीं जायगा, आजसे तू संत-महात्माओंके गुणोंकी चोरी किया कर, किसीका धन कभी मत चुराना। ऐसा करनेसे तू बहुत ही शीघ्र मोहन माखनचोरका प्यारा-दुलारा हो जायगा। तितिक्षु तो तू पहलेसे है ही !’

संतजी ! उसी दिनसे मैं यहाँ आ गया। यहाँ भगवान्का ध्यान किया करता हूँ। बस, सदा उनके रूप-माधुर्यकी चोरी किया करता हूँ और संत-महात्माओंके गुणोंको भी चुराया करता हूँ, अब मुझे बहुत ही शान्ति है और दूर-दूरतक मेरी प्रसिद्धि भी हो गयी है। इस प्रकार अब भी चोरीकी लत नहीं छूटी है ! सिर्फ चोरीके पदार्थ बदल गये हैं।

पहलेके स्वभावकी इतनी बात अब भी है। जब कभी उमंग आती है तो साधुओंके कमण्डलु रातको जाकर एक दूसरेके सिरहाने रख आता हूँ। वे सबरे ढूँढ़ते फिरते हैं और अपना-अपना पहचान कर ले जाते हैं। हाँ, साधु-महात्माओंकी कृपा हुई तो यह लत भी जाती रहेगी और फिर तो माखनचोरकी ही पूरी चोरी किया करूँगा।

मुमुक्षु डॉक्टर ! अब तो तू समझ गया होगा कि स्वभाव प्रबल है और कठिनाईसे छूटता है। इसीसे सिद्ध है कि अर्जुन अपने क्षात्र-स्वभाववश युद्धसे किसी प्रकार न रुकता। यही बात भगवान् कहते हैं। और तो क्या कहूँ, मुझे भी हँसोड़पनका ऐसा स्वभाव पड़ गया है कि बहुत ही प्रयत्न करता हूँ परंतु छूटता ही नहीं। यहाँतक कृत्रिम स्वभावका वर्णन किया। यह स्वभाव तो प्रयत्न करनेसे यानी सत्संग और सत्-शास्त्रके अभ्याससे कुछ कालमें छूट भी सकता है, परंतु असली स्वभाव तो कभी बदल ही नहीं सकता, उसका आगे वर्णन करूँगा। यहाँतक तेरे पहले प्रश्नका उत्तर हुआ, अब दूसरे और तीसरेका उत्तर सुन—

कृत्रिम स्वभावका नाम ही ‘व्यक्तित्व’ है। जब स्वभाव बदलता ही नहीं तो उसमेंसे आस्था किस प्रकार उठ सकती है ? परंतु यदि व्यक्तित्वमेंसे आस्था उठ भी जाय तो हानि ही क्या है ? असलमें इस व्यक्तित्वमेंसे आस्था उठ जाना ही तो परमपुरुषार्थ है। इस व्यक्तित्वने ही तो ईश्वरमेंसे आस्था उठा

दी है, यही सत्कार्यमें उत्साह नहीं होने देता। इसीने सबको संकुचित कर रखा है। इसीने पूर्णको अपूर्ण और ठोसको पोला बना दिया है। सारांश यह कि सारे अनर्थोंका कारण यह 'व्यक्तित्व' ही है, इसीकी निवृत्तिके लिये समस्त शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है, व्यक्तित्वसे ही अर्जुनको मोह हुआ था, उसीकी निवृत्तिके लिये गीताका उपदेश है, गीताके प्रारम्भका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। गीता व्यक्तित्वको मिटाती है और पूर्ण बनाती है। ज्यों-ही-ज्यों तू गीताका अर्थ समझता जायगा, तेरा व्यक्तित्व भी धीरे-धीरे दूर होने लगेगा। ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व कम होगा, त्यों-ही-त्यों पुरुषार्थ करनेमें तेरा उत्साह अधिक बढ़ने लगेगा और एक दिन परमपुरुषार्थकी सिद्धि होनेसे तू सर्वत्र पूर्ण उत्साहस्वरूप हो जायगा।

अन्तके तेरे तीनों प्रश्न ऐसे ही हैं जैसे कोई कहे कि प्रथम कक्षाका विद्यार्थी विद्यामें बहुत ही पिछड़ा हुआ है इसलिये उसको दसवीं कक्षामें भरती कर लेना चाहिये, अथवा अंधा मनुष्य रूप-धनका पूरा दरिद्री है इसलिये उसको अनेक भौतिके शृंगार कर दिखाना चाहिये, या बहरा आदमी तो गायन-धनमें सबसे अधिक कंगाल है इसलिये उसको ताल, स्वर और समसहित छः राग और छत्तीस रागिनियाँ सुनानी चाहिये और गूँगा वाणी-धनमें सबसे निर्धन है इसलिये वेद-वेदाङ्ग पढ़नेका वह प्रथम अधिकारी है। जैसे ये सब मनोरथ निष्फल हैं वैसे ही अनधिकारीको गीताका उपदेश भी निरर्थक है। भाई ! शरमा मत, ये तेरे प्रश्न दयाके कारण हैं। तू सबका हित चाहता है इसलिये तूने ये प्रश्न किये हैं। परंतु कोई कितना ही दयालु और हितैषी क्यों न हो, अनधिकारीका हित नहीं कर सकता। यह अटल नियम है। अधिकारीका ही हित हो सकता है। अधिकारी धीरे-धीरे बना जाता है और बनाया भी जाता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, एक-न-एक दिन सबको गीता पढ़ा देंगे और अधिकारी भी बना देंगे। हमें-तुम्हें इसकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है। हमें तो स्वयं अधिकारी बननेकी आवश्यकता है। स्वयं अधिकारी बनकर ही हम दूसरोंको अधिकारी बना सकते हैं अथवा हमको देखकर वे स्वयं ही अधिकारी बन जायेंगे, क्योंकि खरबूजेको देखकर खरबूजा रंग बदलता ही है। अधिकारीको ही अधिकारकी वस्तु देना समदर्शीपना है, अनधिकारीके सामने

वस्तु फेंक देनेमें समदर्शिता नहीं है। ऐसा करनेसे तो वस्तु भी व्यर्थ जाती है, दाताकी भी अपकीर्ति होती है और लेनेवालेका भी हितके बदले अहित ही होता है।

भाई ! दूसरोंकी चिन्ता मत कर, यदि तुझे गीताका तत्त्व जानकर परमानन्द प्राप्त करनेकी इच्छा है तो स्वयं पहले तप कर। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारके तप भगवान्ने १७ वें अध्यायमें बतलाये ही हैं। भगवान्का भक्त हो और मायाकी भक्ति छोड़ दे। गीता पढ़ने-सुननेमें पूर्ण उत्साही हो और देहकी आस्था छोड़कर भगवान्में पूर्ण आस्था कर। ऐसा करनेसे तेरा कृत्रिम स्वभाव धीरे-धीरे मिटता जायगा और अन्तमें तू सच्चिदानन्दस्वरूप हो जायगा। सच्चिदानन्द ही तेरा स्वभाव है, वही तेरा स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है और वही सबका स्वरूप है। अपने स्वरूपको न जानना ही कृत्रिम स्वभाव है। अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको न जाननेसे ही तू सत्त्व, रज और तमको अपना स्वभाव मानने लगा है। सत्त्व, रज, तमको ही नहीं, किंतु सत्त्व, रज, तमके बने हुए मनको अपना स्वभाव समझने लगा है। इसीसे अव्यक्तसे व्यक्ति बनकर व्यक्तित्वके पीछे पागल हो रहा है। यहाँतक रच-पच गया है कि उसको स्वभावके बदले स्वरूप ही मानने लगा है। इसीसे दुखी है। तू सत्स्वरूप है इसीलिये सदा अपना 'होना' चाहता है, तू चित् है इसीलिये सब कुछ 'जानना' चाहता है और तू आनन्दस्वरूप है इसीलिये सर्वदा 'सुखी' रहना चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि स्वभाव कभी बदलता नहीं है, क्योंकि अज्ञानमें भी तू अपना स्वरूप भूला नहीं है। अज्ञानको त्याग दे और साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप हो जा, यही अन्तिम उपदेश है और यही परम सिद्धान्त है। यह कुण्डलिया मत भूल—

सच्चित् सुख है रूप निज, सत्, रज, तम अज्ञान।

ये दोनों मिल मन बना, किये सभी हैरान ॥

किये सभी हैरान, सिंधुका बिंदु बनाया।

किया ठोसको पोल, योनि नाना भटकाया ॥

भोला ! तज अज्ञान, हेय यह ही है भय दुख।

भज भगवत् दिन रैन, नित्य शाश्वत सच्चित् सुख ॥

मुमुक्षु सर्जन उस संतके वचनोंको मानकर गीताका मनन करने लगा और धीरे-धीरे मनका मल धोकर अन्तमें परम सुखी हो गया।

साधकोंके प्रति—

सर्वश्रेष्ठ साधन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ० सं० ५०६से आगे]

जैसे ज्ञानकी दृष्टिसे गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—‘गुणा गुणेषु वर्तन्ते’ (गीता ३।२८), ऐसे ही भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्की वस्तु ही भगवान्के अर्पित हो रही है। जैसे कोई गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन करे, दीपकसे सूर्यका पूजन करे, पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंसे पृथ्वीका पूजन करे, ऐसे ही भगवान्की वस्तुसे भगवान्का ही पूजन हो रहा है। वास्तवमें देखा जाय तो पूज्य भी भगवान् हैं, पूजाकी सामग्री भी भगवान् हैं, पूजा भी भगवान् हैं तथा पूजक भी भगवान् हैं ! भगवान् कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं

हुतम् ॥

(गीता ९।१६)

‘क्रतु भी मैं हूँ, यज्ञ भी मैं हूँ, स्वधा भी मैं हूँ, औषध भी मैं हूँ, मन्त्र भी मैं हूँ, घृत भी मैं हूँ, अग्नि भी मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं हूँ।’

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(गीता ४।२४)

‘जिस यज्ञमें अर्पण भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूप कर्तव्य द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है और ऐसे यज्ञको करनेवाले जिस मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।’

इस प्रकार सब जगह भगवान्को देखनेसे साधकके राग-द्वेष रहते ही नहीं ! कारण कि जब सब कुछ भगवान् ही

हैं, तो फिर किससे राग और किससे द्वेष ?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।

निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि बिरोध ॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

एक मार्मिक बात है कि ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—ऐसा अनुभव करनेके लिये क्रिया और पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विवेक अथवा भावकी आवश्यकता है। विवेकमें खोज होती है और भावमें स्वीकृति अथवा मान्यता होती है। विवेक और भाव—दोनों ही अन्तमें तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें विवेककी प्रधानता है और भक्तिमार्गमें भावकी प्रधानता है। ज्ञानमार्गमें जानकर मानते हैं और भक्तिमार्गमें मानकर जानते हैं। दोनोंका परिणाम एक ही होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वसे जाननेका जो परिणाम होता है, वही परिणाम दृढ़तासे माननेका भी होता है^१। भक्तिमार्गमें पहले भक्त ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—ऐसा दृढ़तासे मान लेता है, फिर वह इसको तत्त्वसे जान लेता है अर्थात् उसको ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—ऐसा अनुभव हो जाता है।

ज्ञानयोगकी दृष्टिसे सभी गुण (सत्त्व-रज-तम) प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं—‘सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।’ (गीता १४।५) और भक्तियोगकी दृष्टिसे सभी गुण भगवान्से उत्पन्न होते हैं—‘ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये । मत्त एवेति तान्विद्धि’…… (गीता ७।१२)। इसलिये ज्ञानयोगीकी दृष्टिमें जो कुछ दीखता है, वह सब प्रकृति है^२ और जो परिवर्तन हो रहा है, वह गुण ही

१- मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। जैसे ज्ञानयोगमें जाननेकी शक्तिका उपयोग और भक्तियोगमें माननेकी शक्तिका उपयोग है, ऐसे ही कर्मयोगमें करनेकी शक्तिका उपयोग है। कर्मयोगी मन-वाणी-शरीरसे निष्काम भावपूर्वक प्राणिमात्रकी सेवा करता है अर्थात् संसारसे मिली हुई सामर्थ्य और सामग्रीको संसारकी ही मानकर उसकी सेवामें लगाता है। इस प्रकार सेवा करनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसको सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। अतः जो तत्त्व ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मिलता है, वही तत्त्व कर्मयोगसे भी मिल जाता है।

२- न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः । सत्त्वं प्रकृतिर्जैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ (गीता १८।४०)

गुणोंमें बरत रहे हैं। भक्तियोगीकी दृष्टिमें जो कुछ दीखता है, वह सब भगवान्का ही रूप है^१ और जो परिवर्तन हो रहा है, वह भगवान्की ही लीला है।

जगत् न तो जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषकी दृष्टिमें है और न भगवान्की दृष्टिमें है। जिसमें जगत्की वासना है अर्थात् जिसने जगत्को सत्ता और महत्ता दे रखी है, उस जीवकी दृष्टिमें ही जगत् है—‘जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥’ (गीता ७।५)। यह जगत्की वासना ही जन्म-मरणरूप बन्धनका बीज है—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति ।

स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम् ॥

‘जिस मनुष्यकी जहाँ वासना होती है, उसी वासनाके अनुरूप वह स्वप्न देखता है। स्वप्नके समान ही मरण होता है अर्थात् वासनाके अनुरूप ही अन्तसमयमें चिन्तन होता है और उस चिन्तनके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है।’

इस वासनाको ही गीताने गुणसङ्ग कहा है—‘कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥’ (१३।२१) ‘गुणोंका संग ही जीवके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है।’ यदि वासना न हो तो जीवबुद्धि तथा जगत्-बुद्धिके अभावका तथा भगवान्के भावका अनुभव हो जाता है—‘वासुदेवः सर्वम्।’

ज्ञानमार्गमें साधक विवेकपूर्वक जगत्से असंग होता है और भक्तिमार्गमें साधक भाव (श्रद्धा)-पूर्वक जगत्को भगवत्स्वरूप देखता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विवेक (विचार) का विषय नहीं है, प्रत्युत भाव (श्रद्धा) का विषय है। इसलिये ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—यह बात

भक्तोंकी वाणीमें अधिक आती है।

जबतक सत् और असत्, ब्रह्म और जगत्—दोनों रहते हैं, तबतक विवेक रहता है। असत्की, जगत्की मान्यता मिटनेपर विवेक नहीं रहता, प्रत्युत तत्त्वबोध रहता है। इसलिये विवेकपूर्वक जगत्को अलग करके भगवान्को देखनेसे जगत्की सत्ता रहती है; क्योंकि निषेध उसीका किया जाता है, जिसकी सत्ता मानी है। परंतु भावपूर्वक जगत्को भगवत्स्वरूप देखनेसे जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। जबतक साधककी दृष्टिमें भगवान् और जगत्—दोनों अलग-अलग रहते हैं, तबतक उसके जीवनमें अखण्ड आनन्द नहीं रहता, प्रत्युत कभी आनन्द आता है, कभी नीरसता आती है। कभी साधकको अपने साधनमें बड़ा लाभ दीखता है, कभी दीखता है कि कुछ लाभ नहीं हुआ ! अतः सर्वश्रेष्ठ साधन यही है कि साधक जगत्को भगवत्स्वरूप देखे अर्थात् जगत्-रूपसे भगवान् ही हैं—ऐसा देखे।

‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—ऐसा अनुभव करनेके लिये साधकको दृढ़तासे यह मान लेना चाहिये कि चाहे मेरी समझमें आये या न आये, अनुभवमें आये या न आये, पर बात यही सच्ची है। उसको बड़ी-से-बड़ी अथवा छोटी-से-छोटी जो भी वस्तु दिखायी दे, वह ऐसा माने कि इसमें पूरे-के-पूरे भगवान् हैं। जैसे जलके एक कणमें और समुद्रमें एक ही जल-तत्त्व परिपूर्ण है, ऐसे ही मिट्टीका ढेला हो या पृथ्वी हो, उसमें भगवान् पूरे-के-पूरे हैं—‘अणोरणीयान्महतो महीयान्’ (कठ० १।२।२०; श्वेता० ३।२०)। ऐसा मानकर वह हर समय मन-ही-मन सबको नमस्कार करता रहे^२। ऐसा करनेसे उसको सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे।

‘पृथिवीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवाय और कहीं भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो।’

१-न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ (गीता १०।३९)

‘मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है।’

२-वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

(गीता ११।३९-४०)

‘आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं। आपको

एक दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञानमार्गमें द्वैतभाव है और भक्तिमार्गमें अद्वैतभाव है। कारण कि ज्ञानमार्गमें प्रकृति और पुरुष, सत् और असत्, ब्रह्म और जगत्, जड़ और चेतन, शरीर और शरीरी, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ आदिका भेद है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। ज्ञानमार्गमें तो ब्रह्म सत् और जगत् असत् है—‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या’, पर भक्तिमार्गमें सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—‘सदसच्चाहमर्जुन’ (गीता ९।१९)। इसलिये ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—ऐसा मानकर जो भगवान्‌के शरण हो जाता

है अर्थात् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व (‘मैं’पन) मिटाकर भगवान्‌में लीन हो जाता है, उसको भगवान्‌ने ‘ज्ञानी’ कहा है—‘वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान्मां प्रपद्यते’ (गीता ७।१९)। ऐसे ज्ञानी भक्तको भगवान्‌ने अपना अत्यन्त प्रिय बताया है—‘प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥’ (गीता ७।१७) और उसको अपना ही स्वरूप बताया है—‘ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्’ (७।१८)। तात्पर्य यह हुआ कि विवेकसे भी भाव तेज है। अतः भावपूर्वक जगत्‌को भगवत्स्वरूप देखना सर्वश्रेष्ठ साधन है। (समाप्त)

सेवा-धर्म

(डॉ० श्रीनरेशकुमारजी शास्त्री, एम् ए०, पी-एच् डी०)

‘सेवा’ यह शब्द कहनेमें बहुत सरल तथा प्रिय प्रतीत होता है, परंतु आचरणमें सेवा-कार्य तलवारकी धारपर चलनेके समान कठिन है। महाराज भर्तृहरिने कहा है— ‘सेवाद्वयः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः’ (नीति० ५८) अर्थात् सेवा-धर्म परम गहन है, कष्ट-साध्य है, योगी भी सेवा-धर्मका पालन बड़ी कठिनातासे ही कर पाते हैं, परंतु इसका यह अर्थ कदापि

नहीं लिया जाना चाहिये कि सेवा-धर्मका पालन किया ही नहीं जा सकता, अवश्य किया जा सकता है, केवल थोड़ेसे प्रयास और अभ्यासकी आवश्यकता है।

‘सेवा’ शब्दके परिचर्या, उपासना, भक्ति, पूजा, आराधना आदि अनेक पर्याय हैं। वैष्णवोंके वैरागी सम्प्रदायमें भगवान्‌के नामोंके पीछे ‘दास’ लगाकर सीतारामदास,

हजारों बार नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो ! नमस्कार हो !! हे सर्व ! आपको आगेसे नमस्कार हो ! पीछेसे नमस्कार हो ! सब ओरसे ही नमस्कार हो ! हे अनन्तवीर्य ! अमित विक्रमवाले ! आपने सबको समावृत कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।’

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतीषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

‘आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।’

विसृज्य समयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्चचाण्डालगोखरम् ॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।१६)

अपने ही लोग यदि हँसी करें तो करने दे, उनकी परवा न करे; ‘मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है’—ऐसी देहदृष्टिको और लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ एवं गधेको भी पृथिवीपर लम्बा गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे।’

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥

(मानस, बाल० ७ ग)

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी ॥

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥ (मानस, बाल० ८।१)

‘सीय राममय’ कहनेका तात्पर्य है कि स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक सब-के-सब प्राणी-पदार्थ सीतारामके ही स्वरूप हैं। चाहे सीताराम कहो, चाहे राधेश्याम कहो, चाहे गौरीशंकर कहो, चाहे लक्ष्मीनारायण कहो, एक ही बात है।

रघुबीरदास, राघवदास, भरतदास, तुलसीदास तथा सूरदास आदि कहनेकी जो परम्परा चली आयी है, वह इस दास, भक्ति या सेवावृत्तिसे ही सम्बन्धित है। आजकल 'सेवावृत्ति' शब्द नौकरी-व्यवसायके लिये भी प्रयुक्त होने लगा है। पर 'सेवा' का एक अन्य अर्थ भी है, निःस्वार्थभावसे किसी असहायकी 'तन-मन-धनसे—मनसा-वाचा-कर्मणा' सहायता करना। यहाँ हमारे विचारका सम्बन्ध इसी अर्थवाले 'सेवा' शब्दसे है। जिसे लोकमें 'परोपकार' भी कहा जाता है। इसे ही भगवान् कृष्णने गीतामें निष्कामकर्म कहा है, जिस सेवा-धर्मका पालन करते हुए मनुष्य कर्मके बन्धनमें नहीं बँधता—
'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः' (गीता ४।२०)। त्याग-भाव अथवा निष्कामकर्मकी प्रवृत्तिके बिना कभी भी मनुष्यमें सच्ची सेवाकी भावना नहीं आ सकती। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके पहले दो मन्त्रोंमें भगवान् स्वयं स्पष्टरूपसे कहते हैं—'....त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—
'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' अर्थात् संसारके पदार्थोंका त्यागपूर्वक भोग करते हुए मनुष्य जो भी कर्म करता है, वे कर्म सेवाभावसे, त्यागभावसे, परोपकारकी भावनासे तथा यज्ञकी भावनासे प्रेरित होनेके कारण उस मनुष्यमें लिप्त नहीं होते। उसके वे कर्म शरीरकी स्वाभाविक चेष्टामात्र बनकर रह जाते हैं, उन कर्मोंसे मनुष्यके मनमें कर्मकी वासना उत्पन्न नहीं होती और यह वासना ही जन्म-मरणके चक्रमें मनुष्यको डालती है, अतः इस प्रकार सेवाभावसे किये गये ये निष्कामकर्म अन्ततः मनुष्यको संसार-सागरसे पार उतारनेवाले बन जाते हैं और उसे मुक्तिके द्वारतक पहुँचा देते हैं।

आश्चर्य है कि जिन सेवाकार्योंको करते हुए हम अपने लिये कुछ नहीं चाहते, पुनरपि हमें वह सब कुछ अपने-आप मिल जाता है, जिसके लिये योगी लोग अपना सर्वस्व योगसाधनामें समर्पित करते हैं। हम कुछ नहीं माँगते, परन्तु प्रभु सब कुछ दे देते हैं। जहाँ बिना माँगे मोती मिले फिर ऐसे सेवाकार्योंसे क्यों विमुख रहा जाय, उन्हें तो और भी उत्साहसे तथा प्रयत्नसे करना चाहिये।

सेवाभावी मनुष्य निःसंदेह सम्पूर्ण समाजका हितैषी तथा आदर्श होता है। उसका जीवन अपने अथवा अपने

परिवारतक ही सीमित नहीं होता, उसके लिये तो सारी पृथ्वी ही उसका परिवार होती है—'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'—'उदारचित्त मनुष्योंके लिये तो सारी पृथ्वी ही उसका कुटुम्ब है।' सारा संसार ही उसका मित्र है, उसके लिये कौन अपना और कौन पराया ? सब उसके हैं और वह सबका है। 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु' तात्पर्य यह कि सभी दिशाओंमें उसके मित्र-ही-मित्र होते हैं, शत्रु कोई नहीं होता। वह तो सदा सब प्रकारसे सबका हित ही चाहता है और केवल चाहता ही नहीं, अपितु अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार उनका हित-सम्पादन भी करता है।

मनुष्य संसारका सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। उसकी श्रेष्ठता केवल तर्क-वितर्ककी क्षमतापर ही निर्भर नहीं करती, अपितु इसी बातपर निर्भर रहती है कि वह संसारके अन्यान्य प्राणियोंके—इतर मनुष्यों, पशु और पक्षियोंके कितने काम आ सकता है, उनकी कितनी सेवा कर सकता है।

तनिक प्रभुकी सृष्टिकी ओर निहारिये, सर्वत्र सेवा-ही-सेवा दिखायी पड़ेगी, सूर्य अपनी किरणोंको फैलाकर अन्धकारको ही दूर नहीं करता, अपितु अनेकविध अन्न और वनस्पतियोंके उपजानेमें भी सहायक होता है। इसीसे सभीका जीवन जीवंत होता है। क्या नदी, वृक्ष, लता, पर्वत—सभी परहितमें नहीं लगे हुए हैं ? यही तो प्रभुका यज्ञ है। आइये, आप भी इसमें सम्मिलित हो जायँ, अपनी आहुति भी इसमें डाल दें। निःसंदेह आपकी आहुति विफल नहीं जायगी। दीन-दुखियोंके अङ्ग बननेमें आपका दिया गया एक-एक क्षण आपको अपार संतोष देगा। दीन-दुखियों और असहायोंकी सेवासे आपको वह परम आनन्द मिलेगा, जिसके लिये योगियोंको भी कठोर तप करने पड़ते हैं। दीन-दुखियोंमें हीनताकी भावना न होकर सच्ची श्रद्धापूर्वक भगवद्भावना रखनेसे ही वह सेवा याज्ञिक क्रिया बन सकती है और तब वह ब्रह्मार्पणकी दृष्टिसे ब्रह्माग्निमें दी गयी आहुतिके समान फलदायक होकर सीधे ब्रह्मतक पहुँचा सकती है। गौ, विद्वान्, ब्राह्मण, संत, महात्मा, माता-पिता, अतिथि और गुरु आदिकी सेवा तो सर्वथा भगवद्भावसे की जानी चाहिये। एक क्षण भी उनमें भगवान्से भिन्न दृष्टि नहीं रखनी चाहिये और सत्य भी यही है कि भगवान् ही कृपा करके गौ, ब्राह्मण, संत आदिके

रूपमें सेवाका सौभाग्य प्राप्त करते हैं, इसीसे मानसमें—

सातवें सम मोहि मय जग देखा । मोतें संत अधिक करि लेखा ॥

(३।३५।३)

तुम्ह तें अधिक गुरहि जियै जानी । सकल भायें सेवहि सनमानी ॥

(२।१२८।८)

—ऐसे कथनोंकी बार-बार आवृत्ति होती आयी है।

सेवाभावसे समर्पित जीवनके द्वारा आपका हृदय इतना निर्वैर, पवित्र, विशाल और उदार होगा कि उसमें आप समस्त संसारके दुःखोंको समेट कर उनकी झोली सुखोंसे परिपूर्ण कर देना चाहेंगे। आपका व्यक्तित्व संकुचित सीमाओंको पार करके असीम और महान् बन जायगा। फिर आप अनुभव करेंगे—

अयुतोऽहमयुतो मे आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतम् ।

मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

(अथर्व १९।५१।१)

‘मैं अब असीम बन गया हूँ, मेरा आत्मा असीम हो गया है। मेरे नेत्र, मेरे कान, मेरे प्राण, मेरा अपान, मेरा व्यान सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग संकुचित परिधिसे निकल कर असीम, विशाल, अपार और उदार हो गये हैं। मेरा रोम-रोम अब विश्वकल्याण और परहितमें सार्थक हो रहा है। मैं अब केवल स्वयंतक सीमित नहीं हूँ, अपितु विश्वरूप हो गया हूँ।’

निःस्वार्थ सेवामें कितना आनन्द है, कितना सुख है और कितना संतोष है? यह शब्दोंमें वर्णन करने योग्य नहीं है। उसकी अनुभूति तो सेवा-फलको चखनेपर ही होगी। भले काममें देरी कैसी? आइये, और निराश्रयोंके आश्रय बनकर निःस्वार्थ-भावसे अपने तन-मन-धनको असहायोंकी सहायतामें लगा दीजिये। सेव्य-सेवकभावसे, दास्य-दासभावसे, पूज्य-पूजकभावसे प्रभुके प्रभुमय सेवा-धर्ममें सम्मिलित हो जाइये।

व्यक्तित्वकी दासता

संकल्प-उत्पत्तिका क्षोभ जबतक सहन होता है और संकल्पोंकी पूर्तिका श्रम जबतक सुखद प्रतीत होता है, तबतक निर्विकल्पता नहीं आती; क्योंकि निर्विकल्प होनेका अधिकार उसीको प्राप्त होता है, जिसे संकल्पकी उत्पत्ति भी सहन न हो और उसकी पूर्तिके श्रममें केवल कर्तव्य-बुद्धि भले ही रहे, पर सुख तथा संतोष न हो, कारण कि प्रत्येक संकल्प-पूर्तिके अन्तमें प्राणी उसी स्थितिमें आता है, जिसमें संकल्पकी उत्पत्तिसे पूर्व था। तो फिर संकल्प-पूर्तिके श्रमसे क्या लाभ?

हाँ, यह अवश्य है कि संकल्प-पूर्ति जिस परिस्थितिको उत्पन्न करती है, वह परिस्थिति भले ही पूर्तिसे पूर्वकी परिस्थितिसे भिन्न हो, पर कोई ऐसी परिस्थिति हो ही नहीं सकती, जिसमें किसी-न-किसी प्रकारका अभाव तथा अपूर्णता न हो।

परिस्थितिका बाह्यरूप भले ही ऊँचा-नीचा प्रतीत हो, किंतु वस्तुतः उसके अर्थमें कोई अन्तर नहीं होता, जैसे ३/४ को ७५/१०० कर दिया जाय, तो मूल्य कुछ नहीं बढ़ता।

इस दृष्टिसे संकल्प-पूर्तिका प्रयास अपनेको बहलानेके अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं रखता।

दूसरी बात यह है कि जिन संकल्पोंको पूरा होना है, वे

होकर ही रहेंगे। संकल्प-पूर्तिकी आशा लेकर तो केवल हम अपनेहीको किसी अप्राप्त परिस्थितिमें आबद्ध करते हैं, अर्थात् परतन्त्रताका आह्वान करते हैं। और कुछ नहीं।

यह सभीको मान्य होगा कि संकल्पकी उत्पत्तिमात्रमें किसी-न-किसी प्रकारके अभावका अनुभव और पूर्तिकालमें उससे अरुचि तथा शक्तिहीनता आती है, जो किसीको अभीष्ट नहीं है।

केवल संकल्प-पूर्तिके क्षणिक सुखकी आसक्ति और प्रवृत्तिजन्य क्रियाकी सुखलोलुपता ही हमें निर्विकल्प नहीं होने देती। उसका मूल कारण एकमात्र यह है कि संकल्प-निवृत्तिसे जो शान्ति मिलती है, उसके महत्त्वको हम जानते तथा मानते नहीं हैं। इसी प्रमादसे संकल्प-पूर्तिकी दासतामें आबद्ध रहते हैं।

अब विचार यह करना है कि संकल्प-निवृत्तिमें जो शान्ति है, उसका महत्त्व तथा महिमा क्या है? तो कहना होगा कि संकल्प-निवृत्तिकी शान्ति भोगको योगमें, पराधीनताको स्वाधीनतामें और जडताको चिन्मयतामें परिवर्तित करनेमें समर्थ है। पर व्यक्तित्वका मोह हमें उस शान्तिका आदर नहीं करने देता। यद्यपि हमारे लक्ष्यकी पूर्ति निर्विकल्पतासे होनेवाली चिरशान्तिमें ही निहित है, परंतु व्यक्तित्वके मोहने

हमें अपने लक्ष्यसे विमुख कर दिया है।

अपने सीमित अस्तित्वको सुरक्षित रखनेका प्रयास ही व्यक्तित्वका मोह है। यह भलीभाँति जान लेना चाहिये कि मोह सदैव उसीके प्रति होता है, जो परिवर्तनशील हो।

हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि जो निरन्तर मिट रहा है, उसके पीछे दौड़ते हैं और जो नित्यप्राप्त है, उससे विमुख रहते हैं। इतना ही नहीं, व्यक्ति-भावको सुरक्षित रखनेके लिये पराधीनताको स्वाधीनताके समान ही आदर देते हैं और नित्यप्राप्त स्वाधीनताका निरादर करते हैं। यह व्यक्तित्वके मोहकी ही महिमा है कि जडता, परतन्त्रता तथा अनेक प्रकारके अभावोंमें ही हम जीवन मान लेते हैं, यद्यपि इनमें जीवन है नहीं, केवल जीवनका भासमात्र है, अथवा यों कहें कि जडता चिन्मयताकी, परतन्त्रता स्वतन्त्रताकी एवं व्यक्ति-भाव अनन्तकी लालसामात्र है।

यह नियम है कि लालसामें सत्ता उसीकी होती है, जिसकी वह लालसा है। इस दृष्टिसे बड़े-से-बड़े व्यक्तित्वका अस्तित्व केवल उस अनन्तके किसी अंशमात्रमें है। यद्यपि व्यक्तित्वकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, परंतु मोहवश सत्ता-जैसी प्रतीति होती है। व्यक्तित्वके मोहने ही हमें संकल्पोंमें आबद्ध कर दिया है और निर्विकल्प नहीं होने दिया। निर्विकल्पताके बिना सामर्थ्यकी उपलब्धि सम्भव नहीं है और सामर्थ्यके बिना लक्ष्यकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

अतः जडतासे अतीत चिन्मय राज्यमें प्रवेश करनेके लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि व्यक्तित्वके मोहको त्याग, निर्विकल्पता प्राप्त कर, अपनेको उस चिन्मयधामका अधिकारी बना लिया जाय, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है। परंतु व्यक्तित्वके मोहको सुरक्षित रखनेके लिये हम क्या-क्या नहीं करते हैं। बाल्यकालमें माकी गोदकी ममताके आधारपर व्यक्ति-भावको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न किया और ज्यों-ज्यों शारीरिक तथा बौद्धिक विकास होता गया, सखाओं, सखियों एवं कुटुम्बीजनोंके आधारपर व्यक्तित्वके मोहका पालन-पोषण किया तथा शिक्षित हो जानेके पश्चात् समाजके विभिन्न

विभागोंके आधारपर व्यक्ति-भावको सुदृढ़ बनाया।

इतना ही नहीं, समाजमें स्थान पानेके लिये और समाजपर शासन करनेके लिये अपनी अहंताको अनेक मान्यताओंमें आबद्ध किया। कभी रक्षक, कभी सेवक, कभी न्यायाधीश, कभी कलाकार, कभी विज्ञानवेत्ता बनकर बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंको सहन करनेका प्रयास किया और अपने व्यक्तित्वको सदाचारी, तपस्वीके रूपमें जीवित रखा और बड़े-बड़े मान-पत्र तथा पद प्राप्त किये, किंतु दीनता और अभिमानकी अग्नि ज्यों-की-त्यों जलती रही। यह सब व्यक्तित्वके मोहकी महिमा है।

व्यक्तित्वका मोह रहते हुए संकल्प-विकल्पका प्रवाह निरन्तर चलता ही रहेगा, जिससे हम दीन तथा अनाथ ही रहेंगे। दूसरोंकी दृष्टिमें भले ही महान् प्रतीत होते हों, पर अपनी दृष्टिमें तो अनेक प्रकारके अभावोंमें आबद्ध ही रहेंगे, जो किसीको भी स्वभावतः प्रिय नहीं है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम व्यक्तित्वके मोहको सुरक्षित रखना चाहते हैं या उसको छोड़कर निर्विकल्पता प्राप्त कर नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं अनन्तसे अभिन्न होना चाहते हैं? निर्विकल्पता वर्तमान जीवनकी वस्तु है, उसे प्रत्येक परिस्थितिमें प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि उसके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है।

इसी कारण निर्विकल्पता हमें अनन्त नित्य-चिन्मय जीवनसे अभिन्न करनेमें समर्थ है और व्यक्तित्वका मोह केवल परतन्त्रता, जडता, उद्विग्नता आदि विकारोंको ही उत्पन्न करता है। उसपर भी व्यक्तित्व सर्वदा सुरक्षित रह नहीं सकता।

हम भले ही जयन्तियाँ मनवायें और स्मारक बनवायें, पर व्यक्तित्वका विरोध तो होता ही रहेगा; क्योंकि व्यक्तित्वका मोह भेद उत्पन्न करता है तथा अहंको पुष्ट करता है।

यदि वर्तमान परिवर्तनशील जीवनको सार्थक करना है, तो व्यक्तित्वके मोहको त्यागकर निर्विकल्पता प्राप्त करनेके लिये अथक प्रयत्न करना चाहिये।

(जीवन-दर्शन)

‘मान, बड़ाई, स्वाद, शौकीनी, सुख-भोग, आलस्य-प्रमाद सबको छोड़कर श्रीपरमात्माके शरण होना चाहिये। भगवान्की शरणागति बिना कल्याण होना कठिन है।’

‘मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की’

(प्रो० श्रीपशुपतिनाथजी उपाध्याय)

इतिहास-पुराणों तथा विविध रामचरित्रोंमें रामकथाकी अपार महिमा निरूपित है, पर श्रीमद्भागवत, श्रीरामचरितमानस तथा अध्यात्मरामायणमें बड़े ही आकर्षक ढंगसे बार-बार रामकथाकी महिमाकी आवृत्ति होती गयी है। यहाँ तो संक्षेपमें मानसके कुछ विशेष स्थलोंसे रामकथाकी महिमा निरूपित की गयी है।

मानसमें बड़े भावपूर्ण किंतु अकाट्य तर्क, युक्ति एवं सबल ढंगसे यह प्रतिपादित किया गया है कि भगवत्कथामृत ही सर्वोपरि अमृत और परम कल्याणकारी वस्तु है और विश्वका मङ्गल एकमात्र इसीसे सहज और निःसंदेह-रूपसे हो सकता है, इसमें कभी किसीको संदेह नहीं। वास्तवमें सच्चा सुख भगवान्‌के चरित्रके ही श्रवण, मनन और कीर्तनमें है, सच्चा सत्संग भी इसीका नाम है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज स्पष्टरूपसे कहते हैं कि एकमात्र रामकथा ही संसारमें शुद्ध मङ्गलका विस्तार करनेवाली है और वह व्यक्तिगत और समष्टिगत समस्त दोषोंको तत्काल नष्ट कर देती है—

मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।

(१।१०।१ छं०)

यह सभी प्रकारके संदेह, मोह और भ्रान्तियोंको निःसंदेह-रूपसे दूर कर देती है और संसार-समुद्रको अनायास ही पार करा देती है। भगवान् श्रीरामजीकी कथा विद्वज्जनोंके लिये परम विश्राम अथवा शान्ति देनेवाली तथा सभीके मनको प्रसन्न करनेवाली और कलियुगके समस्त दोष-पापोंका शमन करनेवाली है। यह सभी मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु गौ है और सज्जनोंके लिये सुन्दर संजीवनी जड़ी है—

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ॥

(१।३१।५)

× × ×

रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि मूरि सुहाई ॥

(१।३१।७)

भगवान् श्रीरामजी समस्त सद्गुणोंके आश्रय-स्थान हैं। जितनी भी अच्छाइयाँ हैं, सब भगवान्‌से ही आयी हैं।

भगवान्‌के चरित्रके श्रवण, गान अथवा उसके बार-बार

चिन्तनसे अन्तःकरण पवित्र, शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है और रघुनाथजीके चरणारविन्दोंमें अविचल प्रेम हो जाता है। श्रीरामजीका चरित्र चिन्तामणि है और संतोंकी सुबुद्धिरूपी स्त्रीका सुन्दर शृंगार है। उनके गुणसमूह चराचर जगत्‌का कल्याण करनेवाले और मुक्ति, धन, धर्म तथा परमधामको देनेवाले हैं। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

रामचरित चिन्तामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू ॥
जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुक्ति धन धरम धाम के ॥

(१।३२।१-२)

यह मानव-जीवन क्षणभङ्गुर है। इसकी आयु भी निश्चित नहीं है, परंतु यह जीवन अर्थहीन एवं व्यर्थ नहीं है। इसका लक्ष्य परम शान्ति प्राप्त करना है। यह परम शान्ति बिना भगवान्‌में प्रेम हुए, बिना उनके चरित्रके गुणगानमें मन रमे हुए दुर्लभ ही है। जिन महाभागोंको, संतजनोंको भगवान्‌की ऐसी दुर्लभ भक्ति प्राप्त हो जाती है, भगवान्‌की कथामें रस मिलने लगता है, भगवद्गुणानुवादमें अनुराग हो जाता है, फिर उन्हें स्वप्नमें भी दुःख नहीं सहन करना पड़ता—

राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुं ताके ॥

(७।१२०।९)

—और उसे मुक्तिकी प्राप्ति भी सहज ही हो जाती है—

जम गन मुहुं मसि जग जमुना सी। जीवन मुक्ति हेतु जनु कासी ॥

(१।३१।११)

अनन्त महिमामयी श्रीरामकथा हाथकी सुन्दर ताली है, जो संदेहरूपी पक्षियोंको उड़ा देती है अर्थात् हृदयकी जितनी ग्रन्थियाँ हैं, रामकथाके प्रभावसे उन सबका उच्छेद हो जाता है और सभी प्रकारके संशय भी दूर हो जाते हैं। यह रामकथा कलियुगरूपी वृक्षको काटनेके लिये तीक्ष्ण धारवाले कुठारके समान है। जिस प्रकार भगवान् श्रीराम अनन्त हैं, उसी तरह उनकी कथा, कीर्ति और गुण भी अनन्त ही हैं—

रामकथा सुंदर कर तारी। संसय बिहग उड़ाविहारी ॥

रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी ॥

× × ×

जथा अनन्त राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना ॥

हरि अनंत हरिकथा अनन्ता ।

(१।११४।१-२, ४; १४०।५)

यह उल्लेखनीय है कि मानव-मन अत्यन्त ही चञ्चल है, जो सर्वदा सांसारिक वस्तुओंकी कामना करता रहता है। संसारकी क्षणभङ्गुरताको समझते हुए भगवान्का भजन करना हमारा परम उद्देश्य होना चाहिये। हमें अहर्निश प्रभु-प्राप्तिकी कामना होनी चाहिये। इसलिये हमें सतत राम-नामका जप एवं उनके गुणोंका स्मरण करना चाहिये, उनकी कथाओंको श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये। प्रभुकी कथाओंको सुनने एवं कहनेसे मन आह्लादित, शरीर पुलकित एवं आत्मचेतनका आभास होता है। फिर शनैः-शनैः भगवत्स्वरूपका बोध होने लगता है एवं 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।' (२।१२७।३) की उक्ति चरितार्थ होती है।

रामकथा उस खानके सदृश है जो पवित्र वेद-पुराणरूपी पर्वतोंमें समाहित है। इसे साधुजन सुन्दर बुद्धिरूपी कुदालसे निकालकर ज्ञान एवं वैराग्यरूपी नेत्रोंसे दर्शन करते हैं—

पावन पर्वत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना ॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥

(७।१२०(क)।१३-१४)

वस्तुतः रामकथा अत्यन्त ही पवित्र एवं पुनीत है—

पूँछिहु राम कथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि ॥

(७।१२३(क)।५)

भगवान् शंकरने श्रीरामकी कथा मा पार्वतीको सुनायी। यह कथा कलियुगमें पापोंका क्षय करनेवाली है और संसारके संसृति अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे मानवको मुक्ति प्रदान करनेवाली है—

राम कथा गिरिजा मैं बरनी। कलि मल समनि मनोमल हरनी ॥
संसृति रोग सजीवन मूरी। राम कथा गावहि श्रुति सूरी ॥

(७।१२९।१-२)

श्रीरामके बचपन, विवाह, वनगमन एवं लंका-विजय आदि सम्पूर्ण कथाओंके श्रवणसे भगवान्के चरण-कमलमें प्रेम उपजता है—

गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित ।

भयउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक ॥

नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा ॥

(७।६८(क); ७।१२९।८)

जिसे भगवान् श्रीरामके चरणारविन्दोंमें प्रेमकी आकाङ्क्षा हो अथवा जो मोक्षपदको चाहता हो उसे रामकथाका श्रवण अवश्य करना चाहिये—

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बाण ।

भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान ॥

(७।१२८)

अतः सारे कार्योंको छोड़कर हमें रामकथामें अनुराग रखते हुए भगवद्भक्तिकी ओर ही उन्मुख होना चाहिये—

कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। व्यास समास स्वमति अनुरूपा ॥

श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी ॥

(७।१२३।१-२)

राम-कथाका श्रवण भक्ति-प्राप्तिका अति सुगम मार्ग प्रशस्त करता है—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहि बिनहि प्रयास ।

जे यह कथा निरंतर सुनिहि मानि बिस्वास ॥

(७।१२६)

इन कथाओंको सुनकर, समझकर एवं स्मरण कर अलौकिक आनन्द मिलता है, जो सांसारिक सुखोंसे कई गुना अधिक है। सांसारिक सुखोंका भोग करते हुए मानव-शरीर शनैः-शनैः कमजोर एवं जर्जर हो जाता है, परंतु अलौकिक सुख प्राप्त करनेपर मनमें शान्ति, हृदयमें आह्लाद एवं शारीरिक क्षमतामें वृद्धि होती है। कथाके प्रभावसे सभी मनोरथोंकी पूर्ति तो अनायास ही हो जाती है—

मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा ॥

(७।१२९।५)

कलियुगमें योग, यज्ञ एवं व्रत आदिसे श्रीरामके गुण-समूहोंका गान ही सर्वाधिक प्रभावशाली एवं गुणकारी है—

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा ॥

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि ॥

(७।१३०(क)।५-६)

जहाँ राम-कथा होती है वहाँ सभी तीर्थ, देवता, ऋषि एवं स्वयं भगवान् राम उपस्थित रहते हैं। इसमें कोई शंका नहीं है। रामचरित्रके गुणगानसे कलियुगके समस्त पाप और मनके

मैल धुल जाते हैं और बिना परिश्रमके ही साधक भगवान्के अखण्ड धामको प्राप्त कर लेता है—

रघुबंस भूपन चरित यह नर कहहि सुनि जे गावहीं ।

कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ॥

(७।१३०।छं० २)

अतः महात्मा तुलसीदासके समान ही अत्यन्त विनय, श्रद्धा, विश्वास एवं भक्तिका आश्रय ग्रहणकर श्रीरामजीसे यही प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो ! मैं अपनेको अत्यन्त असहाय पाता हूँ, क्योंकि मैं अति दीन, बलहीन एवं अल्पज्ञ हूँ, न तो मेरे समान कोई दीन है और न आपके समान कोई दीनोंका हित करनेवाला दीनबन्धु। अतः ऐसा विचारकर हे रघुवंशशिरोमणि श्रीराम ! आप मेरे जन्म-मरणके भयानक दुःखोंका हरण कर लीजिये और मुझे अपनी शरणमें ले

लीजिये। हे प्रभो ! मेरा मन अति चञ्चल है। वह आपकी ओर केन्द्रित नहीं हो पाता। मैं सांसारिक भोगोंकी ओर आकृष्ट हूँ। मैं आपका शरणागत भी नहीं हो पाता। आप मुझे भवबन्धनसे मुक्त कर दें—

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर ।

अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर ॥

(७।१३० (क))

हे दीनबन्धो ! जिस प्रकार लोभीको धन एवं कामी पुरुषको स्त्री प्रिय होती है, हे प्रभो ! आप भी मुझे वैसे ही प्रिय लेंगे। आप मुझपर कृपा करें—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

(७।१३० (ख))

मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी कुछ सहायता कर सकता हूँ

भगवान्की कृपासे आज मेरे लिये इस रहस्यका उद्घाटन हो रहा है कि मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी 'कुछ' सहायता कर सकता हूँ। मेरी स्थिति चाहे जो हो, भगवान्की जो कुछ देन मुझे प्राप्त है, मैं उसीमेंसे दूसरोंको 'कुछ' दे सकता हूँ। मेरा यह दान मेरे कोषको कभी तनिक भी खाली नहीं करता, बल्कि वह उन वितरण की हुई वस्तुओंको हजारों गुने परिमाणमें मेरे कोषमें उँडेलता रहता है।

आजतक मैं सोचता रहता था कि मेरे पास दूसरोंको देनेके लिये 'कुछ' भी नहीं है। पर आज मुझे अपनी इस भूलका अनुभव हो रहा है। भगवान्ने वितरणके लिये मुझे बहुत दिया है और निरन्तर देता ही जा रहा है। उस धरोहरकी मैं या तो उपेक्षा कर देता हूँ या तिरस्कार कर देता हूँ अथवा उसे अपनी मानकर छिपा लेता हूँ। इसीसे मैं दुखी होता हूँ और दूसरोंके दुःखका कारण बनता हूँ। मुझे भगवान्की धरोहरका सावधानीके साथ अनुभव करना चाहिये और मुक्तहस्तसे उसका उनकी सेवामें ही वितरण करना चाहिये।

भगवान्की सबसे बड़ी देन प्रेम है। आज मैं निश्चय करता हूँ कि मैं भगवान्की इस देनका खुले हृदयसे वितरण करूँगा, अपने सम्पर्कमें आनेवालोंको अपने हृदयका सच्चा प्रेम दूँगा। सबमें प्रेम देखूँगा, कहीं भी असंतोष-द्वेषको नहीं देखूँगा। ऐसा करनेपर ही मैं भगवान्के प्रेमके निरन्तर बहते हुए प्रवाहको गति दे सकूँगा, जिससे भगवान्का प्रेम निरन्तर अधिक वेगके साथ मेरी ओर प्रवाहित होता रहेगा।

भगवान्ने मुझे अपार शक्ति दी है। मैं इस शक्तिको दूसरोंकी सेवामें लगा दूँगा तथा मनमें इस भावको जागरूक रखूँगा कि ऐसा करके मैं किसीपर अहसान नहीं कर रहा हूँ, प्रत्युत भगवान्की वस्तुको भगवान्के इच्छानुसार आगे बढ़ाकर मैं अपनेको उनकी शक्ति प्राप्त करनेका विशेष पात्र बना रहा हूँ। भगवान्ने मुझे विश्वास, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि 'वस्तुएँ' दी हैं। मैं उदारताके साथ इनका वितरणकर भगवान्के कार्यमें योग दूँगा और इन वस्तुओंको विशेषरूपमें प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त करूँगा।

भगवान्की वस्तुओंको भगवान्के इच्छानुसार भगवत्सेवामें लगाकर मैं भगवान्का विशेष प्रेम प्राप्त करूँगा, मैं निश्चय ही भगवान्का 'निज जन' बननेका सौभाग्य प्राप्त कर लूँगा।

प्रश्नोत्तर

[एक सत्संगी भाईद्वारा ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजसे पूछे गये प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—तत्त्वज्ञान सहजमें कैसे प्राप्त हो ?

उ०—इससे अपना मन खराब होता है, वह सुधर नहीं सकता ।

उत्तर—माताके पेटसे नम्र पैदा हुए थे और बादमें सब अनात्मवस्तुएँ भर दी गयीं, उन्हें विचारद्वारा बाहर निकालो, तभी स्वरूप-ज्ञान या तत्त्व-ज्ञान होगा ।

प्र०—क्या किसीके कटु शब्द कहनेपर क्रोध करना चाहिये ?

प्र०—क्या संत ईश्वरसे भी बड़ा होता है ?

उ०—नहीं, सामनेवाला अज्ञानवश कटु शब्द कहता है । हम क्रोध करके किसीसे द्वेष न करें ।

उ०—हाँ, क्योंकि संत ही ईश्वरका शास्त्रानुसार पता बताते हैं । ईश्वर ही तुम्हारी आत्मा है, यह ज्ञान देकर अज्ञान मिटाते हैं ।

प्र०—सत्संगमें सुनी हुई बातें भूल जाते हैं, क्या करें ?

प्र०—आजकल जो चमत्कार और सिद्धि दिखाते हैं उन्हींको बड़ा संत समझकर लोग उनके चक्करमें क्यों पड़ते हैं ?

उ०—चिन्ता मत करो । जैसे बोतलमें घी डालकर निकालनेसे पूरा नहीं निकलता—कुछ रह जाता है, वैसे ही श्रद्धासे सुनी वस्तु धीरे-धीरे जम जाती है ।

उ०—जहाँ चमत्कार होगा वहाँ ज्ञान नहीं होगा । लोग अज्ञानी होते हैं ।

प्र०—मनका विक्षेप कैसे मिटे ?

प्र०—क्या तीर्थ-यात्रा बार-बार करनी चाहिये ?

उ०—ज्यादा घूमना-फिरना मनका विक्षेप है । एकान्तमें रहकर मनन करना चाहिये ।

उ०—भीतरके अधिष्ठान चेतनका अनुभव करो । बाहर तीर्थमें विशेष मत भटको, कुछ नहीं मिलेगा । आत्मचिन्तन बड़ा तीर्थ है ।

प्र०—संतोंकी आँखोंसे आँसू क्यों आते हैं ?

प्र०—ईश्वर पाँच मिनटमें ही कैसे मिल सकता है ?

उ०—संत ईश्वर-प्रेममें रोता है । संसारी परिवारके लिये रोता है ।

उ०—पत्नी, पुत्र, धनकी ममता छूटनेपर संतोंके सत्संगसे अज्ञान मिटते ही साक्षात्कार होता है । आत्मसाक्षात्कार ही ईश्वर-दर्शन है एवं आत्मा नित्य प्राप्त ही है, केवल भ्रम मिटाना है ।

प्र०—दुःख आये तो क्या करना चाहिये ?

प्र०—जन्मका कारण क्या है ?

उ०—एकान्तमें बैठकर रो लो, किसीके सामने नहीं । विचार करते जाओ—दुःख स्वप्नके समान चला जायगा ।

उ०—जन्मका कारण वासना है । ईश्वर-सृष्टि ठीक है । जीव अज्ञानमें (मैं-मेरा मानकर) ही फँसता है ।

प्र०—चिन्तन कैसे करें ?

प्र०—सत्संगसे क्या लाभ मिलता है ?

उ०—अकेले एकान्तमें रहकर । दो होनेपर फालतू बातें होती हैं ।

उ०—सत्संगसे भ्रम एवं वासनाएँ मिट जाती हैं, अन्तःकरण शुद्ध होता है ।

प्र०—कर्म-उपासना क्यों करनी चाहिये ?

प्र०—आत्मसाक्षात्कार कैसे होता है ?

उ०—उपासनासे अन्तःकरण शुद्ध होता है, फिर ज्ञानकी प्राप्ति होती है ।

उ०—अहंकार और ममताका त्याग तथा वासना-क्षयसे शीघ्र आत्मसाक्षात्कार होता है ।

प्र०—बुद्धि शुद्ध कैसे हो ?

प्र०—किसीकी निन्दा करनेसे क्या वह सुधर सकता है ?

उ०—अच्छे (शुद्ध बुद्धिवालों) का संग करनेसे । जैसा संग वैसा रंग ।

प्र०—सम्बन्ध सबसे कैसा रखना चाहिये ?

उ०—संसारका व्यवहार जितना कम रखोगे उतना ही ठीक है, क्योंकि मन एक है इसलिये परमार्थमें लगाना

(प्रश्न—श्रीदशरथकुमारजी लाठ)

गीता-तत्त्व-चिन्तन

[गीतामें सिद्धोंके लक्षण]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

समतादिषु चिह्नेषु सिद्धानां तु समानता ।

तदीयव्यवहारे तु क्रियाभावविभिन्नता ॥

‘कर्मयोग’ कामना- (फलेच्छा-) के त्यागसे आरम्भ होता है (२।४८) और कामनाके सर्वथा त्यागमें ही समाप्त होता है (२।५५) । अतः कर्मयोगमें कामनाके त्यागकी बात मुख्य रहती है ।

‘ज्ञानयोग’ असत्-सत्, प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेकसे आरम्भ होता है (१३।१९) । और असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदमें ही समाप्त होता है (१३।३४) । अतः ज्ञानयोगमें असत्-सत्का विवेक मुख्य रहता है ।

‘भक्तियोग’ भगवान्की परायणतासे आरम्भ होता है (१२।६) और भगवत्परायणतामें ही समाप्त होता है (१२।१४) । अतः भक्तियोगमें भगवत्परायणता मुख्य रहती है ।

उपर्युक्त तीनों योग जिससे आरम्भ होते हैं, उसीमें उनकी पूर्णता होती है । अतः गीतामें जहाँ कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषोंका वर्णन आया है (२।५५—७२), वहाँ कर्मयोगी साधकोंका भी वर्णन आया है (२।५९, ६४—६५ आदि) । जहाँ ज्ञानयोगसे सिद्ध महापुरुषोंका वर्णन आया है (१४।२२—२५), उससे पहले ज्ञानयोगी साधकोंका वर्णन आया है (१४।१९—२०) । ऐसे ही जहाँ भक्तियोगसे सिद्ध महापुरुषोंका वर्णन आया है (१२।१३—१९), उससे पहले भक्तियोगी साधकोंका वर्णन आया है (१२।६—१०) ।

साधनावस्थामें कर्मयोगीकी कर्म करनेमें ज्यादा प्रवृत्ति रहती है; अतः सिद्धावस्थामें भी उसकी कर्मोंमें स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है । इसलिये कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणोंमें उदासीनताका वर्णन नहीं आया है (६।७—९) । ज्ञानयोगी असत्का त्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित रहता है; अतः उसकी संसारसे स्वाभाविक उदासीनता रहती है (१४।२३) । भक्तियोगीका भगवान्में प्रेम होनेसे वह संसारसे उदासीन हो जाता है (१२।१६) ।

तीनों ही योगोंसे सिद्ध महापुरुष अहंता-ममतासे रहित हो जाते हैं (कर्मयोगी २।७१; ज्ञानयोगी १८।५३; भक्तियोगी १२।१३) । तीनों ही सिद्धोंमें राग-द्वेषका अभाव हो जाता है (कर्मयोगी २।५७; ज्ञानयोगी १४।२२; भक्तियोगी १२।१७) । तीनोंमें ही समता रहती है (कर्मयोगी ६।७—९; ज्ञानयोगी १४।२४-२५; भक्तियोगी १२।१८) ।

भक्तियोगमें सब कुछ वासुदेव ही हैं (७।१९) — ऐसा अनुभव होनेसे प्राणिमात्रके प्रति मित्रता और करुणाका भाव विशेषतासे प्रकट होता है (१२।१३), जब कि कर्मयोग और ज्ञानयोगमें वैसा नहीं होता ।

कोई भी साधक किसी भी मार्गसे चले, अन्तमें उसकी पूर्णता होनेपर सब एक हो जाते हैं । ऐसा होनेपर भी कर्मयोगीको ज्ञानयोगकी बातें विशेषरूपसे समझमें आ जाती हैं और भक्तियोगकी बातें साधारणरूपसे (थोड़ी) समझमें आती हैं । ज्ञानयोगीको कर्मयोग और भक्तियोग — इन दोनोंकी ही बातोंका ज्ञान नहीं होता; परंतु भक्तियोगीको कर्मयोग और ज्ञानयोग — इन दोनोंकी ही बातोंका प्रायः ज्ञान हो जाता है ।

कर्मयोगमें कामनाओंके त्यागकी कुछ कमी रहनेसे और ज्ञानयोगमें अपनेमें कुछ विशेषता दीखनेसे अभिमान रह सकता है; क्योंकि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी अपनी निष्ठा होती है । अतः अभिमानको दूर करनेकी जिम्मेवारी खुद उनपर ही रहती है । परंतु भक्तियोगीमें अभिमान रह ही नहीं सकता; क्योंकि वह पहलेसे ही भगवान्के परायण रहता है । हाँ, भगवत्परायणतामें कमी रहनेसे भक्तियोगीमें भी अभिमान रह सकता है, पर उस अभिमानको दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्पर ही रहती है, भक्तपर नहीं; क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होता है ।

तात्पर्य है कि तीनों योगोंकी अपनी-अपनी मुख्यता होनेसे तीनों योग अलग-अलग हैं । ऐसा होनेपर भी तत्त्व, समता, निर्विकारता आदिकी प्राप्तिमें तो तीनों योगोंसे सिद्ध महापुरुषोंमें एकता रहती है, पर उनके व्यवहारमें भिन्नता रहती है ।

भक्त-गाथा—

शिवभक्त महाकाल

प्राचीन कालमें वाराणसी नगरीमें माण्डि नामके एक महायशस्वी ब्राह्मण रहते थे। वे शिवजीके बड़े भक्त थे और सदा शिवमन्त्रका जप किया करते थे। प्रारब्धवश उनके कोई संतान नहीं थी। इसलिये उन्होंने पुत्रकी कामनासे दीर्घकाल-तक शिवमन्त्र-जपका अनुष्ठान किया। एक दिन भगवान् शंकर उनकी तपश्चर्यासे प्रसन्न हो उनके सामने प्रकट हुए और बोले—‘वत्स माण्डि ! मैं तुम्हारी आराधनासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारा मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होगा और तुम्हें मेरे ही समान प्रभावशाली एवं शक्तिसम्पन्न मेधावी पुत्ररत्न प्राप्त होगा, जो तुम्हारे समग्र वंशका उद्धार करेगा।’ यों कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये और माण्डि भगवान् शंकरके योगिदुर्लभ, नयनभिराम रूपका दर्शन करके और उनसे मनचाहा वरदान पाकर अत्यन्त हर्षित हुए।

माण्डिकी पत्नीका नाम था चटिका। वह महान् पतिव्रता एवं तपस्याकी मानो मूर्ति ही थी। समय पाकर तपोमूर्ति ब्राह्मणपत्नी गर्भवती हुई। क्रमशः गर्भ बढ़ने लगा और उसके साथ-साथ उस सतीका तेज और भी विकसित हो उठा, किंतु पूरे चार वर्ष व्यतीत हो गये, संतान गर्भसे बाहर नहीं आयी। इस घटनाको देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। माण्डिने सोचा कि अवश्य ही यह कोई अलौकिक बालक है, जो गर्भसे बाहर नहीं आना चाहता। अतः वे अपनी पत्नीके पांस जाकर गर्भस्थ शिशुको सम्बोधित करके कहने लगे—‘वत्स ! सामान्य पुत्र भी अपने माता-पिताके आनन्दको बढ़ानेवाले होते हैं, फिर तुम तो अत्यन्त पवित्र चरित्रवाली माताके उदरमें आये हो और भगवान् शंकरके अनुग्रहसे हमारी दीर्घकालकी तपस्याके फलरूपमें प्राप्त हुए हो। ऐसी दशामें क्या तुम्हारे लिये यह उचित है कि तुम माताको इस प्रकार कष्ट दे रहे हो और हमारी भी चिन्ताके कारण बन रहे हो ? हे पुत्र ! यह मनुष्यजन्म ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधक है। शास्त्रोंमें इसे देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया गया है। फिर क्यों नहीं तुम शीघ्र ही बाहर आकर हम सब लोगोंको आनन्दित करते हो ?’

गर्भ बोला—‘हे तात ! जो कुछ आपने कहा, वह सब मुझे ज्ञात है। मैं यह भी जानता हूँ कि इस भ्रमण्डलमें

मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है, परंतु मैं कालमार्गसे अत्यन्त भयभीत हूँ। वेदोंमें काल और अर्चि नामके दो मार्गोंका वर्णन आता है। कालमार्गसे जीव कर्मोंके चक्करमें पड़ जाता है और अर्चिमार्गसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। कालमार्गसे चलनेवाले जीव चाहे पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें ही क्यों न चले जायँ, वहाँ भी उन्हें सुखकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष निरन्तर इस चेष्टामें लगे रहते हैं कि जिससे उन्हें इस घोररूप गम्भीर कालमार्गमें न भटकना पड़े। अतः यदि आप कोई ऐसा उपाय कर सकें, जिससे मेरा मन नाना प्रकारके सांसारिक दोषोंसे लिप्त न हो, तो मैं इस मनुष्यलोकमें जन्म ले सकता हूँ।’

गर्भस्थ शिशुकी इस शर्तको सुनकर माण्डि और भी भयभीत हो गये। उन्होंने सोचा कि भगवान् शंकरको छोड़कर कौन इस शर्तको पूरा कर सकता है ! जिन्होंने कृपा करके मेरे मनोरथको पूर्ण किया है, वे ही इस शर्तको भी पूरा करेंगे। यों सोचकर वे मन-ही-मन भगवान् शंकरकी शरणमें गये और उनसे प्रार्थना की। माण्डिकी प्रार्थना भगवान् आशुतोषने सुन ली। उन्होंने अपने धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यादिको मूर्तरूपमें बुलाकर कहा कि ‘देखो, माण्डिपुत्रको विपरीत ज्ञान हो गया है, अतः तुमलोग जाकर उसे समझाओ और ठीक रास्तेपर लाओ।’ भगवान् महेश्वरकी आज्ञा पा, वे विभूतियाँ साकार विग्रह धारणकर गर्भस्थ शिशुके निकट गयीं और उसे सम्बोधित कर कहने लगीं—‘महामति माण्डिपुत्र ! तुम किसी प्रकारका भय न करो। भगवान् शंकरकी कृपासे हम धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य कभी तुम्हारे मनका परित्याग नहीं करेंगे। अतः तुम निर्भय होकर गर्भसे बाहर निकल आओ।’ यों कहकर वे चारों दिव्य मूर्तियाँ चुप हो गयीं। उनके चुप हो जानेपर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी विकराल मूर्ति धारणकर भगवान् शंकरकी आज्ञासे वहाँ उपस्थित हुए तथा माण्डिपुत्रसे कहने लगे कि ‘तुम यदि हमारे भयसे बाहर न आते हो तो इस भयका त्याग कर दो। भगवान् शंकरकी आज्ञासे हम तुम्हारे भीतर कदापि प्रवेश नहीं कर सकेंगे।’

इस प्रकार धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तथा उनके विरोधी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यकी आश्वसन-

वाणीको सुनते ही बालक माण्डिपुत्र अविलम्ब गर्भसे बाहर निकल आया और काँपते-काँपते रुदन करने लगा। उस समय भगवान् शंकरकी विभूतियोंने माण्डिसे कहा—‘देखो माण्डि ! तुम्हारा पुत्र अब भी कालमार्गके भयसे काँप और रो रहा है। अतः तुम्हारा यह पुत्र ‘कालभीति’ नामसे विख्यात होगा।’ यों कहकर विभूतिगण अपने स्वामी शंकरजीके पास चले गये।

बालक कालभीति शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति क्रमशः बढ़ने लगा। पिताने क्रमशः उसके उपनयनादि संस्कार किये और उसे पाशुपतव्रतमें परिनिष्ठितकर शिव-पञ्चाक्षरमन्त्र (नमः शिवाय) की दीक्षा दी। कालभीति अपने पिताके समान ही पञ्चाक्षरमन्त्रके परायण हो गये। उन्होंने तीर्थयात्राके प्रसंगसे विविध रुद्रक्षेत्रोंमें भ्रमण किया और घूमते-घूमते स्तम्भतीर्थ नामक क्षेत्रमें पहुँचे, जहाँका प्रभाव उन्होंने लोगोंसे पहले ही सुन रखा था। वहाँ वे घोर तपस्या करते हुए एकाग्र मनसे रुद्रमन्त्रका जप करने लगे। उन्होंने यह नियम ले लिया कि ‘सौ वर्षतक भोजनकी तो कौन कहे, जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं करूँगा।’ ज्यों ही सौ वर्ष समाप्त होनेको आये कि एक अज्ञात पुरुष जलसे भरा हुआ एक घड़ा लेकर कालभीतिके पास आया और प्रणाम करके उस तपस्वी ब्राह्मणसे कहने लगा—‘हे महामति कालभीति ! आज तुम्हारा अनुष्ठान भगवान् शंकरकी कृपासे पूर्ण हो गया है। तुम्हें भूख-प्यास सहते पूरे सौ वर्ष हो गये हैं। मैं बड़े प्रेमसे अत्यन्त पवित्र होकर यह जल तुम्हारे लिये ले आया हूँ। तुम कृपा करके इसे स्वीकार करो और मेरे श्रमको सफल करो।’

कालभीतिको वास्तवमें प्यास बहुत सता रही थी। अञ्जलिभर पानीके लिये उनके प्राण छटपटा रहे थे, परन्तु सहसा एक अपरिचित व्यक्तिके द्वारा लाया हुआ जल ग्रहण करना उन्होंने उचित नहीं समझा। वे शङ्कापूर्ण नेत्रोंसे उस आगन्तुक पुरुषकी ओर देखते हुए बोले—‘आप कौन हैं ? आपकी जाति क्या है और आपका आचार कैसा है, कृपाकर बताइये। आपकी जाति और आचारको जान लेनेके बाद ही मैं आपके लाये हुए जलको ग्रहण कर सकता हूँ।’ इसपर वह अपरिचित व्यक्ति बोला—‘तपोधन ! मेरे माता-पिता इस लोकमें हैं या नहीं, इसका भी मुझे पता नहीं है। उनके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता। मैं सदा इसी ढंगसे रहता हूँ। आचार

अथवा धर्मसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। अतः आचारकी बात मैं क्या कह सकता हूँ ? सच पूछिये तो मैं किसी आचार-विचारका पालन भी नहीं करता।’

कालभीति बोले—यदि ऐसी बात है, तब तो मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मैं आपके दिये हुए जलको ग्रहण नहीं कर सकता। इस सम्बन्धमें मेरे गुरुदेवने जो श्रुतिसम्मत उपदेश मुझे दिया है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ। ‘जिसके कुलका हाल अथवा रक्तशुद्धिका पता न हो, साधु व्यक्ति उसके दिये हुए अन्न-जलको ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान्के सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञान नहीं रखता और न उनकी भक्ति करता है, उनके हाथका अन्न-जल भी ग्रहण करने योग्य नहीं होता। भगवान्को अर्पण किये बिना जो व्यक्ति भोजन करता है, उसे बड़ा पाप लगता है। गङ्गा-जलसे भरे हुए घड़ेमें एक बूँद मदिराके मिल जानेसे जैसे वह अपवित्र हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्की भक्ति न करनेवालेका अन्न चाहे कितनी ही पवित्रतासे बनाया गया हो, अपवित्र ही होता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य शिवभक्त भी हो, परन्तु उसकी जाति और आचार भ्रष्ट हो तो उसका भी अन्न नहीं खाया जाता। अन्न-जलके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें दोनों बातोंका विचार रखा गया है। अन्न या जल—जो कुछ भी ग्रहण किया जाय, वह भगवान्को अर्पित हो और जिसके द्वारा वह अन्न अथवा जल लाया गया है, वह जाति तथा आचारकी दृष्टिसे पवित्र हो।’

कालभीतिके इन वचनोंको सुनकर वह मनुष्य हँसने लगा और बोला—‘अरे तपस्वी ! तुम तप एवं विद्यासे सम्पन्न होनेपर भी मुझे नितान्त मूर्ख प्रतीत होते हो। तुम्हारी इस बातको सुनकर मुझे हँसी आती है। अरे नादान ! क्या तुम नहीं जानते कि भगवान् शिव सभी भूतोंके अंदर समानरूपसे निवास करते हैं ? ऐसी दशामें किसीको पवित्र और किसीको अपवित्र कहना कदापि उचित नहीं है। अपवित्र कहकर किसीकी निन्दा करना प्रकारान्तरसे उसके अंदर रहनेवाले भगवान् शंकरकी ही निन्दा करना है। जो मनुष्य अपने अथवा दूसरेके अंदर भगवान्की सत्ताके सम्बन्धमें संदेह करता है, मृत्यु उस भेदज्ञानी मनुष्यके लिये विशेषरूपसे भयदायक होती है। फिर जरा विचारो तो सही कि जलमें अपवित्रता आ ही कैसे सकती है। जिस पात्रमें इसे मैं ले आया हूँ, वह मिट्टीका

बना हुआ है—मिट्टी भी ऐसी-वैसी नहीं, किंतु अवेकी आगमें भलीभाँति तपायी हुई और फिर वह जलके द्वारा शुद्ध हो चुकी है। मृत्तिका, जल और अग्नि—इनमेंसे कौन-सी वस्तु अपवित्र है ? यदि कहो कि हमारे संसर्गसे यह जल अपवित्र हो गया है तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि तुम और हम दोनों ही इस मिट्टीसे ही ने बने हैं और मिट्टीपर ही सदा रहते हैं। मेरे संसर्गसे यदि जल अशुचि हो सकता है तो जिस जमीनपर मैं खड़ा हूँ, वह जमीन भी मेरे संसर्गसे अपवित्र हो जानी चाहिये। तब तो तुम्हें भूमिको छोड़कर आकाशमें विचरण करना होगा। इन सब बातोंपर विचार करनेसे तुम्हारी उक्ति मुझे नितान्त मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है।'

कालभीतिने कहा—‘अवश्य ही भगवान् शंकरका सभी भूतोंमें निवास है। परंतु इस बातको लेकर जो सब भूतोंकी व्यवहारमें समानता करता है, वह अन्नादिका परित्याग करके मृत्तिका अथवा भस्मसे उदरपूर्ति क्यों नहीं करता ? क्योंकि उसके मतानुसार अन्नमें जो भगवान् हैं, वे ही तो मृत्तिका और भस्ममें भी हैं। परंतु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं। परमार्थ-दृष्टिसे सब कुछ शिवरूप होनेपर भी व्यवहारमें भेद आवश्यक है। इसीलिये शास्त्रमें नाना प्रकारकी शुद्धिके विधान पाये जाते हैं और उनके फल भी अलग-अलग निर्दिष्ट हुए हैं। शास्त्रकी आज्ञाके विरुद्ध आचरण करना कदापि उचित नहीं है। जो शास्त्र भगवान् शिवकी सत्ता सर्वत्र बतलाते हैं, वे ही व्यवहारमें भेदका भी विधान करते हैं। शास्त्रकी एक बात तो मानी जाय और दूसरी न मानी जाय, यह कहाँतक उचित है। दोनों ही बातें अपनी-अपनी दृष्टिसे ठीक हैं और दोनोंकी परस्पर संगति भी है।

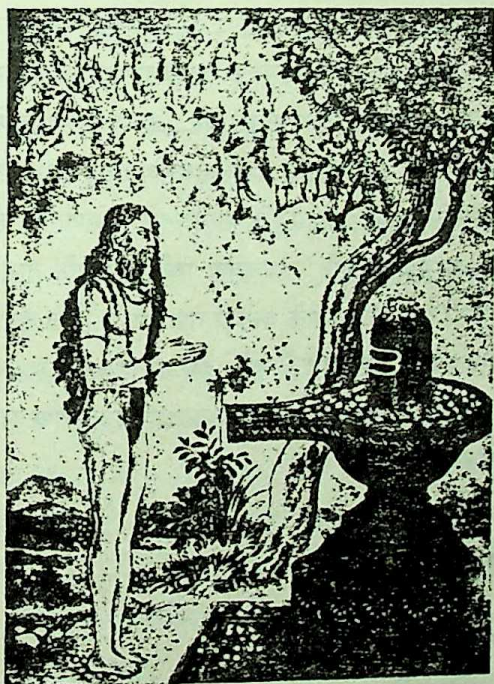
श्रुति कहती है कि ‘बाहर-भीतरकी पवित्रता रखो।’ इसी बातको इतिहास-पुराण इन शब्दोंमें कहते हैं—‘यदि परलोकमें सुखी रहना चाहते हो और कष्टोंसे बचना चाहते हो, तो शौचाचारका पालन करो। पृथिवीपर रहनेवाले व्यक्तियोंके लिये शौचाचारका पालन अवश्यकर्तव्य है।’ ऐसी दशामें यदि आप श्रुतियोंकी अवहेलना करके ‘सब कुछ शिवमय है’ यह कहकर व्यवहारके भेदको मिटाना चाहते हैं तो फिर बताइये, क्या श्रुति-पुराणादि शास्त्र व्यर्थ नहीं हो जायँगे ? आप जो यह कहते हैं कि भगवान् शिव सभी भूतोंमें

स्थित हैं, यह ठीक है। भगवान् शिव सर्वत्र हैं, यह बात अक्षरशः सत्य है। फिर भी व्यक्तिभेदसे उनकी सत्तामें भी भेद कहा जा सकता है। इसके लिये मैं आपको एक दृष्टान्त देता हूँ। यद्यपि सभी सोनेके गहने सुवर्ण नामकी एक ही धातुसे बने हुए होते हैं, तब भी सबका सोना एक ही दामका अथवा एक ही रंगका नहीं होता। उनमेंसे एकका सोना एकदम शुद्ध—टकसाली होता है, दूसरेका उसकी अपेक्षा कुछ नीचे दर्जेका होता है और तीसरेका और भी निकृष्ट होता है। परंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी सुवर्णके गहनोंमें सोना मौजूद है। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि सभी गहनोंका सोना एक-सा नहीं है। इसी प्रकार भगवान् शिव भी सभी भूतोंमें हैं अवश्य, परंतु एकके अंदर उनका प्रकाश अत्यन्त शुद्ध है, दूसरेके अंदर वह उतना शुद्ध नहीं है और तीसरेके अंदर वह और भी मलिन है। इस प्रकार समस्त पदार्थोंमें व्यवहारकी दृष्टिसे समता नहीं की जा सकती। जिस प्रकार निकृष्ट श्रेणीका सोना दाहादिके द्वारा शोधित होकर क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त होता है, उसी प्रकार मलिन अन्तःकरण तथा मलिन देहवाले जीव शौचादिके द्वारा शुद्ध होकर ही शुद्ध शिवत्वके अधिकारी होते हैं। सामान्य शौचादिके द्वारा सहसा शुद्ध शिवत्वका लाभ सम्भव नहीं है, इसीलिये शास्त्रोंमें देह-शोधनकी आवश्यकता बतायी गयी है। देह शोधित होनेपर ही देही स्वर्गादि उच्च लोकोंको प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार जो बुद्धिमान् पुरुष देह-शोधनकी इच्छा रखते हैं, वे चाहे जिस व्यक्तिसे अन्न-जल नहीं ग्रहण करते। इसके विपरीत जो लोग शौचाचारका विचार न करके चाहे जिसका अन्न-जल ग्रहण कर लेते हैं, वे पवित्र आचरणवाले होनेपर भी कुछ ही समयमें तमोगुणसे आच्छन्न होकर जडीभूत हो जाते हैं। इसलिये मैं आपका यह जल ग्रहण नहीं कर सकता। इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।’

तपस्वीके इस शास्त्रानुमोदित एवं युक्तियुक्त भाषणको सुनकर वह अज्ञात मनुष्य चुप हो गया। उसने पैरके अँगूठेसे बात-की-बातमें एक बड़ा-सा गड्ढा खोद डाला और उसमें उस मटकेके जलको उँडेल दिया। वह बड़ा गड्ढा उस मटकेमें जलसे लबालब भर गया, फिर भी थोड़ा जल उस मटकेमें बच रहा। उस बचे हुए जलसे उसने निकटवर्ती एक सरोवरको

भर दिया। इस अद्भुत व्यापारको देखकर कालभीति तनिक भी विस्मित नहीं हुए। उन्होंने सोचा भूतादिकी उपासना करनेवाले बहुधा इस प्रकारकी आश्चर्यजनक घटनाएँ करके दिखाया करते हैं, परंतु इस प्रकारके आश्चर्योंसे श्रुतिमार्गमें कोई विरोध नहीं आ सकता।

भक्त कालभीतिके दृढ़ निश्चयको देखकर वह अपरिचित व्यक्ति सहसा जोरसे हँसता हुआ अन्तर्धान हो गया। कालभीति भी यह देखकर आश्चर्यमें डूब गये और उस व्यक्तिके सम्बन्धमें नाना प्रकारके ऊहापोह करने लगे। इस प्रकार जब वे विचारमें डूबे हुए थे कि उनकी दृष्टि सहसा एक बिल्ववृक्षके मूलकी ओर गयी। वहाँ उन्होंने देखा कि एक विशाल शिवलिङ्ग अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया है। उसके तेजसे दसों दिशाएँ उद्भासित हो उठी हैं। आकाशमें गन्धर्वगण



सुमधुर गान कर रहे हैं और अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं। देवराज इन्द्र उसके ऊपर पारिजातके पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं तथा अन्यान्य देवता एवं मुनिगण भी जय-जयकार करते हुए नाना प्रकारसे भगवान् शंकरकी स्तुति कर रहे हैं। इस प्रकार वहाँ बड़ा भारी उत्सव होने लगा। कालभीतिने भी अत्यन्त आनन्दित होकर उस स्वयम्भू लिङ्गको प्रणाम किया और स्तुति करते हुए कहा—

‘जो पापराशिके काल है, संसाररूपी कर्मके काल है

तथा कालके भी काल हैं, उस कलाधर, कालकण्ठ महा-कालकी मैं शरण आया हूँ। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। हे शिव ! आपसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है और आप स्वयं अनादि हैं। जहाँ-जहाँ जिस-जिस योनिमें मैं जन्म लेता हूँ, वहाँ-वहाँ आप मेरे ऊपर करुणाकी निरन्तर वर्षा करते हैं। हे ईश्वर ! जो संसारसे विरक्त होकर आपके षडक्षरमन्त्रका जप करते हैं, आप उन समस्त मुनिगणोंपर बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। हे प्रभो ! मैं उसी ‘ॐ नमः शिवाय’ इस षडक्षरमन्त्रका निरन्तर जप करता हूँ।’

भक्तश्रेष्ठ कालभीतिकी स्तुतिकी सुनकर भगवान् शंकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे उसी लिङ्गमेंसे अपने स्वरूपमें प्रकट हो गये और दिव्य प्रकाशसे त्रिलोकीको प्रकाशित करते हुए उस ब्राह्मणसे बोले—‘द्विजश्रेष्ठ ! तुमने इस महातीर्थमें कठोर तपस्याके द्वारा जो मेरी आराधना की है, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब मेरी कृपासे काल भी तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेगा। मैंने ही मनुष्य-शरीर धारण करके तुम्हारे विश्वासकी परीक्षा ली थी और मुझे हर्ष है कि उस परीक्षामें तुम पूर्णतया सफल हुए। तुम्हारे-जैसे दृढ़विश्वासी पुरुष जिस धर्मका आचरण करते हैं, वही धर्म वास्तवमें श्रेष्ठ है। मैं तुम्हारे लिये जो जल ले आया था, वह समस्त तीर्थोंका जल है और अत्यन्त पवित्र है। मैंने उसके द्वारा ही उस गड्डे एवं सरोवरको भरा है। अब तुम मुझसे अपना अभिलषित वर माँगो। तुम्हारी आराधनासे मैं इतना अधिक प्रसन्न हुआ हूँ कि तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय न होगा।’

कालभीतिने कहा—‘प्रभो ! आपने मेरे प्रति जो प्रसन्नता प्रकट की है, उससे मैं वास्तवमें धन्य हो गया हूँ। वास्तवमें धर्म वही है, जिससे भगवान्की प्रसन्नता सम्पादित होती है। जिस धर्मसे आप भगवान्की संतुष्टि नहीं होती, वह धर्म धर्म ही नहीं है। अब आप यदि मुझपर प्रसन्न हुए हैं, तो मेरी आपके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि आप अबसे सदा इस लिङ्गमें विराजमान रहें, जिससे इस लिङ्गके प्रति जो कुछ भी पूजा-अर्चा की जाय, वह अक्षय फल देनेवाली हो जाय।’

भगवान् शंकरने कालभीतिकी इस निष्काम प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए कहा—‘वत्स ! तुमने मेरी आराधनाके द्वारा कालमार्गपर विजय प्राप्त की है, इसलिये तुम भी महाकाल

नामसे विख्यात होकर नन्दीकी भाँति मेरे अनुचररूपमें चिरकालतक मेरे लोकमें सुखपूर्वक निवास करोगे। कुछ ही दिनों बाद इस स्थानपर करन्धम नामके राजर्षि तुमसे मिलने आयेंगे, उन्हें धर्मका उपदेश देकर तुम मेरे लोकमें चले आना।' भगवान् शिव यह कहकर उस लिङ्गके अंदर लीन हो गये। इसके बाद महाकाल भी आनन्दपूर्वक उस स्थानमें रहकर तपस्या करने लगे।

कुछ दिनों बाद राजा करन्धम महाकालतीर्थका माहात्म्य और महाकालके चरित्रकी कथा सुनकर धर्मके सम्बन्धमें विशेष तत्त्व जाननेकी इच्छासे वहाँ आये। 'महाकाल' लिङ्गका दर्शन करके करन्धम राजाके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने उस समय अपने जीवनको सफल समझा। इसके बाद महामहोपचारसे उन्होंने महाकाल लिङ्गकी पूजा की और फिर भक्तवर महाकालके पास पहुँचकर प्रणाम किया। राजाको आते देखकर महाकालको भगवान् शंकरका वचन स्मरण हो आया और उन्होंने हास्ययुक्त वदनसे राजाके सामने आकर उनका स्वागत किया और अर्घ्य-पाद्यादि उपचारोंके द्वारा उनका सत्कार किया। राजा करन्धमने शान्तमूर्ति भक्तवर महाकालसे कुशल-प्रश्नके अनन्तर अनेकों धर्मविषयक प्रश्न किये और महाकालने उन सबका शास्त्रानुमोदित उत्तर देकर राजाका समाधान किया। उनके उपदेशका सार यही था कि 'घरमें ही रहकर इस लोकमें धर्म, अर्थ, काम तथा मृत्युके बाद मोक्ष प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय माहेश्वर-धर्मका पालन अर्थात्

सब प्रकारसे भगवान् शंकरकी शरण होकर उनकी भक्ति करते हुए उन्हींकी प्रीतिके लिये वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करना है।'

इस प्रकार महाकाल विविध धर्मोंका उपदेश कर ही रहे थे कि सहसा आकाशमें बड़ा भारी शब्द होने लगा। महाकालने उस ओर देखा—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, उनके अनुचर तथा भगवतीके सहित स्वयं भगवान् शंकर आ रहे हैं। उनके साथ इन्द्रादि देवता, वसिष्ठादि मुनीश्वर तथा तुम्बुरु प्रभृति गन्धर्व हैं। महामति महाकालने भक्ति-निर्भर-चित्तसे उठकर सबकी अभ्यर्थना की और अनेक प्रकारसे पूजा की। ब्रह्मा आदि देवताओंने महाकालको उत्तम रत्न-सिंहासनपर बिठाकर महीसागर-सङ्गम-क्षेत्रमें उनका अभिषेक किया। देवी भगवतीने महाकालको वात्सल्य-भावसे आलिङ्गित कर गोदमें बिठाया और पुत्रवत् प्यार करती हुई बोलीं—'शिवव्रतपरायण वत्स ! यह ब्रह्माण्ड जबतक रहेगा, तबतक तुम शिवभक्तिके प्रभावसे शिवलोकमें निवास करोगे।'

उस समय ब्रह्मा, विष्णु प्रभृति देवगण साधु-साधु कहकर महाकालकी प्रशंसा और स्तुति करने लगे, चारणलोग उनका गुणगान करने लगे और गन्धर्वगण मनोहर गानके द्वारा उन्हें प्रसन्न करने लगे। शिवजीके करोड़ों गण उनकी स्तुति करते हुए उन्हें घेरकर चारों ओर खड़े हो गये। इस प्रकार अपूर्व समारोहके साथ भक्तश्रेष्ठ महाकाल अपने आराध्यदेवके साथ सशरीर शिवलोकको चले गये।



मातासे याचना

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे

न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः ।

अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै

मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः ॥

(देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम् ८)

'मुखमें चन्द्रमाकी शोभा धारण करनेवाली मा ! मुझे मोक्षकी इच्छा नहीं है, संसारके वैभवकी भी अभिलाषा नहीं है, न विज्ञानकी अपेक्षा है, न सुखकी आकाङ्क्षा; अतः तुमसे मेरी यही याचना है कि मेरा जन्म 'मृडानी, रुद्राणी, शिव, शिव, भवानी'—इन नामोंका जप करते हुए बीते।'



पढ़ो, समझो और करो

माँगने आये कि देने ?

कुछ वर्षों पूर्वकी घटना है। एक बड़े व्यापारी सज्जन, जिनका बड़ा कारोबार था और जो बहुत उदार तथा दानी कहलाते थे, अपने घरके बाहरी हिस्सेमें स्थित आफिसमें बैठे फाइलोंको देख रहे थे। इतनेमें बाहरसे दरबानने आकर कहा—‘बाबूजी ! बाहर एक सज्जन खड़े हैं, मिलना चाहते हैं।’ बाबूजी मन-ही-मन बहुत कुढ़े, बोले—‘ये माँगनेवाले जरा भी दम नहीं लेने देते, सुबहसे ही आने लगते हैं ?’ पर अपनी सभ्यताकी रक्षा करनेके लिये बोले—‘अच्छा भेज दो !’ दरबान लौट गया और सादी पोशाकमें एक सुन्दर नवयुवक अंदर आ गया। बाबूके संकेतसे वह एक कुर्सीपर बैठ गया। बाबूने फाइलोंसे जरा दृष्टि हटाकर रूखे स्वरमें पूछा—‘क्यों कैसे आये ? क्या काम है ? आजकल तो मैं तंग आ गया हूँ। ये माँगनेवाले कभी भी आरामसे काम नहीं करने देते। आप किस कामसे आये हैं, बताइये।’ आगन्तुक तरुणने मुसकराते हुए कहा—‘बाबू ! मैं तो माँगने नहीं आया हूँ, मैं तो एक विशेष कामसे आपके पास आया हूँ। आपसे कुछ जरूरी बात कहनी है।’ फिर दोनोंमें निम्नलिखित बातें हुई—

बाबू—‘बोलिये तो, क्या बात कहनी है ?’

आगन्तुक तरुण—‘दो साल पहले आपके कारखानेका राजेन्द्रनामक एक आदमी चोरीके अपराधमें पकड़ा गया था। उसे सालभरकी जेल हो गयी थी, आपको याद है न ?’

बाबू—(बिना ध्यान दिये) ‘हाँ, याद है।’

तरुण—‘क्या यह भी याद है कि आपने उसे निर्दोष जानते हुए भी स्वार्थवश रिश्तत देकर, वकीलोंपर पैसा खर्चकर तथा अन्यान्य प्रकारसे प्रयत्न करके जेल भिजवाया था और फिर वह अपीलमें छूट गया था।’

बाबू—(जरा कड़े स्वरमें) ‘हाँ, किया होगा !’

तरुण—‘तो बाबू, वह राजेन्द्र मैं ही हूँ।’

बाबू—(कुछ डरे हुए, कुछ तमतमाते हुए) ‘तो क्या बदला लेने आये हो ?’

तरुण—‘हाँ, आया तो हूँ बदला लेने ही।’

बाबू—‘तो ! क्या करोगे ?’

तरुण—‘आप खातिर रखिये, मैं आपको मारूँगा नहीं, केवल आपसे दो बातें कहकर चला जाऊँगा।’

बाबू—(नरम होकर) ‘अच्छा तो कहो।’

तरुण—‘जिन लोगोंके कहनेसे आपने स्वार्थवश उस समय मुझे जेल भिजवाया था तथा जिनके साथ मिलकर आपने पीछे बहुत बड़ा अवैध कारोबार किया था, उनसे साझेदारीको लेकर बादमें आपका झगड़ा हो गया था—यह तो आप जानते ही हैं। अब मुझे उनके एक भयानक षड्यन्त्रका पता लगा है और मैंने अच्छी तरहसे सारी जाँच-पड़ताल कर ली है, तब आपको सावधान करने आया हूँ। बात यह है कि उन लोगोंने उस कारोबारपर तथा उसमें लगी सारी पूँजीपर अपना पूरा अधिकार कर लेनेकी इच्छासे आपको संसारसे उठा देनेकी पूरी व्यवस्था कर ली है। इसके प्रमाणमें अमुकके हाथका अमुकके नाम लिखा हुआ यह पत्र है। आप हस्ताक्षर पहचानते ही हैं।’ इतना कहकर उसने पत्र पढ़वाया और फिर कहा—‘कल रातको आपको जो दावत देनेकी व्यवस्था की गयी है, वह उन्होंने ही उस अमुक व्यक्तिको लालच देकर करवायी है, जिसे आप अपना मित्र माने हुए हैं। दावतके बाद ही आपको समाप्त कर देनेकी योजना है। आपने मेरे साथ बुरा व्यवहार किया था; परंतु मेरा यह सिद्धान्त है—मुझे मेरे गुरुजीने यह कहा था कि तुम्हारा बुरा तुम्हारे प्रारब्धके बिना कोई कर नहीं सकता ! करना चाहता है तो वह अपना ही बुरा करता है, इसलिये वह दयाका पात्र है, क्रोधका नहीं। अतएव मुझे जब पता लगा और पक्का प्रमाण मिल गया, तब मैं आपको सूचना देने आ गया। आप बचनेकी व्यवस्था कर लें। अच्छा ! अब मैं जाता हूँ। आपके शत्रुओंको कहीं यह पता लग गया कि मैंने आपको इसकी सूचना दी है, तो वे मुझे मारे बिना नहीं छोड़ेंगे। मैं अपनी जानपर खेलकर इसीलिये आपके पास आया हूँ कि यही मेरा पुनीत कर्तव्य है।’ यों कहकर वह चल दिया।

बाबूजी आँखें फाड़े देखते रह गये। सोचने लगे, 'कहाँ मैं नीच स्वार्थवश झूठे मुकदमेंमें फँसाकर निर्दोष नवयुवकको जेल भिजवानेवाला और कहाँ यह महान् उच्च हृदयका नवयुवक, जो मुझ नीच नराधमको मृत्युसे बचानेके लिये जानपर खेलकर मुझे सावधान करने आया है। मैंने इसे माँगनेवाला समझकर इसका तिरस्कार किया, पर यह तो मुझे प्राणदान करने आया था।'।

बाबूके हृदयमें पश्चात्ताप, दैन्य, कृतज्ञता, सत्पुरुष-महिमा और ईश्वर-कृपा आदि अनेकों भावोंकी विविध तरङ्गें उठने लगीं। षड्यन्त्रकी बात सच्ची थी ही। सारी व्यवस्था हो गयी, षड्यन्त्रकारी पकड़े गये और उन्हें यथायोग्य दण्ड भोगना पड़ा। इसके पश्चात् बाबूजीने उदारता, सत्यता और भगवद्भक्तिको वास्तविक अर्थोंमें अपना स्वभाव बना लिया।

—सोहनलाल गुप्त

मनन करने योग्य

[प्रेम प्रेमका और द्वेष द्वेषका जनक है]

भक्त लाला रामनारायणजीकी जन्मभूमि तो पंजाब थी, परंतु वे बहुत समयसे आकर बस गये थे मोक्षदायिनी भगवान् शंकरकी काशीपुरीमें। उनके साथ पंजाबके कई लोग और भी आये थे। रामनारायणजी भगवान् शंकरके अनन्य भक्त थे। प्रतिदिन बहुत तड़के ही गङ्गास्नान करके वे भगवान् विश्वनाथजीके दर्शन करते और फिर घर लौटकर पार्थिवपूजन, शिवसहस्रनामका पाठ, महामृत्युञ्जय-मन्त्रका भक्ति-श्रद्धापूर्वक जप करते थे। मध्याह्नतक उनका पूजा-पाठ चलता। उनकी पत्नी शारदा और पुत्र शम्भुशरण भी भगवान् शिवजीके बड़े भक्त थे। कल्याणकारी 'नमः शिवाय' का अनवरत जप तो परिवारभरका स्वभाव ही बन गया था। आशुतोष भगवान् शंकरकी कृपासे रामनारायणजीका व्यापार चमका और वे थोड़े ही दिनोंमें सुख-समृद्धिसे सम्पन्न हो गये।

धनसे अभिमान और स्वार्थ बढ़ा करता है, परंतु श्रीशंकरजीकी कृपासे यहाँ सर्वथा विपरीत परिणाम हुआ। श्रीरामनारायणजीके ज्यों-ज्यों सुख-समृद्धि और धन-ऐश्वर्य बढ़ा, त्यों-ही-त्यों उनमें नम्रता, विनय, त्यागकी भावना और अन्यान्य दैवी सम्पत्तिके गुण बढ़ते गये। सत्पुरुषोंके पास आये हुए न्यायोपार्जित धनका सुकृत और सेवामें ही सदुपयोग हुआ करता है, इस सिद्धान्तके अनुसार रामनारायणजीका धन सत्कार्यमें लगने लगा। इससे उनकी कीर्ति भी बढ़ी।

पंजाबसे उनके साथ आये हुए लोगोंमें एक लाला दयालीराम थे। वे रामनारायणजीकी उन्नतिसे मन-ही-मन जला करते। यद्यपि रामनारायणजी हर तरहसे स्वाभाविक ही

उनके साथ बड़ी उदारता और प्रीतिका व्यवहार करते, फिर भी लाला दयालीरामकी द्वेषबुद्धि बढ़ती गयी। श्रीरामनारायणजीको इस बातका कुछ भी पता नहीं था। परंतु दबी आग कबतक रह सकती है। जिस प्रकार ईंधन और हवाका झोंका पाते ही आग धधक उठती है, उसी प्रकार मौका पाते ही लाला दयालीरामकी द्वेषाग्नि भड़क उठी। अब तो वे खुल्लमखुल्ला रामनारायणजीसे वैर करने लगे और भाँति-भाँतिसे उन्हें सताने, परेशान करने और हानि पहुँचानेका प्रयत्न करने लगे। गालियाँ देने, गुंडोंसे पिटवाने, आग लगा देने और व्यापारमें नुकसान पहुँचाने आदिके रूपमें वैर-सम्पादनके भाँति-भाँतिके प्रयत्न दयालीरामकी ओरसे चलने लगे।

एक दिन रामनारायणजी गङ्गास्नान करके आ रहे थे। दयालीरामने अचानक स्वयं आकर उनके दो जूते लगा दिये। रामनारायणजी हँसते हुए चले गये, परंतु उन्हें अपने साथी दयालीरामकी इस गिरी हुई हालतपर बड़ी दया आयी। वे उनकी दुःस्थितिके कारण दुःखी हो गये। अपने अपमान और जूतोंकी मारके कारण नहीं, परंतु दयालीरामकी मानसिक दुर्भावनाके कारण वे चिन्तातुर हो गये। उन्होंने सोचा—'कैसे दयालीरामजीकी वृत्ति ठीक हो।' उन्होंने मन-ही-मन उनसे विशेष प्रेम करनेका संकल्प किया और संकल्पानुसार कार्य भी आरम्भ कर दिया। यह नियम है कि जब हम किसीके सम्बन्धमें अपने मनमें द्वेष और वैरके विचार रखते हैं, तब वे हमारे विचाररूपी राक्षस उसकी ओर जाते हैं और उसके मनमें भी द्वेष और वैरके विचार उत्पन्न करके उनको फिर अपनी

और खींचते हैं। स्वार्थ, क्रोध, हिंसा, मद और लोभ आदिके विचारोंका भी ऐसा ही असर होता है। इस प्रकार परस्परमें अशुभ विचार बढ़ते रहकर तमाम वातावरणको और तमाम जीवनको अशुभ बना देते हैं। इसके बदलेमें यदि किसीके प्रति प्रेमके विचारोंका पोषण हो तो वे भी वहाँतक पहुँचते हैं और उसके मनमें उभड़े हुए द्वेषको दबाकर प्रेमके भाव पैदा करते हैं। यों यदि बार-बार प्रेमके विचारोंको बढ़ा-बढ़ाकर भेजा जाय तो अन्तमें उसका द्वेष मिट जाता है और वह भी प्रेम करने लगता है। प्रेम प्रेमका और द्वेष द्वेषका जनक है। लाला दयालीरामके मनमें वैर था, परंतु रामनारायणजीके मनमें अत्यन्त सुदृढ़ और महान् प्रेम भरा था। अतएव दयालीरामके द्वेषके विचारोंका रामनारायणजीके प्रेमके बढ़े हुए विचारोंपर कोई असर नहीं हुआ, बल्कि वे विचार प्रेमके प्रबल विचारोंसे दबने लगे और उत्तरोत्तर क्षीणशक्ति होकर लौटने लगे। साथ ही रामनारायणजीके बढ़े हुए निर्मल और प्रबल प्रेमके विचार लगातार वहाँ पहुँचने लगे और उनके हृदयके अशुभ भावोंको क्रमशः मिटाने लगे। अब लाला दयालीरामको अपने कियेपर बीच-बीचमें पश्चात्ताप भी होने लगा।

इधर लाला रामनारायणजीको धैर्य नहीं हुआ, वे शीघ्र-से-शीघ्र दयालीरामको शुभ स्वरूपमें देखनेके लिये आतुर हो गये। अतएव उन्होंने एक दिन रातको एकान्तमें आर्त होकर भगवान् आशुतोषसे करुण प्रार्थना की—

‘मेरे स्वामिन् ! मुझे अपने साथी लाला दयालीरामजीके इस पतनका बड़ा ही दुःख है। आप अन्तर्यामी हैं, यदि मेरे मनमें उनके प्रति जरा भी द्वेष रहा हो या अब भी कहीं हो तो उसका मुझे कड़ा दण्ड दीजिये, परंतु उनके मनमें शान्ति, सौहार्द और प्रेम पैदा कर दीजिये। मेरे नरकाग्निकी पीड़ा भोगनेसे भी यदि उनका चित्त शुद्ध होता हो तो मेरे भगवन् ! शीघ्र-से-शीघ्र इसकी व्यवस्था कीजिये। आपके दिये हुए धन-ऐश्वर्य और मान-कीर्तिसे यदि उनके मनमें दुःख होता हो तो प्रभो ! आप अपनी इन चीजोंको तुरंत वापस ले लीजिये। मुझे तुरंत राहका भिखारी और सर्वथा दीन-हीन, अपमानित बना दीजिये। ऐसा धन-वैभव और यश-सम्मान किस कामका, जो किसी भी प्राणीके दुःखका कारण हो। फिर भगवन् ! जहाँतक मेरे मनका मुझे पता है, मैंने तो कभी

स्वामीसे धन-सम्मानके लिये प्रार्थना भी नहीं की थी। मैं तो स्वामीकी दी हुई वस्तुओंको नित्य स्वामीकी ही सम्पत्ति मानकर स्वामीकी आज्ञाके अनुसार स्वामीकी सेवामें ही लगानेका प्रयत्न करता रहा हूँ। परंतु ऐसा कहना भी मेरा अभिमान ही है। मैं क्या प्रयत्न करता हूँ। स्वामी ही तो सब कुछ करा रहे हैं। इस समय भी मैं जो कुछ कह रहा हूँ, इसमें भी तो दयामय स्वामीकी ही प्रेरणा है। प्रभो ! मैं दम्भ करता हूँ, मेरे मनमें अवश्य ही कोई दोषबुद्धि, कोई पापभावना रही होगी। मेरा मन सचमुच ही किसी छिपे अपराधसे भरा होगा, तभी तो मेरे कारण मेरे साथीको इतना उद्वेग हो रहा है। मैं ही तो उनके जीवनकी अशान्ति और व्यथाका कारण हूँ। मैं यह भी कैसे कह सकता हूँ कि मेरे मनमें धन-सम्मानकी कामना नहीं थी और मैं इसका केवल स्वामीकी सेवामें ही सदुपयोग कर रहा हूँ। प्रभो ! अपना पाप मुझे दीख नहीं रहा है। यह मेरा और भी अपराध है। मेरे औढ़रदानी महादेव ! मुझपर आपकी कितनी कृपा है। मैं क्या कहूँ ? स्वामीकी कृपा और मेरी नालायकीमें मानो होड़ लग गयी है ! अब जैसा स्वामी उचित समझें, वैसा ही हो। परंतु मेरा मन बार-बार इस दुःखसे रो रहा है कि कैसे दयालीरामजीकी अशान्ति मिटे....।’

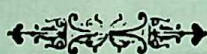
हृदयकी सच्ची प्रार्थना निश्चय ही सफल होती है। फिर भगवान् शंकर तो आशुतोष ठहरे। प्रार्थना करते-करते ही रामनारायणजी समाधिस्थ हो गये। उन्होंने देखा—भगवान् वृषभवाहन सामने उपस्थित हैं। बड़ी ही उज्ज्वल कर्पूरधवल कान्ति है, सिरपर पिङ्गल जटाजूट है। गलेमें वासुकि शोभा पा रहे हैं। एक हाथमें त्रिशूल, दूसरेमें डमरू, तीसरेमें रुद्राक्षकी माला है और चौथे हाथसे अभयदान दे रहे हैं। कटिमें रीछकी छाल पहने हैं। विशाल नेत्रोंसे मानो कृपासुधाकी वर्षा हो रही है। होठोंपर मुस्कान है। देवदेव श्रीशंकरजीके दर्शन पाकर लाला श्रीरामनारायणजी कृतार्थ हो गये। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे, शरीर रोमाञ्चित हो गया, आनन्दातिरेकसे वाणी बंद हो गयी। भगवान्ने उनके मस्तकपर अभयहस्तारविन्द रखा और कहा—‘रामनारायण ! तेरी श्रद्धा, भक्ति और निष्काम सेवाने मुझको अपने वशमें कर लिया है। यह दयालीराम पूर्वजन्ममें पिशाच था, इसके पहले जन्ममें वह दक्षिणापथमें ब्राह्मण था और तू वहींपर एक व्यापारी था। तेरी बुद्धि उस

समय भी श्रेष्ठ थी। वह ब्राह्मण होनेपर भी कुसंगमें पड़कर मद्य-मांसका सेवन करता था और डाके डालकर धन कमाया करता था। उसमें बड़ी क्रूरता आ गयी थी। एक दिन उसने तेरे घरमें डाका डाला। तूने उसके साथ उस समय भी बड़ा सद्व्यवहार किया और मनमाँगा धन देनेके बाद उसे मेरी भक्ति और 'नमः शिवाय' मन्त्रजाप करनेका उपदेश दिया। तेरे सद्व्यवहारका उसपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वह मेरी पूजा करने लगा। एक बार रामेश्वरमें जाकर उसने मुझपर जल और बिल्वपत्र चढ़ाये थे। अपने पापोंके कारण वह दूसरी योनिमें पिशाच हुआ, परंतु तेरे संग तथा मेरी पूजाके फलस्वरूप वह योनि दस ही वर्षोंमें छूट गयी और उसने पुनः क्षत्रिय-कुलमें जन्म धारण किया। पिछले मानव-शरीरमें उसका जीवन द्वेष, हिंसा, क्रोध और वैरकी भावनाओंका घर बना हुआ था। निरीहोंको सताना और भला करनेवालोंका भी बुरा करना उसका स्वभाव बन गया था। उन्हीं संस्कारोंके कारण उसने इस जन्ममें भी तुझसे वैर-विरोध किया। परंतु तेरा हृदय सर्वथा निर्वैर तथा पवित्र प्रेमसे परिपूर्ण होनेके कारण उसके वैरने तुझपर तो कोई असर किया ही नहीं, प्रत्युत तेरे प्रेमसे उसका हृदय क्रमशः पवित्र होता गया है। आज तो तेरी प्रार्थनासे वह सर्वथा पवित्र हो गया है। तुझे धन्य है, जो अपनी सद्भावनासे तू असतोंको सत् बना रहा है। मैं तुझपर बहुत ही प्रसन्न हूँ! मैं जानता हूँ तेरी धन-सम्मानमें जरा भी

आसक्ति नहीं है। इसीसे तो उनके द्वारा मेरी आदर्श सेवा हो रही है। आसक्तिमान् पुरुषके धनसे मेरी (भगवान्की) सेवा नहीं बन सकती। तू सुख-शान्तिपूर्वक यहाँका कर्तव्य पूरा करके मेरे दिव्यलोकमें जायगा। निश्चित रहकर मेरा भजन करता रह।'

भगवान् श्रीशंकरजी इतना कहकर ज्यों ही अन्तर्धान हुए, त्यों ही लाला रामनारायणजीकी समाधि टूटी। उन्होंने देखा—दयालीराम चरणोंमें पड़े रो रहे हैं। रामनारायणजीने उनको भगवान् शंकरका कृपापात्र समझकर उठा लिया। दयालीराम चरण छोड़ना नहीं चाहते थे। बार-बार अपनी करतूतोंका वर्णन करते हुए कातर कण्ठसे रो-रोकर क्षमा माँग रहे थे। उनको सच्चा पश्चात्ताप था। भगवान् शंकरजीकी कृपा, रामनारायणजीके सद्भाव और सच्चे पश्चात्तापकी आगने उनके समस्त पाप और पापबीजोंको जला दिया। श्रीरामनारायणजीने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और बहुत तरहसे सान्त्वना देकर तथा श्रीशंकरजीकी भक्तिका उपदेश देकर विदा किया।

श्रीदयालीरामके मनमें पूर्वजन्मकी स्मृति आ गयी। वे 'नमः शिवाय' मन्त्रका जाप तथा भक्तिपूर्वक श्रीशंकरजीकी उपासनामें लग गये। रामनारायणजीके साथ उनका प्रेम अटूट हो गया। दोनों साथी भगवान् श्रीविश्वनाथजीकी सेवामें जीवन समर्पण करके कृतकृत्य हो गये।



कल्याणका मार्ग

जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु ।

तौ तज बिषय-बिकार, सार भज, अजहूँ जो मैं कहौ सोइ करु ॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु ।
काम-क्रोध अरु लोभ-मोहमद, राग-द्वेष निसेष करि परिहरु ॥
श्रवण कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु ।
नयननि निरखि कृपा-समुद्र हरि अग-जग-रूप भूप सीताबरु ॥
इहै भगति, बैराग्य-ग्यान यह, हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु ।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिं डरु ॥

(विनय-पत्रिका)

आगामी ६८वें वर्ष (सन् १९९४ ई०) का विशेषाङ्क

‘श्रीरामभक्ति-अङ्क’

‘श्रीराम’ पूर्णब्रह्म परमात्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, जो समस्त विश्वमें व्याप्त हैं, पर साथ ही वे पूर्ण मानव भी हैं। उनके लीलाचरित्रमें जैसे एक ओर भगवत्ताका अशेष वैचित्र्यमय लीलाविलास है, वैसे ही दूसरी ओर मानवताका परमोत्कर्ष प्रकाश है। श्रीराम मर्यादारक्षक, सर्वसद्गुणसम्पन्न, परम आदर्श मानवशिरोमणि होनेके साथ ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, स्व-महिमामें स्थित महामानव हैं और साथ ही वे सच्चित्तेमानन्दधन, अवतारी, अचिन्त्यमहिम चिदानन्द-विग्रह श्रीभगवान् हैं। इन मानवलीला-विलासी भगवान्का चिन्तन करते-करते मनुष्य सहज ही भगवद्भावसे भावित होकर परम दुर्लभ भागवत-जीवनकी उपलब्धि कर सकता है।

श्रीसीतारामजीकी कृपासे अगले वर्ष (जनवरी १९९४ ई० में) ‘कल्याण’के विशेषाङ्कके रूपमें ‘श्रीरामभक्ति-अङ्क’ प्रकाशित करनेका निर्णय लिया गया है। वास्तवमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने मानवरूपमें भारतकी इस पवित्र भूमिमें प्रकट होकर मानवीय जीवनमें नित्य प्रभुत्वकी प्रतिष्ठा स्थापित की है और समग्र भारतीय संस्कृतिको अध्यात्मभावोंसे अनुप्राणित किया है।

इस बार यह निश्चय किया गया कि सर्वसामान्यके कल्याणार्थ भक्तिका शम्बल लेकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरणोंमें श्रद्धासुमनके रूपमें ‘श्रीरामभक्ति-अङ्क’ प्रस्तुत किया जाय, जिससे भारतीय जनमानसको श्रीसीतारामजीकी उपासना, भक्ति, साधना और पूजाका सम्यक् दर्शन हो सके तथा संसारके लोगोंमें एकाग्रता, अनन्यता और सद्वृत्तियोंका उदय हो। इन सबके लिये हम भारतके गण्यमान्य आचार्य, संत-महात्माओं तथा अधिकारी मनीषी लेखकों एवं श्रीरामभक्तोंसे सादर सहयोगकी प्रार्थना करते हैं।

हमारा विचार है कि श्रीरामतत्त्व एवं भगवान् रामके लौकिक और अलौकिक गुणोंका, उनकी परम मनोहर, परम आदर्श लीलाओंका तथा उनके ऐकान्तिक भक्तों, सेवकों, उपासकों एवं मित्रभावान्वित तथा शत्रुभावान्वित लीला-सहचरोंके विभिन्न चरित्रोंका यथास्थान चित्रण करते हुए श्रीरामभक्तिके प्रत्येक पक्षपर पठनीय, विचारप्रेरक एवं अनुष्ठेय सामग्रीका संकलन इस विशेषाङ्कमें किया जाय। अतएव विद्वान् लेखकों एवं साधकोंकी सेवामें ‘विशेषाङ्क’की एक संक्षिप्त सूची दिशा-निर्देशके रूपमें साथ ही दी जा रही है। हमारी आपसे विनम्र प्रार्थना है कि प्रस्तुत सूचीमें संलग्न विषयोंपर अथवा इनसे सम्बद्ध अतिरिक्त किसी विषयपर अपने चिर स्वाध्याय, साधना एवं अनुभवके अनुसार अपनी सामग्री ३१ जुलाई, १९९३ ई० से पूर्व अवश्य भेज देनेकी कृपा करें। (सरल एवं रोचक भाषामें विषयसे सम्बद्ध संक्षिप्त, विशिष्ट सामग्रीको प्रकाशनमें प्राथमिकता दी जा सकेगी।)

विनीत—

राधेश्याम खेमका

(सम्पादक)

विषय-सूची

- | | |
|---|--|
| १— ‘रामस्तु भगवान् स्वयम्।’ | ८— राघवेन्द्रकी भक्तिके विभिन्न स्वरूप (पुष्टिभक्ति, निर्भराभक्ति, फलरूपाभक्ति)। |
| २— भजनीय तत्त्व भगवान् श्रीराम। | ९— भगवान् श्रीरामकी रागात्मिका, रागानुगा और वैधी भक्तिवश रहस्य |
| ३— श्रीराम-तत्त्व-विमर्श। | १०— प्रेमास्पद राम और प्रेमी भक्त। |
| ४— प्रेमभक्ति और पराभक्तिसे युक्त श्रीराम। | ११— पतितपावन श्रीसीताराम। |
| ५— भक्ति, भक्त और भगवान् श्रीराघवेन्द्र। | १२— दीन और दीनबन्धु श्रीराम। |
| ६— निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम। | १३— रामभक्तिकी सुलभता, सरलता और दुर्लभता। |
| ७— श्रीरामके प्रति सकाम एवं निष्काम प्रेम। | |

- १४— स्वामी श्रीराम और सेवक श्रीहनुमान् ।
 १५— श्रीरामकी अहैतुकी दया और करुणा ।
 १६— शुद्ध ब्रह्म परात्पर श्रीराम ।
 १७— भारतीय लोकमर्यादाके परम आदर्श श्रीराम ।
 १८— धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप भगवान् श्रीराम ।
 १९— भगवान् श्रीरामके परम भक्त एवं उपासक—भगवान् सदाशिव ।
 २०— श्रीभरतजीके सर्वस्व श्रीराम ।
 २१— श्रीलक्ष्मणजीकी रामभक्ति ।
 २२— सीतामाताकी श्रीराममें अनन्य भक्ति ।
 २३— श्रीशबरीमाताकी रामभक्ति ।
 २४— देवर्षि नारद, महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास, याज्ञवल्क्य तथा भरद्वाज आदि महर्षियोंकी रामभक्ति ।
 २५— संत गोस्वामी तुलसीदासजीके परमाराध्य—श्रीराम ।
 २६— बेद पुरान संत मत एहू । सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥
 २७— भगवान् श्रीरामकी मातृ-पितृ एवं गुरुभक्ति ।
 २८— श्रीरामका भ्रातृप्रेम ।
 २९— श्रीरामकी प्रजावत्सलता ।
 ३०— वेदोंमें श्रीरामभक्तिके मूल स्रोत ।
 ३१— उपनिषदोंमें रामभक्तिका स्वरूप ।
 ३२— दर्शनोंमें श्रीरामभक्तिकी मीमांसा ।
 ३३— पुराणोंमें रामकथा ।
 ३४— भगति हेतु बहु कथा पुराना ।
 ३५— श्रीमद्भागवतमें रामकथाका स्वरूप ।
 ३६— महाभारतमें श्रीरामभक्तिकी महिमा ।
 ३७— आगम-साहित्यमें रामोपासना ।
 ३८— भारतीय वाङ्मयमें रामकथाका निरूपण ।
 ३९— भगवान् श्रीरामके वचनमृत ।
 ४०— रामायन सत कोटि अपारा ।
 ४१— विभिन्न रामायणोंमें रामचरित एवं रामभक्तिका दिग्दर्शन (वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण, श्रीरामचरितमानस, अद्भुतरामायण, कृत्तिवासरामायण, भुरगुण्डिरामायण, कंबरामायण तथा भानुभक्तरामायण इत्यादि) ।
 ४२— आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायणमें रामलीलाश्रकी

घटनाओंका निरूपण ।

- ४३— मानसका मूल तत्त्व—श्रीरामचरित ।
 ४४— रामकी नवधाभक्ति ।
 ४५— रघुपति भगति सुमंगल मूल ।
 ४६— श्रीरामभक्तिमें भगवन्नाम तथा प्रार्थनाका महत्त्व ।
 ४७— सर्वोपरि साधना—भगवन्नाम-संकीर्तन ।
 ४८— जिन्ह कर नामु लेत जग माहीं । सकल अमंगल मूल नसाहीं ॥
 ४९— नामु राम को कलपतरु ।
 ५०— भक्तोंके परम उपास्य भगवान् श्रीरामकी भगवत्ता और श्रीरामनामकी महिमा ।
 ५१— कलियुगका परम साधन—श्रीराम-नाम ।
 ५२— भगति हीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु बिजन जैसे ॥
 ५३— उमा राम सुभाउ जेहि जाना । ताहि भजनु तजि भाव न आना ॥
 ५४— अवतार-तत्त्व और पूर्णावतार श्रीराम ।
 ५५— सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा । जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा ॥
 ५६— सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा । जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा ॥
 ५७— भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप ।
 ५८— श्रीरामभक्तिमें सदाचार, सत्संग और सेवाका माहात्म्य ।
 ५९— भगवान् श्रीसीतारामकी युगल-उपासना ।
 ६०— भगवान् श्रीरामकी पञ्चाङ्गोपासना तथा चतुर्व्यूहोपासना ।
 ६१— श्रीराम-पञ्चायतन ।
 ६२— श्रीसीतारामकी अष्टयाम-पूजा ।
 ६३— श्रीसीतारामजीके विविध स्वरूपोंका ध्यान ।
 ६४— श्रीरामार्चाविधि ।
 ६५— श्रीरामभक्तिके विविध स्तोत्र एवं स्तुतियाँ ।
 ६६— भगवान् श्रीरामकी प्राप्तिके विविध मन्त्र और उनकी अनुष्ठान-पद्धति ।
 ६७— श्रीरामके कवच, हृदय, पटल, पद्धति, शतनाम, सहस्रनाम तथा स्तवराज आदि ।
 ६८— शरणागत भक्तवत्सल भगवान् श्रीराम ।
 ६९— 'सकृदेव प्रपन्नाय' ।
 ७०— भगवान् श्रीरामका लीला-परिकर एवं आयुध आदि ।
 ७१— योगवासिष्ठमें रामकथा एवं रामभक्तिका स्वरूप ।
 ७२— विश्वकी विभिन्न भाषाओंमें रामकथा ।
 ७३— प्राकृत-साहित्य तथा जातक-कथाओंमें रामकथाका वर्णन ।

७४— रामभक्तिका हिन्दी-साहित्यपर प्रभाव ।

७५— तुलसी-साहित्यमें रामकी अनन्य भक्तिका स्वरूप ।

७६— सूर और मीराँकी साधनामें रामकी प्रेमभक्ति ।

७७— कबीर-साहित्यमें राम ।

७८— कालिदास एवं भवभूति आदिके काव्य एवं नाट्य-ग्रन्थोंमें राम-गाथा ।

७९— समर्थगुरु रामदास स्वामीकी रामोपासना ।

८०— मध्यकालीन निर्गुण-सगुण रामभक्त कवियोंकी वाणियोंमें रामभक्तिका गान— (नामदेव, रैदास, जयदेव, ज्ञानदेव, त्रिलोचन, रामानन्द, नरहरिदास, नाभादास, रामदास, नन्ददास, गुमानी आदि) ।

८१— तेलगु, तमिल, मलयालम तथा कन्नड़-भाषाओंमें रामकथा ।

८२— उत्कलीय, असमिया, गुजराती, मराठी, पंजाबी तथा सिंधी आदि भाषाओंमें रामभक्तिका विकास ।

८३— विभिन्न आचार्योंकी साधनामें भगवान् श्रीराम— (भगवान् शंकराचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीचैतन्यमहाप्रभु) ।

८४— विभिन्न सम्प्रदायोंमें रामभक्तिका स्वरूप— (श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय, रामसनेही-सम्प्रदाय, रामावत-सम्प्रदाय, स्वामिनारायण-सम्प्रदाय, सूफी-सम्प्रदाय, राधावल्लभ-सम्प्रदाय आदि) ।

८५— विश्वके अन्य धर्मावलम्बियोंकी दृष्टिमें श्रीराम ।

८६— विदेशोंमें रामभक्ति और रामनाम-संकीर्तनका प्रचार-प्रसार ।

८७— भगवान् श्रीरामका नित्यधाम— साकेत ।

८८— भगवान् श्रीरामके अवतरण एवं लीलाकी पुण्यस्थली अयोध्या ।

८९— अवध प्रभाव जान तब प्रानी । जब उर बसहि रामु धनु पानी ॥

९०— जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि ।

९१— श्रीरामका प्राकट्य-स्थल ।

९२— स्थापत्यकला, शिल्पकला एवं मूर्तिकलामें रामोपासनाके विविध रूप ।

९३— भगवान् श्रीरामके अर्चाविग्रह एवं भगवान् श्रीरामके कुछ प्रमुख मन्दिर ।

९४— श्रीरामसे सम्बद्ध प्रमुख तीर्थ-स्थान— अयोध्या, सरयू, दण्डकारण्य, पञ्चवटी, रामेश्वर, जनकपुरी, प्रयाग, नैमिष, काशी, चित्रकूट, मिथिला आदि ।

९५— भगवान् रामसम्बन्धी व्रत, उपवास एवं महोत्सव ।

९६— भगवान् श्रीरामके भक्तोंकी कथाएँ— महामुनि अगस्त्य, भरद्वाज, काकभुशुण्डि, सुतीक्ष्ण, विदेहराज जनक, विभीषण, निषादराज, जाम्बवान्, केवट, जटायु, अत्रि-अनसूया, बालि, कुम्भकर्ण, अहल्या, मन्दोदरी, त्रिजटा, मारीच, रामभक्त पशु-पक्षी, अवधके श्रीराम-भक्त आदि ।

९७— रामभक्तिमें नामापराध एवं सेवापराध ।

९८— रामराज्यका स्वरूप ।

९९— मानव-जीवनकी पूर्णता— भगवान् श्रीरामके चरणारविन्दोंमें अविरल भक्ति ।

१००— रामभक्तिके बिना सुख नहीं है ।

१०१— रामभक्ति ही परमानन्द और परम कल्याणका अमोघ साधन ।

गीतापर पुनर्मुद्रित बृहत् हिन्दी टीका

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्व-विवेचनी

[टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका]

बहुत बड़े आकार और मोटे टाइपोंमें, सचित्र, सजिल्द, आकर्षक बहुरंगे चित्रावरणसहित प्रश्नोत्तर-शैलीमें (२५१५ प्रश्न और उनके उत्तर) व्याख्यात्मक विवेचन, गीताके गूढ़ भावोंका सरल सुबोध भाषामें स्पष्टीकरण । ऑफसेटकी स्वच्छ, सुन्दर छपाईसे युक्त, पृष्ठ-संख्या १०००, भावपूर्ण बहुरंगे चित्र १८, मूल्य ६०.००, डाकखर्च रु० २८.०० अतिरिक्त । प्रत्येक घर-परिवारमें अवश्य पढ़ने और हमेशा रखने योग्य इस परमोपयोगी लोक-पावन ग्रन्थका अनुशीलनकर जीवनका सच्चा लाभ उठाये ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

बहुत समयसे अप्राप्य कुछ बहुमूल्य साहित्यका पुनर्मुद्रण

ईश्वरकी सत्ता और महत्ता—पृष्ठ ४४८, मूल्य १२.००

मानव-जीवनका लक्ष्य—पृष्ठ २४०, मूल्य ८.००

सुख-शान्तिका मार्ग—पृष्ठ २०४, मूल्य ८.५०

शान्ति कैसे मिले?—पृष्ठ २७२, मूल्य ८.००

श्रीकृष्णगीतावली (गो० तुलसीदासकृत)—मूल्य ३.००

नवीन प्रकाशन—

दुःखमें भगवत्कृपा—(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

पृष्ठ २२४, मूल्य ७.५०

सर्वोच्च पदकी प्राप्ति साधन—(लेखक—स्वामी

श्रीरामसुखदासजी) पृष्ठ २४, मूल्य १.२५

दत्तात्रेय वज्रकवच (हिन्दी-अनुवादसहित)—पृष्ठ ३२, मूल्य १.५०

The Secrets of JÑĀNAYOGA (By Jayadaya
Goyandka)—Pages-272, Rs.5.00

सावित्री और सत्यवान्—(लेखक—श्रीजयदयालजी

गोयन्दका) पृष्ठ-३२, मूल्य १.००

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन—

पदरत्नाकर—(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)—

भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीराधा-माधवकी मधुर लीलाओं एवं चेतनावनी, वैराग्य और आत्मप्रबोध-विषयक प्रेरक पदोंका वृहत् संग्रह, पृष्ठ-संख्या ९७६, पद-संख्या १५६५, बहुरंगे चित्र ८, सजिल्द, बहुरंगा आकर्षक आवरण, मूल्य रु० ३५.००।

सुखी बननेके उपाय—आध्यात्मिक साधन-सम्बन्धी अति उपादेय सामग्री, पृष्ठ-संख्या २६०, बहुरंगा सचित्र आवरण, मूल्य रु० ८.००।

संक्षिप्त पद्मपुराण (सचित्र)—पद्मपुराणका संक्षिप्त अनुवाद, भगवान् विष्णुके माहात्म्यसहित, भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णके लोक-पावन चरित्रों एवं उनके परात्पर रूपोंका वर्णन है। पृष्ठ-संख्या ८८८, बहुरंगा चित्र एवं अनेक रेखाचित्रोंसे सज्जित, सजिल्द, मूल्य रु० ५५.०० मात्र।

भक्तचरित—

भक्त बालक—पृष्ठ ७२, मूल्य २.५०

भक्त-पञ्चरत्न—पृष्ठ ९६, मूल्य ३.५०

आदर्श भक्त—पृष्ठ १००, मूल्य ३.५०

भक्त-चन्द्रिका—पृष्ठ ८४, मूल्य ३.००

भक्त-सप्तरत्न—पृष्ठ ८८, मूल्य ३.००

प्रेमी भक्त—पृष्ठ ८८, मूल्य ३.००

प्राचीन भक्त—पृष्ठ १४४, मूल्य ५.००

भक्त-सरोज—पृष्ठ १०४, मूल्य ३.५०

भक्त-सुमन—पृष्ठ १०८, मूल्य ३.५०

भक्त-महिलारत्न—पृष्ठ १००, मूल्य ३.५०

भक्त-दिवाकर—पृष्ठ १०४, मूल्य ३.५०

भक्त-रत्नाकर—पृष्ठ १०४, मूल्य ३.५०

पढ़ो, समझो और करो (९ भाग) —

आदर्श उपकार—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

परोपकार और सच्चाईका फल—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

असीम नीचता और असीम साधुता—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

हृदयकी आदर्श विशालता—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

कलेजेके अक्षर—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

आदर्श मानव-हृदय—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

उपकारका बदला—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

भगवान्के सामने सच्चा सो सच्चा—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

मानवताका पुजारी—पृष्ठ १३४, मूल्य ४.५०

आदर्श चरितावली (६ भाग) —

आदर्श संत—पृष्ठ ६४, मूल्य २.५०

आदर्श सम्राट्—पृष्ठ ६४, मूल्य २.५०

आदर्श देश-भक्त—पृष्ठ ६८, मूल्य २.५०

आदर्श ऋषि-मुनि—पृष्ठ ६४, मूल्य २.५०

सुधारक संत—पृष्ठ ६४, मूल्य २.५०

आदर्श चरितावली—पृष्ठ ६४, मूल्य २.५०

‘कल्याण’के दो अत्युपयोगी विशेषाङ्कोंका पुनर्मुद्रण

(१) हिन्दू-संस्कृति-अङ्क—‘कल्याण’-वर्ष २४ (सन् १९४९ ई०) में प्रकाशित यह विशेषाङ्क पाठकोंकी विशेष माँगपर पुनर्मुद्रित किया गया है। भारतीय संस्कृति, धर्म, सभ्यता, आचार-विचार और उसके उच्चादर्शोंका दिग्दर्शन करानेवाली तथ्यपूर्ण प्रचुर सामग्रीसे युक्त यह अङ्क सभीके लिये परमोपयोगी है। पृष्ठ-संख्या लगभग १०००, बहुरंगे चित्र ७ एवं अनेक सादा तथा रेखा-चित्र, सजिल्द, मूल्य रु० ७५.००, डाकखर्च रु० १५.०० अतिरिक्त।

(२) गर्ग-संहिता—(भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन) ‘कल्याण’के ४४ तथा ४५वें वर्ष (सन् १९७० एवं १९७१ ई०) के विशेषाङ्कमें प्रकाशित, अब सम्पूर्ण ग्रन्थाकारमें उपलब्ध है। इसकी कथाएँ अत्यन्त सरस, रोचक, नित्य पठनीय और कल्याणप्रद हैं। पृष्ठ-संख्या ५५६, भावमय सुन्दर रंगीन चित्र-१, सजिल्द, मूल्य रु० ४५.००, डाकखर्च रु० १२.०० अतिरिक्त।

संक्षिप्त स्कन्दपुराण—शीघ्र पुनर्मुद्रणकी सम्भावना, इच्छुक सज्जन कृपया अपनी प्रति सुरक्षित करा लें। मूल्य लगभग रु० ८०.०० एवं डाकखर्च (अनुमानित) रु० १४.०० अतिरिक्त।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

कल्याण



वर्ष ६७

संख्या ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण २,००,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, वि०-सं० २०५०, श्रीकृष्ण-सं० ५२१९, जुलाई १९९३ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-नृत्यत हैं दोड स्यामा-स्याम	६०९	९-प्रेमका पन्थ निराला है ! (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	६२७
२-कल्याण (शिव)	६१०	१०-अभाव है भावका (श्रीबैजनाथजी पारीक, एम्० कॉम्०)	६३१
३-भक्त और भगवान्की परस्पर लीला (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्राचीन प्रवचन)	६११	११-मानसमें विवाह-प्रसंगकी दो चौपाइयोंका अर्थ	६३३
४-सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो ? (एक यात्री)	६१६	१२-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	६३५
५-दिव्य प्रेम (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दारके एक भाषणसे)	६१८	१३-दानवीर राजा बलिकी जन्मान्तरीय शिवोपासना [भक्त-गाथा]	६३६
६-गृहस्थके पञ्चमहायज्ञ	६२१	१४-शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् (डॉ० श्रीशरणप्रसादजी)	६३८
७-प्रभु-प्राप्तिके उपाय	६२४	१५-रन्तिदेवकी प्रार्थना	६४०
८-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	६२५	१६-पढ़ो, समझो और करो	६४१
		१७-मनन करने योग्य	६४३
		१८-भक्तिका रहस्य	६४५

चित्र-सूची

- १-शबरीपर भगवान् श्रीरामकी कृपा
२-'जुगल छबि हरति हियेकी पीर'

(इकरंगा)
(रंगीन)

आवरण-पृष्ठ
मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण
अङ्कका मूल्य
भारतमें २.५० रु०
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनंद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक
मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ५५.०० रु०
विदेशमें ९ डालर
(अमेरिकन)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका

केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

ॐ
१
७
१
३
५
६
८
०
१
३
५
७
९

र्विक
(हत)
०रु०
ालर
(न)

कल्याण





आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

वर्ष ६७ } गोरखपुर, सौर श्रावण, वि० सं० २०५०, श्रीकृष्ण-सं० ५२१९, जुलाई १९९३ ई० { संख्या ७
पूर्ण संख्या ८००

नृत्यत हैं दोउ स्यामा-स्याम

नृत्यत हैं दोउ स्यामा-स्याम ।

अंग मगन पिय तैं प्यारी अति, निरखि चकित ब्रज बाम ॥
तिरप लेत चपला सी चमकति, झमकत भूषन अंग ।
या छबि पर उपमा कहूँ नाहीं, निरखत बिबस अनंग ॥
श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन ।
सँग तैं होत नहीं कहूँ न्यारे, भए रहत अति लीन ॥
रस समुद्र मानौ उछलित भयौ, सुंदरता की खानि ।
सूरदास-प्रभु रीझि थकित भए, कहत न कछू बखानि ॥

—सूरदास

कल्याण

याद रखो—जबतक मनमें विषय-सुखमें विश्वास, भरोसा तथा आशा है, तबतक भगवान्का यथार्थ भजन नहीं होगा। मनमें विषय-कामना रहेगी, लक्ष्य भोगपदार्थ रहेंगे, अतएव पद-पदपर फलानुसंधान बना रहेगा। इससे वह भगवद्भजन न होकर भोग-भजन होगा। भगवान्की स्तुति-प्रार्थना या स्मृति-आराधना होगी तो वह भोग-प्राप्तिके साधनरूपमें ही होगी।

याद रखो—भगवान्की स्तुति-प्रार्थना या स्मृति-आराधनाका भोगप्राप्तिके साधनरूपमें किया जाना भी न तो पाप है, न त्याज्य है और न वह निष्फल ही होता है, सुतरां किसी भी रूपमें किसी भी हेतुसे भगवत्स्मरण या भगवदाराधन करना सर्वथा कर्तव्य ही है तथा परम लाभप्रद भी है, तथापि असली भगवदाराधन या भगवद्भजन तो वही है जो भगवद्भजनके लिये ही होता हो और अपने-आप अविराम रूपसे होता हो।

याद रखो—‘भजन करना’ एक बात है और ‘भजन होना’ दूसरी बात है। श्वास हम लेते नहीं, श्वास आते हैं। श्वास लेनेके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता, न किसी शास्त्राज्ञा या सत्संगकी ही आवश्यकता होती है। श्वास सहज आते हैं, कभी रुक जाते हैं तो परम व्याकुलता होती है। इसी प्रकार श्वासकी भाँति ‘भजन होना’ चाहिये। क्षणभर भी भजन छूटनेपर परम व्याकुलता हो जाय, तभी असली भजन है।

याद रखो—सकाम भावसे भजन करना भी परम लाभप्रद है, परंतु सकाम भावसे भजन होना प्रायः सम्भव नहीं। स्मृति रहती है काम्यवस्तुकी, खोज करता है मन निरन्तर काम्यवस्तुकी, चिन्ता रहती है काम्यवस्तुकी, तब भगवद्भजन किस मनसे होगा? यहाँतक देखा जाता है कि काम्यवस्तुके प्राप्त न होने या अनुकूल पदार्थके नष्ट हो जानेपर भगवद्भजन ही नहीं छूट जाता, भगवान्के अस्तित्वतकसे आस्था उठ जाती है या उठने लगती है। वह इसी कारण कि भजन भगवान्के लिये भगवान्का नहीं हो रहा था। भोगके लिये भगवान्के नामपर भोगका ही भजन हो रहा था।

याद रखो—भोगके लिये भजन करनेवाला इच्छित भोगके प्राप्त होनेपर भी भगवद्भजन नहीं करेगा, क्योंकि भोगवस्तुकी प्राप्तिसे भोगकामनाका नाश नहीं होता—जैसे अग्निमें घी-ईंधन डालनेपर अग्नि और भी प्रचण्ड हो जाती है और उसका दायरा बढ़ जाता है तथा उसके लिये और भी अधिक ईंधन-घीकी आवश्यकता हो जाती है, वैसे ही भोगकामनाकी पूर्तिसे भोगकामना और भी प्रचण्ड, और भी बृहत् तथा और भी तीव्र होगी। अतः पहले जो कुछ भगवद्भजन होता था, वह भी फिर नहीं होगा। भोगवस्तुके प्राप्त होनेपर जो सहज भोगक्रिया बढ़ेगी, वह भी भजनमें बाधक ही होगी।

याद रखो—विषय-सुखका विश्वास, विषय-सुखका भरोसा, विषय-सुखकी आशा भोगमय संसारसे सम्पर्क नहीं हटने देगी और भोगमय संसारका सम्पर्क निरन्तर विषयके विश्वास और भरोसेको बढ़ाता रहेगा। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेको बढ़ाते हुए भोगमय संसार और विषय-सुखमें आशा-भरोसा ही जीवनका स्वरूप बन जायगा, जो भयानक दुःखों, आसुरी योनियों और भीषण नरकोंकी प्राप्ति का कारण होगा। इसलिये ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मनमेंसे संसार निकल जाय और विषय-सुखसे निराशा हो जाय। ‘नैराश्यं परमं सुखम्’ यही साधन है।—‘शिव’

भक्त और भगवान्की परस्पर लीला

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्राचीन प्रवचन)

भक्तोंके हृदयका जो भाव है, उद्गार है भगवान्में भी वह भाव और उद्गार भरा हुआ है। जब गोपियाँ परस्परमें इकट्ठी होती हैं तब प्रेमकी चर्चा करती हैं। उनकी ऐसी इच्छा होती है कि हमारे शरीरका चूरन बना करके (जैसे चन्दनका चूरा होता है। आरसे लकड़ी काटनेपर जो लकड़ीके कण झड़ते हैं उसे चूरा कहते हैं। चन्दनका चूरा आटेके समान महीन होता है। गोपियाँ चाहती हैं कि हमारे शरीरका चूरा बना लिया जाय) उसके ऊपर भगवान् लेटें तो हम मुग्ध हो जायँ।

शंका होती है कि—जब शरीरका चूरा बन जायगा तो उस चूरेमें जान तो रहेगी नहीं, मुग्ध कौन होगा ? किंतु उनका भाव यह है कि उस चूरेके अंदर भी हमारी जान कायम रहेगी। आपको मालूम होना चाहिये कि इसमें एक छोटी-सी कहानी है। वह लोकोक्ति है, कहीं ग्रन्थकी भी हो तो हमको मालूम नहीं।

एक समयकी बात है। नारदजी भगवान्के परमधाममें गये। यहाँ परमधामका मतलब द्वारकापुरी है। भगवान् श्रीकृष्ण उस समय द्वारकापुरीमें वास करते थे। नारदजीने जा करके पूछा—प्रभो ! सबसे बढ़कर आपको प्रिय कौन है ? सबसे बढ़कर प्रेमी आपका कौन है ? आपकी प्रीति सबसे बढ़कर किससे है ? सबसे बढ़कर किसकी भक्ति है ? तो उन्होंने कहा—गोपियोंकी।

नारदजीने कहा—आप आज ऐसे पलंगपर क्यों सो रहे हैं ? भगवान् श्रीकृष्ण बोले—हमारी अँगुलीमें चोट लग गयी है। नारदजीने कहा—महाराज ! इस घावकी पूर्ति जल्दी कैसे होगी ? भगवान् बोले—यदि प्रेमी भक्तके खूनमें पट्टी भिगोकर इसपर लपेटी जाय तो जल्दी आराम हो जाय। नारदजीने कहा—अच्छा महाराज, इसके लिये मैं चेष्टा कर रहा हूँ। कृष्ण बोले—जरूर करना चाहिये। तदनन्तर संसारमें जितने भक्त कहलाते थे उनके पास नारदजी गये और बोले—भक्तजी ! भगवान्की अँगुलीमें चोट लग गयी है, उसके औषधके रूपमें भक्तके खूनकी बड़ी आवश्यकता है; यदि अपना खून दे दें तो उसमें पट्टी भिगोकर भगवान्की अँगुलीपर बाँध दिया जाय जिससे वे अच्छे हो जायँ। तब उन्होंने कहा कि नारदजी ! बात तो ठीक है, किंतु हम ऐसे

भक्त नहीं हैं, जिससे हमारे खूनकी पट्टीसे भगवान्को आराम हो जाय। हम तो साधारण आदमी हैं। नारदजी जहाँ-जहाँ गये किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ कहा, किंतु नारदजीको कहीं भी भक्तके खूनकी तदबीर नहीं लगी। उस समय नारदको याद आयी कि भगवान् कहते थे कि गोपियाँ सबसे बढ़कर मेरी भक्त हैं तो ब्रजमें चलूँ। घूमते-घूमते वे ब्रजमें आ गये और गोपियोंके सामने जब यह प्रस्ताव पेश किया तो गोपियाँ बहुत खुश हुईं, बोलीं—नारद बाबा ! भगवान्की अँगुलीमें चोट लग गयी तो क्या भक्तके खूनसे आराम हो सकता है ? यदि हो सकता है तो नारद ! तेरे पास क्या कोई खून रखनेके लिये बरतन है ? नारद बोले—यह कमण्डल है। तो गोपियोंने नारदसे कमण्डल लेकर अपनी जाँघें चीर-चीरकर उस कमण्डलको खूनसे भर दिया और कहा—नारदजी ! हममें ऐसी भक्ति तो नहीं है, पर हमारा खून यदि भगवान्के काम आ जाय तो हमारा जीवन सफल हो जाय। नारदजी खून-भरा कमण्डल लेकर वहाँ आये। भगवान्ने पूछा—नारदजी ! इतना खून कहाँसे लाये ? यह तुम्हें कहाँ मिला ? कैसे मिला ? नारद बोले—महाराज ! मैं बहुत भटका, पर कहीं खून नहीं मिला। यह खून गोपियोंके पास मिला। मैंने जब उनसे खूनकी बात की तो उन्होंने बड़े हर्षके साथ हँसते-हँसते अपनी जाँघ काट-काट कर खून देना आरम्भ किया, जिससे मेरा कमण्डल भर गया। भगवान्ने कहा—नारद ! अब तुम्हारी समझमें आ गया होगा कि सबसे बढ़कर हमारी भक्ति किसमें है ? नारदने कहा—महाराज ! अब मेरी समझमें आ गया। जब आपने कहा था कि सबसे बढ़कर गोपियाँ हमारी भक्त हैं, तब तो समझमें नहीं आया था। महाराज ! जब भक्तका खून लानेके वास्ते मैं यहाँसे निकला, तो जहाँ गया वहीं सूखा जवाब मिला, किसीने नहीं दिया।

कृष्ण बोले—नारद ! तू भटकता क्यों फिरा ? क्या तू मेरा भक्त नहीं है ? तुमको यह बात नहीं सूझी कि मैं भटकूँ क्यों ? इनकी अँगुलीमें चोट लगी है तो अभी अपनी जाँघ काटकर अपना खून दे दूँ ? जैसे गोपियोंने दे दिया। तुम भी तो दे सकते थे। नारद बोले—हाँ, महाराज ! यह बात उस

समय मेरे हृदयमें आयी नहीं। कृष्ण बोले—गोपियोंको कैसे समझमें आयी? नारद बोले—हाँ महाराज! अब मेरी समझमें आ गयी, मैं तो झूठा ही भक्तिका अभिमान रखता हूँ। आपकी भक्त तो गोपियाँ ही हैं।

एक समयकी बात है—भगवान् श्रीकृष्णका अपने रनिवासमें रुक्मिणी आदिके सम्मुख प्रेमका विषय चल रहा था कि कौन-सी पटरानीका कैसा प्रेम है? भगवान् कहते—हाँ, सबका ही प्रेम है। लेकिन रनियाँ पूछतीं कि सबसे ज्यादा प्रेम किसका है? तब श्रीकृष्णने कहा—सबसे ज्यादा प्रेम तो राधाजीका है। रनियाँने कहा—तो महाराज, कभी हमको भी उनका दर्शन कराइये। कृष्णभगवान् बोले—ठीक है, कभी हो सकता है! दो-चार दिनके बाद ऐसा मौका मिल गया। वहाँ राधाजी सहेलियोंके साथ आ गयीं। जब राधा आ गयीं तो रनियाँने उनकी बड़ी खातिरदारी की, सत्कार किया, आदर किया, पीनेके लिये बढ़िया दूध दिया, राधाजीने भी उनके साथ बड़ा प्रेमका व्यवहार किया। दोनोंका परस्पर बड़ा प्रेमका व्यवहार रहा। और फिर राधाजी अपने स्थानपर चली गयीं। रात्रिमें भगवान् रुक्मिणीके महलमें शयन करने आये। जब रुक्मिणीजी पगचम्पी करने लगीं तो भगवान्के चरणोंमें फफोले दीखे। बोलीं—ये फफोले कैसे हो गये? कृष्णने कहा—ऐसे ही। रुक्मिणी बोलीं—नहीं, आपको ज्ञात हो तो बतलाइये। कृष्ण बोले—रुक्मिणीजी! ऐसे ही हो गये, इसके वास्ते आप क्यों पूछती हैं? रुक्मिणी बोलीं—नहीं, मैं जानना चाहती हूँ। कृष्ण बोले—रुक्मिणी! आज दिनमें राधाजी पधारी थीं। उनकी खातिरी तुम लोगोंने की? बोलीं—हाँ महाराज, जो कुछ बना, किया! क्या उनको दूध पिलाया था? रुक्मिणीजीने कहा—‘हाँ महाराज, दूध पिलाया था और समझिये कि पिस्ता वगैरह सुगन्धित द्रव्य मिला करके पिलाया था। कृष्ण बोले—बस वही कारण है। रुक्मिणी बोलीं—महाराज! दूध पिलाना कारण हो गया? कृष्ण बोले—हाँ, दूध कुछ गरम अधिक था। रुक्मिणीने कहा—महाराज! दूध अधिक गरम था तो उससे आपके चरणोंमें फफोला कैसे हुआ? कृष्ण बोले—मेरे चरण जो हैं वे राधाजीके हृदयमें नित्य वास करते हैं और उनके चरण हमारे हृदयमें वास करते हैं; इसलिये वह गरम दूध मेरे चरणोंपर पड़ा जिससे फफोले हो गये। रुक्मिणीने

बहुत ही पश्चात्ताप किया, कहा—महाराज! हम ऐसा नहीं जानती थीं। यह हमारी गलती हुई, बड़ा अपराध हो गया। आपमें राधाजीका इतना प्रेम है कि आपके चरणोंको अपने हृदयमें रखती हैं! कृष्ण बोले—हाँ, वे मेरे चरण अपने हृदयमें हर वक्त रखती हैं।

एक दिनकी बात है, सभी भगवान्के गुण और प्रभावकी बातें करने लगीं; उसीमें प्रेमकी भी बात करने लगीं कि भगवान्का किसके साथ कैसा प्रेम है? तो सबने यही निर्णय किया कि सबसे अधिक प्रेम राधाजीका है। इसके बाद एक सखीको दरवाजेके ऊपर फाटकपर बिठा दिया, और कह दिया कि बाहरसे किसीको मत आने देना, भगवान् भी आयें तो उनको रोक देना। भीतरमें राधा रानी बैठी हैं, और भी सब सखियाँ बैठी हैं, आपसमेंसे एक कहती है कि मुझे क्या रोग लग गया कि मैं उसे भुलाना चाहती हूँ तो भी नहीं भुला सकती हूँ। मुझपर किसीने जादू कर दिया। रात और दिन मैं पागल-सी घूमा करती हूँ, मेरा यह पागलपन दूर कैसे हो। देखती हूँ कि भगवान्के मिलनेके सिवाय इसकी कोई दवाई नहीं है।

किसीने कहा—कृष्ण इतने काले क्यों हो गये? उसके उत्तरमें एक सखी कहती है कि हमलोग अपनी आँखोंमें जो काजल डालती हैं न, वे हमारी उन्हीं आँखोंमें बसते हैं इसीसे हमारे काजलसे वे काले हो गये। इस प्रकारसे वे विनोद किया करती थीं।

एक सखीने कहा कि सखी! मैं उन्हें कभी भुला नहीं सकती। वे रात-दिन मेरे हृदयमें बसे रहते हैं, तो क्या ऐसा नहीं हो जाय कि मैं श्रीकृष्णको याद करती-करती कृष्णमय बन जाऊँ, तो दूसरी सखी बोली—बन जा तो इसमें क्या हानि है? तू रात-दिन श्रीकृष्णकी याद करती है और श्रीकृष्ण रात-दिन तुमको याद करते हैं क्योंकि उनका नियम है कि—

‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।’

(गीता ४।११)

‘जो जैसे मुझे भजते हैं मैं उनको वैसे ही भजता हूँ।’ जब तू कृष्ण बन जायगी तो वे गोपी बन जायँगे। तो तुम्हारा दाम्पत्य-प्रेम तो कायम रहेगा ही। इसके वास्ते तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारसे कोई कुछ, कोई कुछ बात कर

रही हैं। इतनेमें वहाँ फाटकपर भगवान् आ गये। उन्हें सखीने यह कहकर रोक दिया कि राधारानीका हुक्म है कि भीतर कोई न आये। कृष्णने कहा—तो जाओ हुक्म ले लो, कह दो कि श्रीकृष्ण आये हैं। उसने कहा—अच्छा, आप यहीं ठहरिये, मैं पूछकर आती हूँ। भगवान् वहाँ ठहर गये और वह पूछने गयी तो सखियोंने कहा—अभी नहीं, अभी तो हमारी रहस्यकी बात हो रही है। यदि वे आ जायेंगे तो सब बंद हो जायगा। जाओ कह दो कि अभी थोड़ी देर वहाँ ठहरें। गोपीने आकर विनयपूर्वक कहा कि अभी राधारानीकी आज्ञा नहीं है। वे कहती हैं कि अभी थोड़ी देर वहीं प्रतीक्षा करें, इसलिये कि यहाँ अभी परस्परमें जो रहस्यकी बातें हो रही हैं वे आपके आनेसे बंद हो जायँगी। श्रीकृष्णने कहा—बंद क्यों हो जायँगी ? बोली—आपके गुणोंकी बातें, आपके प्रभावकी बातें, आपके विषयकी बातें, आपके सम्मुख करनेमें लज्जा होती है, मनमें संकोच होता है। भगवान्ने कहा—संकोच तो नहीं करना चाहिये, जहाँ प्रेम हो वहाँ संकोच नहीं करना चाहिये।

सखीने जाकर कहा कि वे कहते हैं कि 'जहाँ प्रेम हो वहाँ संकोच नहीं करना चाहिये। हमारे सम्मुख भी करें तो क्या आपत्ति है। प्रेममें संकोच, भय, मान, प्रतिष्ठा—ये रहते ही नहीं, तो तुम्हारेमें कहाँसे आ गये ? तब फिर वह गयी और वहाँसे यह हुक्म आया कि नहीं, अभी थोड़ी देर बाहर प्रतीक्षा करें। तो भगवान्ने यह कहकर उत्तर दिया कि हम ज्यादा प्रतीक्षा नहीं कर सकते, फिर भगवान् एक प्रकारसे भीतर चले गये, उनको देखकर सब गोपियाँ मुग्ध हो गयीं और भगवान्ने कहा कि मेरे आनेसे तुमको लज्जा होती है ? भय होता है ? वे बोलीं—नहीं तो, भगवान्ने कहा—मुझे तो ऐसा ही बतलाया गया था। रनियाँ बोलीं—वह तो विनोदकी बात थी। कृष्णने कहा—फिर तुम सब हमारे सामने क्यों नहीं करतीं, जो बात हो हमारे सामने करो। वे बोलीं—बहुत-सी बातें तो आपके सामने ही किया करती हैं, कोई बातें ऐसी भी होती हैं कि आपकी अनुपस्थितिमें हमको ज्यादा आनन्द आता है। ऐसी कौन-सी बात है कि जहाँ आपके ऊपर दोष लगाया जाता है।

कृष्णने कहा—तब तुमको भय क्यों हो गया ? दोष

लगाओ तो हमारे सम्मुख लगाओ, हम दोषको सुनकर नाराज नहीं होंगे। वे बोलीं—महाराज ! हम आपके ऊपर यही दोष लगाया करती हैं कि आपमें दया नहीं है, एक प्रकारसे आप हम सबको तरसाते रहते हैं, चाहे हम तरसती-तरसती मर जायँ, लेकिन फिर भी आपको दया नहीं आती। तरसानेमें आपको क्या मजा आता है, इस बातको हम नहीं समझतीं। इसलिये हम कभी-कभी जब आपकी निन्दा करने बैठती हैं तो आपको बाहरमें रोक देती हैं। कृष्ण बोले—नहीं, नहीं, मेरी निन्दा तुम हमारे सम्मुख करो। हम नाराज नहीं होंगे। इसके लिये तुम्हें न भय करना चाहिये न संकोच। संकोच तो करना ही नहीं चाहिये। संकोच किस बातका ? वे बोलीं—हम जिस समय आपके गुणोंकी बात कहती हैं तो आपके सम्मुख कहनेमें थोड़ा संकोच होता है, पीछे नहीं होता।

कृष्ण बोले—सम्मुख जो संकोच होता है यही प्रेमकी कमी है। संकोच होना ही नहीं चाहिये। जहाँ प्रेम है वहाँ आदर, सत्कार, भय और संकोच—ये सब उसमें कलंक हैं। जहाँ अपना विशुद्ध प्रेम है, अनन्य प्रेम है, वहाँ यह सब होना ही नहीं चाहिये। प्रेमके तत्त्व, रहस्यको जो स्त्री समझ जाती है या पुरुष समझ जाता है वहाँसे भय और संकोच, आदर और सत्कार बिदा हो जाते हैं। जब साधक सारे भावोंसे ऊपर उठ जाता है, तब वहाँ फिर यह सब नहीं होता। सारे भाव क्या, जैसे माधुर्य-भाव है, दास-भाव है, सख्य-भाव है, वात्सल्य-भाव है, शान्त-भाव है। माधुर्य-भावके भी दो रूप होते हैं, एक स्वकीय और दूसरा परकीय। अपनी जो धर्मपत्नी है उसका जो माधुर्य प्रेम है वह स्वकीय है और जो स्त्री दूसरेकी है और वहाँ जो माधुर्य प्रेम है वह परकीय है। उसमें फर्क क्या है ? उसमें फर्क यह है कि अपनी स्त्रीके हृदयमें काम-उद्दीपन हो जाय या पुरुषके हृदयमें काम-उद्दीपन हो जाय तो उसमें दोष नहीं है, क्योंकि वह अपनी धर्मपत्नी है। उसके साथ सहवास करनेमें भी दोष नहीं है, किंतु स्त्री दूसरेकी है और उसके हृदयमें मधुर प्रेम है, तो विशुद्ध प्रेममें यदि कामवासना हो जाय तो उसमें कामवासना कलंक है। सहवासकी तो बात ही दूर है, वहाँ कामवासना भी कलंक है। तो जहाँ प्रेम होता है, वहाँ कोई भी दोष नहीं रहता। उन सबका तो विशुद्ध प्रेम था। परंतु यदि उनमें संकोच, भय, आदर, सत्कार आ

जाता—जैसे वात्सल्य-भाव है, सख्य-भाव है, दास्य-भाव है, जैसे कोई सखी, जो दासी थी, वह दास-भाव रखती थी तो उसके मनमें स्वामीका भय हो जाता, संकोच भी होता। इसी प्रकारसे सख्य-भाव किसीका रहता है तो उसमें कुछ-न-कुछ लज्जा रहती है। और सब भावोंसे जब ऊपर उठ जाता है तो दोष वहाँ नहीं आता। साथमें कई भाव रहते हैं, जब भावोंसे वह ऊपर उठ जाता है तो उसके सारे भाव उसके अन्तर्गत होते हुए उन भावोंके कारण जो कुछ कमी समझी जाती है वह आगे जाकर मिट जाती है। दास-भाव बहुत ऊँचा है। इसी प्रकार सख्य-भाव भी ऊँचा है। हनुमान्जीका श्रीरामचन्द्रजीमें जो भाव था वह दास्य-भाव था, परंतु अर्जुनका जो श्रीकृष्णजीमें भाव था वह दास्य-भाव भी था तथा सख्य-भाव भी। भगवान्ने खुद कहा है कि 'भक्तोऽसि मे सखा चेति ॥' अर्जुनने भी श्रीकृष्णसे कहा है कि मैंने आपको अपना सखा-ऐसे मानकर आपके साथ आसनपर, शय्यापर और जो आपके साथ कुछ भी व्यवहार किया है, तिरस्कार कर दिया है उसके लिये मैं क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। तो यह भी एक प्रकारसे अर्जुनके लिये उच्च भाव नहीं है। उद्धवका भाव दास्य-भावका भी था और सख्य-भावका भी। जितने गोप-ग्वाल थे, उन सबका सख्य-भाव था और गोपियाँ जो हैं ये उनकी सखियाँ थीं। इनका सख्य-भाव भी था और बहुतांका माधुर्य प्रेम भी था और श्रीराधाजी सब भावोंसे उठी हुई थीं, सारे भाव उनमें समाविष्ट थे, वह खुद सारे भावोंसे अतीत थीं। तो इस प्रकारसे हमलोगोंको भी भगवान्के साथ गोपियोंके भावके अनुसार प्रेम करना चाहिये। यह नहीं समझना चाहिये कि सखियोंका जो प्रेम है वह स्त्रियोंका ही हो सकता है पुरुषोंका नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि वह तो भाव है, भाव तो सबका ही हो सकता है, स्त्रीका भी हो सकता है, पुरुषका भी हो सकता है। पुरुष सखा हो करके रहता है, तो स्त्री सखी हो करके रहती है। पुरुष दास हो करके रहता है तो स्त्री दासी हो करके रहती है। पुरुष पिता हो करके रहता है तो स्त्री माता हो करके रहती है। माताका भी वात्सल्यभाव है और पिताका भी वात्सल्यभाव है।

शान्त भाव है साधनके समय द्वैतभाव और उसका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें पर्यवसान यानि समाप्ति। साधन-

कालमें तो द्वैत और फलमें सच्चिदानन्द परमात्माकी (अद्वैतकी) प्राप्ति। निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जो भाव है वह शान्त-भाव है। सगुणकी भक्ति करते हुए भी जो इच्छा उस भावकी है उसका भाव भी शान्त-भाव है, तो पुरुष भी हर एक भावसे भगवान्से प्रेम रख सकता है, स्त्रियाँ भी रख सकती हैं। तो हमलोगोंका भगवान्में पवित्र भाव होना चाहिये और अनन्य प्रेम, विशुद्ध प्रेम होना चाहिये। इसका जो फल है वह साक्षात् भगवान्की प्राप्ति है और भगवान्की प्राप्ति-रूप फलको भी नहीं चाहना चाहिये। भगवान् तो मना करनेपर भी वहाँ पहुँचते हैं। मिलनेकी इच्छा नहीं रखनेपर भगवान् और जल्दी आते हैं सो यह और उच्चकोटिका भाव है पर इसके अंदर भी छिपी हुई कामना है। मिलनेकी इच्छा नहीं रखनेपर भगवान् शीघ्र आते हैं तो भगवान्से शीघ्र मिलनेके उद्देश्यसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। इससे भी उच्च भाव यह है कि जैसे भगवान् मुझे तरसाते हैं, वैसे ही मैं भी भगवान्को तरसाऊँ। उसे मेरी गर्ज नहीं है तो मुझे भी उसकी गर्ज नहीं। गर्ज होते हुए भी कहना है कि मुझे गर्ज नहीं है। यह विनोद है। तो भगवान्का तरसाना और भी महत्त्वकी चीज है। अपनी धर्मपत्नीके साथ पतिका प्रेम होता है और धर्मपत्नी इस बातको समझ जाती है कि मेरे बिना मेरा पति नहीं रह सकता तो उसकी इच्छा रहते हुए भी अपने पतिको तरसाती रहती है। यदि इस विद्याको हमलोग समझ लें तो फिर भगवान्को बुलाना न पड़े, वह खुद आकर खुशामद करे। प्रेमका तत्त्व जितना भगवान् जानते हैं उतना हमलोग नहीं जानते। साधक जो है वह 'इतना प्रेमका तत्त्व है'—नहीं जानता, प्रेमका तत्त्व जितना साध्य जानता है। साधक तो प्रेमी है और साध्य जो है वह प्रेमास्पद है। तो प्रेमास्पद भगवान् प्रेमके तत्त्वको जितना जानते हैं उतना उनका भक्त नहीं जान सकता। तो उस रहस्यको जो समझ जाता है वह एक प्रकारसे भगवान्से खुशामद कराता है और भगवान् जो खुशामद करते हैं, उससे एक प्रकारसे भगवान्को भी मजा आता है और खुशामद करानेवालेको भी मजा आता है, प्रेमका मार्ग ऐसा ही है। प्रेमके मार्गमें जहाँ विशुद्ध प्रेम होता है वहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं है, इसीलिये वहाँ एक-दूसरेको शर्म नहीं है, इसीलिये वहाँ आदर-सत्कार नहीं है। जहाँ छोटा-बड़ा होता है,

आदर-सत्कार होता है वहाँ तो आदर-सत्कार प्रेममें कलंक है। प्रेमीका उद्देश्य यह रहता है कि हम भगवान्को आह्लादित करते रहें, भगवान्को हम अपने चरित्रसे मुग्ध करते रहें और भगवान्का उद्देश्य यह रहता है कि हम अपने भक्तको आह्लादित करते रहें।

भगवान्की सारी क्रिया भक्तके लिये होती है और भक्तकी सारी क्रिया भगवान्के लिये होती है अपने लिये नहीं। भगवान्की दृष्टिमें जो भगवान्का भक्त है वह प्रेमास्पद है और भगवान् प्रेमी तथा भक्तकी दृष्टिमें भक्त प्रेमी और भगवान् प्रेमास्पद हैं। दोनोंसे दोनोंका प्रेमका नाता। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद तीन हैं, किंतु वस्तुसे तो एक ही है। जैसे ज्ञानके मार्गमें एक ब्रह्म ही है दूसरी वस्तु नहीं है; ऐसे प्रेमके मार्गमें एक प्रेम ही है, दूसरी वस्तु नहीं है। यहाँ जो प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी हैं—ये तीनों चेतन हैं। साधनकालमें जो प्रेम होता है वह जड़ होता है। यह जो प्रेम है वह चेतन है, परमात्माकी प्राप्तिके बाद जो प्रेमकी अवस्था है वह तीनोंकी एक ही अवस्था है। तीनों ही चेतन हैं और साधनकालका जो प्रेम है वह असली प्रेमका प्रतिबिम्ब है। जैसे असली चन्द्रमा जो है वह बिम्ब है और उसका चिलका जो पड़ता है वह प्रतिबिम्ब है तो संसारमें जो परस्पर स्त्री-पुरुषका प्रेम है वह तो प्रेम ही नहीं है, काम है, वह तो मोह है, किंतु भगवद्विषयक जो प्रेम है वह प्रेम उस असली प्रेमका प्रतिबिम्बमात्र है। ज्ञानी महात्माओंके हृदयमें निर्गुण-निराकारका—ब्रह्मका स्वरूप प्रतिबिम्ब ही आता है। वे तो समा नहीं सकते और

अन्तःकरण बुद्धि है वह अल्प है। उस बुद्धिके अन्तर्गत वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म आ ही कैसे सकता है? इसी प्रकारसे संसारमें, साधनकालमें जो साधक है उसके हृदयमें वह जो अनन्त और अनन्य असीम ऐसा जो प्रेम है वह हृदयमें समा ही कैसे सकता है? फिर भी एक प्रकारसे भगवान्के हृदयमें जो बसता है, भगवान् उसके हृदयमें बसते हैं।

‘तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।’

(गीता ७।१७)

‘समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।’

(गीता ९।२९)

जो चार प्रकारके भक्त गीताके सातवें अध्यायके १६वें श्लोकमें बताये हैं आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी—‘उन चारोंके बीचमें जो ज्ञानी, निष्कामी भक्त हैं, अनन्य भक्तिसे युक्त हैं, उन सबमें वह श्रेष्ठ है। उस ज्ञानीको मैं अतिशय प्यारा हूँ, इसलिये ज्ञानी मुझको अतिशय प्यारा है।’ ‘समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः,’ ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्’ मैं सारे भूतोंमें सम-भावसे स्थित हूँ, किंतु जो मुझे प्रेमसे भजता है उसके हृदयमें मैं और मेरे हृदयमें वह नित्य है। भगवान् अपने प्रेमियोंके हृदयमें नित्य वास करते हैं और प्रेमी भगवान्के हृदयमें वास करते हैं। भगवान्की जो सारी चेष्टा है वह भक्तके लिये है और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्को खुश करनेके लिये है। तो इसलिये एक प्रकारसे वह दोनों लीला ही हैं, वह भगवान्की लीला है और वह भक्तकी लीला है।

काहे न रसना रामहि गावहि ?

निसिदिन पर-अपबाद बृथा कत रटि-रटि राग बढ़ावहि ॥
नर मुख सुंदर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि ।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर-जल कहँ धावहि ॥
काम-कथा कलि-कैरव-चंदनि, सुनत श्रवन दै भावहि ।
तिनहि हटक कहि हरि-कल-कीरति, करन कलंक नसावहि ॥
जातरूप मति, जुगुति, रुचिर मनि रचि-रचि हार बनावहि ।
सरन-सुखद, रबिकुल सरोज-रबि राम नृपहि पहिरावहि ॥
बाद-बिबाद, स्वाद तजि भजि हरि, सरस चरित चित लावहि ।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि ॥

सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो ?

(एक यात्री)

यह देव-दुर्लभ मानव-शरीर अनेक पर्याप्त पुण्योंकी कमाईसे प्राप्त होता है, इसपर भी प्राणी काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर—इन षट् विकारोंमें फँसा रहता है और पापकर्म करके इस मानव-शरीरको व्यर्थ खोकर फिर चौरासी लाख योनियोंमें जा गिरता है तथा दुःखमय जीवन व्यतीत करता हुआ रोता-कलपता रहता है, परंतु अब उसकी कोई नहीं सुनता, सुने भी कौन ! उसने कर्म ही ऐसे किये हैं, जिनका परिणाम अपार दुःख है—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

(मानस २।२१८।४)

तो फिर यही प्रश्न होता है कि ये षट् विकार कैसे छूटें और स्थायी सुख-शान्ति कैसे मिले । इसका उत्तर निम्नलिखित विचारोंसे स्पष्ट है । इन विचारोंको अभ्यासद्वारा दृढ़ कर लेना चाहिये ।

(१) मुझे एक दिन इस असार संसारको छोड़कर जाना होगा । हमारे पूर्वज, सम्बन्धी, इष्ट-मित्र हमारी आँखोंके सामने देखते-देखते चले गये और चले जा रहे हैं । जरा दिलकी गति रुकी और खेल खतम । महामारी, हैजा, इनफ्लुएंजा आदि नगरमें आये कि हजारों चल बसे । फिर भी क्या हमारे जानेमें कुछ संदेह है ? एक-दो दिनकी कोई क्या कहे, एक घड़ीभर भी जीवनका कोई निश्चय नहीं । रे मन ! ऐसा निश्चय करके इस असार संसारसे धीरे-धीरे आसक्ति छोड़ ।

अंतहु तोहि तजैगे पामर ! तू न तजै अब ही ते ॥

(विनय० १९८)

यह फानी-तूफानी दुनिया अन्तमें तेरा साथ नहीं देगी—

आयु गँवाई दुनियाँमें, दुनियाँ चले न साथ ।

पैर कुल्हाड़ी मारिया मूरखने अपने हाथ ॥

(नानक)

सहस्रबाहु और रावण ऐसे महाबली योद्धा इस असार संसारसे खाली हाथ चले गये—

सहस्रबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते ।

हम-हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥

सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।

अंतहु तोहि तजैगे पामर ! तू न तजै अब ही ते ॥

(विनय० १९८)

मदिरा पीकर जैसे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, उसको अपना और पराया भान नहीं रहता, उसी तरह रे मन ! तूने अपने देवदुर्लभ मानव-जीवनके वास्तविक कर्तव्यको भुला दिया है । अनेक पर्याप्त पुण्योंके बिना मानव-शरीर नहीं मिलता । जलचर, थलचर, नभचर आदि असंख्य प्राणियोंमें मनुष्यजाति ही श्रेष्ठ मानी गयी है । अनेक प्राणियोंमें कोई एक बिरला ही मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है । इसको पाकर जो अपना लोक-परलोक नहीं बना लेते, वे अपार दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।

कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

(मानस ७।४३)

जगद्गुरु स्वामी श्रीशंकराचार्यजी अपनी चर्पटपञ्जरिकामें लिखते हैं—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।

कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥

बार-बार दिन, सायंकाल, रात्रि आती है और देखते ही चली जाती है एवं शिशिर-वसन्त आदि ऋतुएँ भी आकर चली जाती हैं । इस प्रकार कालकी क्रीडा निरन्तर होती रहती है, प्राणियोंकी आयु इस तरह क्षीण होती जा रही है । तथापि अरे मूढमते ! इस असार क्षणभङ्गुर संसारकी आशारूपी वायु तुझे छोड़ना नहीं चाहती । अब जो आयु बची है, उसीको सार्थक बना और अन्तर्यामी गोविन्दभगवान्का निरन्तर प्रेमसे भजन कर ।

निम्न कविताओंको विचारपूर्वक गुनगुनाते रहना चाहिये—

(क) है बहारे बाग दुनियाँ चंद रोज ।

देख ले इसका तमाशा चंद रोज ॥

ऐ मुसाफिर कूँचका सामान कर ।

है बसेरा इस सरामें चंद रोज ॥

(ख) जाना है, रहना नहीं, जाना बिस्वा बीस ।

थोड़े दिनकी जिंदगी, भज ले श्रीजगदीस ॥

(ग) मुट्ठी बाँधे आया जगमें, हाथ पसारे जायेगा ।

(घ) सिकंदर जब चल बसा दुनियाँसे, दोनों हाथ खाली थे ॥

इन विचारोंका सोते-जागते समय अथवा निरन्तर ध्यान रखनेसे षट् विकार एवं पापकर्म घटते-घटते क्षय हो जायेंगे और प्राणी स्थायी सुख-शान्ति प्राप्तकर मुक्त पुरुषकी भाँति जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें, हाथीके गलेसे फूलकी माला गिरनेके समान, प्रसन्नतापूर्वक शरीर छोड़कर परमधाम प्राप्त करेगा । मानस (३।१०) में कहा गया है—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।

सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ॥

उपर्युक्त विचारोंकी प्रतिदिन एक आवृत्ति अवश्य होनी चाहिये, ताकि थोड़े समयमें विचार दृढ़ हो सके और यह भी विचार रहे कि हमको ही अपने कर्मोंका हिसाब देना होगा, उसमें कोई साथी या मददगार नहीं होगा । यह ध्रुव सत्य है कि इस प्रकारके विचारोंको भलीभाँति सुदृढ़ कर लेनेपर छः मासके अंदर ही कार्य करनेका दृष्टिकोण बदल जायगा, पाप-कर्म करनेमें ग्लानि होने लगेगी और जीवन सुख-शान्तिमय होगा ।

(२) प्रारब्ध और पुरुषार्थका विवेचन करके धन आदि भोगोंके लिये प्रारब्धपर ही विश्वास करना और योगके लिये पुरुषार्थपर भरोसा रखना । संसारके सब दुःख-सुख, लाभ-हानि प्रारब्धके अधीन हैं । चालाकी-बेईमानीसे जीवनका सुख-दुःख, हानि-लाभ हम तिलभर भी नहीं बदल सकते, वरं आगामी जन्मके लिये काँटे बो लेते हैं—यह हमें निम्नलिखित विचारोंद्वारा दृढ़ कर लेना चाहिये—

(१) प्रारब्ध पहिले रची, पाछे रच्यो सरीर ।

तुलसी चिंता त्याग दे, भज ले श्रीगुबीर ॥

(२) आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

‘आयु, भोग, धन, विद्या और मृत्यु मनुष्यके गर्भकालमें

ही विधाता रच देते हैं ।’

(३) कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार ।

देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेंटनिहार ॥

(मानस १।६८)

(४) सुनहु भरत भावी प्रबल विलखि कहेउ मुनिनाथ ।

हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ ॥

(मानस २।१७१)

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम प्रारब्ध एवं कालकी विचित्र गतिका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

(५) यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति

यच्चेतसा न कलितं तदिहाभ्युपैति ।

प्रातर्भवामि वसुधाधिप चक्रवर्ती

सोऽहं ब्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी ॥

‘हे लक्ष्मण ! जिस इष्ट पदार्थके लिये हम चिन्ता करते हैं, कब मिले ! कब मिले—ऐसी प्रतीक्षा करते हुए अनेकविध प्रयत्न करते हैं, वह प्रारब्धाधीन कालकी विचित्र गतिसे हमको नहीं मिलता, हमसे हजारों कोस दूर हो जाता है । इसी प्रकार जिसका हमें स्वप्नमें भी ध्यान नहीं होता, जिसे हम कभी भी देखना नहीं चाहते, वह अनिष्ट दृश्य सहसा हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है । इस विषयमें लक्ष्मण ! तू मुझको ही देख, प्रातःकाल मैं चक्रवर्ती सम्राट् होने जा रहा था, वही आज मैं जटाधारी तपस्वीका-सा वेष बनाकर वनमें जा रहा हूँ ।’

अतः दृढ़ विश्वास रखें कि एक दिन इस अपार संसारको छोड़कर अकेले ही जाना होगा और भले-बुरे कर्मोंका भोग भोगना होगा । दूसरा यह विचार दृढ़ रखें कि धनादि भोग प्रारब्धके ही अधीन हैं, अतः उनके लिये पापकर्म करना अपनेको अपार दुःखमें डालना है । इन दो ही विचारोंको सुदृढ़ करनेसे जीवनमें स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त होगी और अन्त समयमें शरीर छोड़कर प्राणी परम गतिको प्राप्त होगा—

आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर ।

कोई रथ चढ़ि चल रहा, कोई बँधा जंजीर ॥

‘भगवान्का निरन्तर चिन्तन, भगवान्के प्रत्येक विधानमें संतुष्ट रहना, भगवान्की आज्ञाका पालन करना और निष्काम-भाव रखना यही भगवान्की शरणागति है ।’

दिव्य प्रेम

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके एक भाषणसे)

[गताङ्क पृ०-सं० ५८१ से आगे]

प्रेमकी बड़ी ही विचित्र गति होती है। वह महागम्भीर है और महाचञ्चल है। प्रेमीमें प्रेमका अगाध समुद्र प्रशान्तभावसे स्थिर हो जाता है, परंतु जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर महासमुद्र नाचने लगता है, उसी प्रकार प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रसन्न श्रीमुखको देखकर उनके सुखार्थ उस प्रेम-महासागरमें लहरें—तरङ्गें उठने लगती हैं। ये तरङ्गें ही प्रेमलीला हैं।

गोपियोंके जीवनमें इन प्रेम-तरङ्गोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी क्रिया नहीं है। प्रेमकी ही ये उच्छ्वसित ऊर्मियाँ हैं जो नाच-नाचकर प्रेमसुधाका अधिकाधिक मधुर रसास्वादन कराया करती हैं। ये तरङ्गें कभी अत्यन्त उत्ताल हो जाती हैं, कभी मृदु बन जाती हैं, कभी बहुत ऊपर उछलती हैं, कभी मन्द-मन्द उठती-बैठती हैं, कभी सीधी होती हैं, कभी दायें-बायें हो जाती हैं। प्रेममें दो तरहके भाव होते हैं— दक्षिण और वाम। दक्षिण भावसे भी और वामभावसे भी—परस्पर प्रेम-लीलाएँ चलती रहती हैं। जहाँ प्रेमानन्दमयी श्रीराधारानी या गोपाङ्गनाओंका वामभाव होता है, वहाँ प्रियतम श्यामसुन्दर उन्हें मनाया करते हैं और जहाँ प्रेमधन श्रीश्यामसुन्दरका वामभाव होता है वहाँ श्रीराधारानी या श्रीगोपाङ्गनाएँ उनको मनाया करती हैं। मधुर मनोहर प्रेमसमुद्रके 'विरहतट'-पर कभी 'विप्रलम्भ'-रसका आस्वादन होता है तो कभी 'मिलनतट'-पर 'सम्भोग'-रसका आस्वादन होता है। फिर, कभी मिलनमें ही विरहकी स्फूर्ति हो जाया करती है—

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः ।

या विश्लेषधियार्तिस्तं प्रेमवैचित्यमुच्यते ॥

'प्रेमकी उत्कर्षताके कारण प्रियतमके रहनेपर भी उनके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव होना—प्रेम-वैचित्य कहलाता है।' इस प्रकार प्रेमसागरमें अनन्त मधुरातिमधुर तरङ्गें उठा करती हैं। इनका वर्णन कौन करे ? जो तटपर खड़ा है, वह तो तरङ्गोंके भीतरकी स्थिति जान नहीं सकता और जो तरङ्गोंमें मिल गया वह तरङ्ग ही बन जाता है। इसीसे प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—'प्रेमस्वरूपं अनिर्वचनीयम् ।'

कभी-कभी ऐसा होता है—प्रेमी और प्रेमास्पद अपने-आपको भूलकर एक दूसरे बन जाते हैं। नटवर रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर अपनेको राधा मानकर हा कृष्ण ! हा श्यामसुन्दर ! हा प्राणवल्लभ ! पुकारने लगते हैं और रासेश्वरि नित्य-निकुंजेश्वरि श्रीराधारानी श्रीकृष्णके आवेशमें हा राधे ! हा प्राणेश्वरी प्राणाधिके ! हा मनमोहनी ! पुकारा करती हैं। ये सभी प्रेमसमुद्रकी पवित्रतम मधुर-मधुर तरङ्गें हैं। यह श्रीराधामाधवका प्रेम, प्रेम-विहार, प्रेमलीला नित्य है और नित्य वर्धनशील है, इसीसे उनका अप्रतिम आनन्द भी नित्य और प्रतिक्षण वर्धनशील है। किसी-किसी युगमें कोई ऐसे प्रेमी संत होते हैं जो इस प्रेमलीलाका दर्शन करना चाहते हैं। तब उनकी प्रीतिसे प्रेरित होकर भगवान् अपने दिव्य धाम तथा प्रेमी परिकरों, सखाओं, सखियोंको लेकर, दिव्यधामके दिव्य चिन्मय पशु-पक्षियों और वृक्ष-लताओंको लेकर इस मर्त्यभूमिपर अवतरित होते हैं। यही भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी अवधलीला है और यही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी व्रजलीला है। इस प्रेमराज्यमें उन्हींका प्रवेश है जो अपनेको खोकर, स्व-सुखकी समस्त वाञ्छाओंको मिटाकर भगवान्‌के ही हो जाते हैं। इस प्रकार त्यागकी पराकाष्ठासे उदित दिव्य प्रेमको वैष्णवोंने 'पञ्चम पुरुषार्थ' बताया है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जहाँ मोक्षकी कामनाका भी परित्याग हो जाता है। प्रेम-सेवाको छोड़कर प्रेमी भक्त देनेपर भी मुक्तिको स्वीकार नहीं करते।

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।'

यही त्यागकी पराकाष्ठा है। इसमें अहंकी चिन्ता या अहंकी मङ्गलकामनाका सर्वथा अभाव है। जहाँ मोक्षकी कामना है, वहाँ बन्धनकी अपेक्षा है। बन्धन न हो तो मोक्ष—छुटकारा किससे ? और बन्धन किसको होता है ? जो बँधा है वही छुटकारा चाहता है। अतः बन्धनकी अनुभूति और बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा—इसीका नाम 'मुमुक्षा' है और यह जिसमें है, उसीको 'मुमुक्षु' कहते हैं। छुटकारेकी इच्छामें ही बन्धनकी अनुभूति है, जिसको इस बन्धनकी अनुभूति है

वही बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है—हम उसको मुमुक्षु कहें—चाहे जिज्ञासु या साधक। कुछ भी कहें, उसमें 'अहं' है और वह 'अहं' का मङ्गल चाहता है। पर प्रेम-राज्यमें तो अहंकी चिन्ता ही नहीं है, 'स्व'की सर्वथा विस्मृति है। प्रेमास्पदका सुख ही जीवन है। इसीसे यह 'पञ्चम पुरुषार्थ' है।

गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' है। 'मोक्षसंन्यास'का यह अर्थ किया जाय कि इसमें 'मोक्षके भी परित्याग' का विषय है। वही तो 'शरणागति' है। यह तो मानना ही चाहिये कि जिस अर्जुनको भगवान्ने रणाङ्गणमें प्रत्यक्ष समझाकर गीताका उपदेश किया, जिसको अपना अत्यन्त प्रिय इष्ट और अधिकारी बताया, जिसके हितके लिये ही उपदेश किया है—

‘इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।’

—उस अर्जुनने गीताको जितना अच्छा समझा है, उतना और किसने समझा होगा ? अर्जुनका जीवन गीताके अनुसार जितना बना होगा, उतना और किसका बनेगा, अर्जुन तो स्वीकार करता है कि 'मेरा मोह-नाश हो गया और मैं आपके वचनोंका पालन करूँगा।' और यहींपर गीता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार गीताका अर्थ समझनेवालेकी जो गति हुई होगी, वही गीता-वक्ताके उपदेशका फल होना चाहिये। अब महाभारतमें देखिये—अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' की प्राप्ति हुई या और कुछ मिला। महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें कथा है—

'देवताओं, ऋषियों और मरुद्गणोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर भगवान्के दिव्य धाममें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपना ब्राह्मविग्रह धारण किये विराजमान हैं। उनका स्वरूप पूर्व देखे हुए विग्रहके ही सदृश है, अतः वे भलीभाँति पहचाननेमें आ रहे हैं। उनके दिव्य श्रीविग्रहसे दिव्य ज्योति फैल रही है। उनके सुदर्शन चक्रादि आयुध देवताओंके शरीर धारण किये हुए उनकी सेवामें लगे हैं। वहीं अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भी भगवान्की सेवामें संलग्न है। देवपूजित भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी युधिष्ठिरको आये देख उनका यथारिति सत्कार किया ।.....'

इससे समझमें आ जाना चाहिये कि अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' नहीं मिला। उन्हें भगवान्की 'प्रेम-सेवा' प्राप्त हुई।

शरणागतसे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया—'नष्टो मोहः।' अतएव संसारसे मुक्ति होनेका काम तो हो ही गया। बन्धन रह गया केवल भगवान्की प्रेमसेवाका, जो शरणागत अर्जुन और गीतावक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंको ही इष्ट है। अर्जुनसे भगवान्ने मानो कह दिया—'तुम्हारा मोह-नाश हो गया। तुम मेरे सेवक थे, सेवक ही रहोगे। मोहवश कह रहे थे—'मैं यह नहीं करूँगा', 'यह करूँगा' अब तुम मेरे वचनोंका ही अनुसरण करोगे। बस, काम हो गया। तुम मेरे चिर-सेवक ही रहो। तुम्हें मोक्षसे क्या मतलब।' यही मोक्षसंन्यास है। प्रेमी मोक्षका भी संन्यास कर देता है—यह अभिप्राय है।

मोक्षसंन्यासका यथार्थ अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं, मुझे गीताका न अध्ययन है, न ज्ञान। यह तो मैंने स्वान्तः सुखाय अपने मनका अर्थ कह दिया है। वैसे न मैं जानता हूँ, न शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, न विवाद, मैं तो सदा ही हारा हुआ हूँ। गीतामर्मज्ञ विज्ञ महानुभाव मेरी धृष्टताके लिये कृपया क्षमा करें।

इतना अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि जबतक मोक्षकी इच्छा है तबतक स्व-सुख-वाञ्छा है ही, क्योंकि इसमें अपने बन्धनकी अनुभूति है। बन्धन दुःखरूप है, उससे मुक्ति प्राप्त कर वह मोक्ष-सुखको प्राप्त करना चाहता है। यही स्व-सुखकी चाह है। अतः यहाँ भी सर्वत्याग—पूर्ण त्याग नहीं है, प्रेमीजन पूर्णत्यागी होते हैं, अतः वे मोक्षका भी परित्याग करके केवल प्रेम-सेवामें ही सहज संलग्न रहते हैं।

ऐसे प्रेमियोंकी तो बात ही दूसरी है, उनके जरासे संगके साथ भी मोक्षकी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(१।१८।१३, ४।३०।३४)

'भगवत्संगीका' अर्थ है—भगवान्में अनुरक्त—आसक्त, भगवान्का संगी, भगवान्का प्रेमी, गोपीभावापन्न। ऐसे भगवत्संगीका संग यदि लव मात्रके समयके लिये मिलता हो तो उसकी तुलना यहाँके भोगोंकी तो बात ही क्या है, स्वर्गसे भी नहीं होती, वरं अपुनर्भव—मोक्षसे भी नहीं होती। 'अपुनर्भव' का अर्थ है—जिससे वापस नहीं लौटा जाता, वैसी 'सायुज्य मुक्ति'। इस मुक्तिकी भी लव मात्रके

भगवत्संगीके संगसे तुलना नहीं होती। यह भगवत्प्रेमकी महिमा है। इसीसे इस प्रेमकी—इस दिव्य भगवत्प्रेमकी—ब्रजरसकी वाञ्छा शिव-नारदादि, महान् मुनि-तपस्वी आदि करते हैं। स्वयं ब्रह्मविद्या भी इस प्रेमके लिये लालायित हैं—

जाबालि नामक ब्रह्मज्ञानी मुनिने एक बार विशाल वनमें विचरते समय एक विशाल बावलीके तटपर वटवृक्षकी छायामें एक अनन्य-सुन्दरी परम तेजोमयी तरुणी देवीको कठोर तप करते देखा। चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नाके सदृश उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसे देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह जानना चाहा कि ये देवी कौन हैं तथा क्यों तपस्या कर रही हैं। पूछनेपर पता लगा कि जिनके शरण प्राप्त करनेपर अज्ञानान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जाता है, दुर्लभ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तथा जीव मायाके बन्धनसे मुक्त होकर स्वस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वे स्वयं ब्रह्मविद्या ही ये हैं। नम्रताके साथ प्रश्न करनेपर तापसी देवीने कहा—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते ।
साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः ॥
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः ।
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम् ॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना ।

(पद्मपुराण)

‘मैं वह अतुलनीया ब्रह्मविद्या हूँ जिसको महान् योगिराज सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीहरिके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये उनका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे यहाँ तप कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे पूर्ण हूँ, मेरी बुद्धि भी उसी ब्रह्मानन्दसे परितृप्त है। परन्तु श्रीकृष्णमें मुझे रति (प्रेम) अभी नहीं मिली, इसलिये मैं अपनेको सदा सूनी देखती हूँ।’

जिस अलौकिक प्रेमके लिये स्वयं ब्रह्मविद्या कल्पोंतक तप करती हैं, जिस रसकी तनिक-सी प्राप्तिके लिये अर्जुन साधना करके अर्जुनी बनते हैं, वह कितना उज्ज्वल, कितना दिव्य, कितना पवित्र और कितना मधुरतम है, इसको कौन बता सकता है। वे गोपरमणियाँ धन्य हैं, जिन्होंने इस प्रेमरसका आस्वादन किया और प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको करवाकर उनकी परम प्रीति लाभ की। और जिनके सामने

भगवान्ने अपना पूर्ण प्रकाश किया।

हमलोगोंके सामने भगवान् अपनेको पूर्णरूपसे प्रकट नहीं करते, ‘योगमाया’ (अपनी आत्ममाया) से ढके रखते हैं।

‘नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।’

(गीता ७।२५)

भगवान्ने कहा—‘मैं सबके सामने प्रकाशित क्यों नहीं होता, लोग मुझे पहचानते क्यों नहीं, इसीलिये कि मैं योगमायासे अपनेको ढके रखता हूँ।’ परन्तु प्रेमवती श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ यह बात नहीं है। वहाँ भगवान् ‘योगमाया-समावृत’ नहीं हैं, वहाँ ‘योगमायामुपश्रितः’ हैं। अर्थात् अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको पृथक् प्रकट करके मानो कहते हैं—‘मैं इस समय अनावृत हूँ, बेपर्दा हूँ, तुम इस नाटककी सारी व्यवस्था करो, लीलाके सारे साज बनाओ।’ योगमाया काम करती हैं। भगवान् तथा श्रीगोपाङ्गनाओंकी दिव्य रासलीला होती है। यहाँ कुछ भी गोपन नहीं है। भगवान्की अनावृत लीला है। गोपियोंका चीरहरण क्या है? वह कोई गंदी चीज थोड़े ही है। गंदी चीज होती तो दुर्वृत्त कामियोंको प्रिय होती, और होती अनन्त कालतक नरकोंमें ले जानेवाली। शुकदेवजी परीक्षितके सामने उसे कहते ही क्यों, पर यह तो सर्वथा लोकविलक्षण दिव्य भावमयी वस्तु है। मल, विक्षेप और आवरण—तीन बड़े बाधक दोष हैं जो आत्मस्वरूपतक, भगवान्तक साधकोंको नहीं जाने देते। इनमें मलका नाश भजनसे या भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे ही हो जाता है। विक्षेप दोष नष्ट हो जाता है भगवान्में मन लगानेसे। वहाँ चञ्चल मन अचञ्चल हो जाता है। रह जाता है—आवरण दोष। यह बड़ा व्यवधान बना रहता है। ज्ञानके साधकोंका यह दोष ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा किये हुए महान् अनुग्रहपूर्ण तत्त्वोपदेशसे दूर होता है और प्रेमी भक्तोंके इस दोषको भगवान् स्वयं दूर कर देते हैं। वे अपने हाथों ‘आवरण भंग’ कर देते हैं, पर्दा फाड़ डालते हैं। यही गोपियोंका चीरहरण है। जिस प्रेममें भय, लज्जा, संकोच तथा जरा भी व्यवधान नहीं है, ऐसा स्त्री-पुरुषका—पति-पत्नीका प्रेम हम जगत्में देखते हैं; वहाँ कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं रहती जिसे गोपनीय कहा जा सकता है। यही प्रेम जब दिव्य भाव बनकर भगवान्में आ जाता है तथा पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धसे

रहित, असम्बन्ध नित्य 'दिव्य सम्बन्धरूप' हो जाता है, तब वहाँ कुछ भी गोपनीय नहीं रहता। तमाम आवरणोंका विनाश हो जाता है। यौन भाव तो वहाँ रहता ही नहीं। यही भगवान् तथा भक्तका अनावरण मिलन है। यहाँ मायाका आवरण हट गया। पृथक्ताका पर्दा फट गया। चीरहरण तथा रासलीलाका अर्थ है—अनावृत (योगमायाके पर्देसे मुक्त) भगवान् और अनावृत (अहंता-ममता-आसक्तिरूप मायाके पर्देसे सर्वथा मुक्त) गोपाङ्गनाओंका महामिलन। जीव और परमात्माका, भक्त और भगवान्का घुल-मिल जाना—एक हो जाना।

यही दिव्य भगवत्प्रेम है। इस प्रेम-राज्यमें जिनका प्रवेश है, उनकी चरण-रज भी परम पावनी है। ज्ञानिशिरोमणि उद्धवजी मोक्ष न चाहकर ऐसी प्रेमवती गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये व्रजमें लता-गुल्म-ओषधि बनना चाहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या—भगवान् स्वयं भी उनके

चरण-धूलिकणसे अपनेको पवित्र करनेके लिये उनके पीछे-पीछे सदा घूमा करते हैं—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

'उसके पीछे-पीछे मैं सदा इस विचारसे चला करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मुझपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

प्रानधन सुंदर स्याम सुजान !

छटपटात तुम बिना दिवस-निसि मेरे दुखिया प्रान ॥

बिदरत हियौ दरस बिनु छन-छन दुसह दुखमय जीवन ।

अमिलन के अति घोर दाह तैं दहत देह-इंद्रिय-मन ॥

कलपत-विलपत ही दिन बीतत निसा नौद नहि आवै ।

सुपन-दरसहू भयो असंभव कैसें मन सचु पावै ॥

अब जनि बेर करौ मन-मोहन ! दया नैक हिय धारौ ।

सरस सुधामय दरसन दै निज उर की अगिनि निवारौ ॥

(समाप्त)

गृहस्थके पञ्चमहायज्ञ

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मोंके करनेसे किसी फलविशेषकी प्राप्ति न होती हो और न करनेसे पाप लगता हो उन्हें 'नित्य' कहते हैं, जैसे—त्रिकालसंध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि।

पञ्चमहायज्ञ करनेसे आत्मोन्नति आदि अवान्तर फलकी प्राप्ति होनेपर भी 'पञ्च सूना'-दोषसे छुटकारा पानेके लिये शास्त्रकारोंकी आज्ञा है कि—

सर्वैर्गृहस्थैः पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः ।

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि पञ्चमहायज्ञके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, किंतु न करनेसे पापका प्रादुर्भाव अवश्य होता है।

हमलोगोंकी जीवनयात्रामें सहज ही हजारों जन्तुओंकी प्रतिदिन हिंसा होती है, जैसे—चलने-फिरनेमें, भोजनके प्रत्येक ग्रासमें तथा श्वास-प्रश्वासमें जीवकी हिंसा अवश्य होती है। प्राणधारी मनुष्यके लिये इन पापोंसे बचना कदापि सम्भव नहीं। अतः इन पापोंसे मुक्त होनेके लिये ही महामहिमशाली

महर्षियोंने पञ्चमहायज्ञका विधान बताया है। भगवान् मनु कहते हैं—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।

पञ्च कृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥

(३।६८-६९)

'प्रत्येक गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी (झाड़ू), ऊखल और जलका पात्र—ये पाँच हिंसाके स्थान हैं। इनसे होनेवाली हिंसाकी निष्कृतिके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेका विधान किया है।'

यज्ञके दो भेद होते हैं—एक यज्ञ, दूसरा महायज्ञ। यज्ञ तथा महायज्ञके स्वरूप एवं इसकी विशेषताका वर्णन महर्षि भरद्वाजने इस प्रकार किया है—

'यज्ञः कर्मसु कौशलम्', 'समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः ।'

'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ'

१- पूर्वकर्मानुसार जन्म ग्रहणकर जो मनुष्य जिस कक्षा (श्रेणी) में प्रविष्ट होता है, उसमें अपनी स्थिति बनी रहे, इसके लिये ही उसे अपनी कक्षाके योग्य समस्त कर्म करने पड़ते हैं, जिससे उसका उक्तस्थानसे अधःपतन नहीं हो सकता। इसलिये नित्यकर्मोंके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि इन्हें न करनेसे पाप अवश्य लगता है, क्योंकि उनके किये बिना उस कक्षामें स्थायी स्थिति सर्वथा असम्भव है।

कहते हैं। 'पश्चात् समष्टि-सम्बन्ध होनेसे उसीको 'महायज्ञ' कहते हैं।'

इसी बातको महर्षि अङ्गिराने भी कहा है—

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात् ।

'व्यष्टि-समष्टि-सम्बन्धसे यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं।'

यज्ञका फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण है, उसका व्यष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें स्वार्थकी प्रधानता आ जाती है। (यही इसकी न्यूनता है।)

महायज्ञका फल जगत्का कल्याण है, उसका समष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें निःस्वार्थताकी प्रधानता आ जाती है। (यही इसकी विशेषता है।)

जिस यज्ञानुष्ठानके प्रभावसे जीवकी क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदिका विनाश होता है और वह परमात्माके साथ एकताको प्राप्त होता है, उस अनुष्ठानका महत्त्व सर्वमान्य है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

पञ्चमहायज्ञ

पञ्चमहायज्ञका वर्णन प्रायः सभी ऋषि-मुनियोंने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थोंमें किया है। जिनमेंसे कुछ ऋषियोंके वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

तैत्तिरीयारण्यकमें—

'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते । देवयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो भूतयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ।'

आश्वलायनसूत्रमें—

अथातः पञ्च महायज्ञा देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति ।'

छन्दोगपरिशिष्टमें—

देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात् ।

महासत्राणि जानीयात् त एव हि महामखाः ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः ।

भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः ॥

मनुस्मृतिमें—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

जो मनुष्य पूर्वकथित पञ्चयज्ञके द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, पितृलोक और आत्मा—इन पाँचोंको अन्नादि नहीं देते, वे जीते हुए भी मरेके समान हैं अर्थात् उनका जीवन निष्फल है। भगवान् मनु महाराजकी आज्ञा है कि—

पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः ।

स गृहेऽपि वसन् नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥

'जो गृहस्थ शक्तिके अनुकूल इन पञ्चमहायज्ञोंका एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी प्रतिदिनके पञ्चसूनाजनित पापके भागी नहीं होते।'

पञ्चमहायज्ञके अनुष्ठानसे समस्त प्राणियोंकी तृप्ति होती है, इस प्रकारका संकेत भगवान् मनु महाराजने मनुस्मृतिके तृतीय अध्यायके ८०, ८१ और ७५ वें श्लोकमें दिया है।

पञ्चमहायज्ञ करनेसे अन्नादिकी शुद्धि और पापोंका क्षय होता है। पञ्चमहायज्ञ किये बिना भोजन करनेसे पाप लगता है। देखिये, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें क्या कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष पञ्चहत्याजनित समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, किंतु जो पापी केवल अपने लिये ही पाक बनाते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं।'

अतः पञ्चमहायज्ञ करके ही गृहस्थोंको भोजन करना चाहिये। पञ्चमहायज्ञके महत्त्व एवं इसके यथार्थ स्वरूपको जानकर द्विजमात्रका कर्तव्य है कि वे अवश्य पञ्चमहायज्ञ किया करें—ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सुतरां प्राप्ति होगी।

(१) ब्रह्मयज्ञ

वेदोंके पठन-पाठनको 'ब्रह्मयज्ञ'^१ कहते हैं। वेदमें

१-मनु भगवान्ने तो 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' ही लिखा है, परंतु—

गुरावध्ययनं कुर्वन्नुश्रूषादि समाचरेत् । स सर्वो ब्रह्मयज्ञः स्यात् तत् तपः परमुच्यते ॥

इस कुल्लूक भट्टकृत भाष्यके अनुसार अध्ययनको भी 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं।

कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें ज्ञानकी ही प्रधानता और परमावश्यकता बतलायी गयी है। ज्ञानके ही कारण जीवान्तरकी अपेक्षासे मनुष्य-देह उत्तम माना गया है। शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहना ही मनुष्यकी मनुष्यता है और वही मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्वका अधिकारी समझा जाता है। इसके बाद कर्मकाण्डद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेपर मनुष्य उपासनाकाण्डका अधिकारी बनता है, तदनन्तर भगवत्कृपाकटाक्षके लेशसे ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्योंका सामान्य उन्नतिक्रम है। क्रमिक उन्नतिमें ज्ञानका प्राधान्य है। अतः सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही आवश्यकता है। इसलिये प्रथमावस्था में भी ज्ञानके बिना असदाचरणका परित्याग तथा धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

‘बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।’

इस उपदेशके अनुसार बलवान् इन्द्रियसमूह उसमें प्रतिबन्धक अवश्य है, तथापि इन्द्रियाँ प्रथमावस्था में मनुष्यको अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं न कि धर्मानुष्ठानादिमें। इसी समय माता-पिता तथा गुरुजन भी धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त तथा अधर्मानुष्ठानसे निवृत्त करते हैं। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही प्रधानता सिद्ध होती है। अतएव ज्ञानयज्ञरूप स्वाध्याय (वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन) करना चाहिये।

ब्रह्मयज्ञ करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। ब्रह्मयज्ञ करनेवाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षिगणका अनुष्ठी और कृतज्ञ हो जाता है।

(२) देवयज्ञ

अपने इष्टदेवकी उपासनाके लिये परब्रह्म परमात्माके निमित्त अग्निमें किये हुए हवनको ‘देवयज्ञ’ कहते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यजुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

भगवान्के इस वचनसे सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा ही समस्त यज्ञोंके आश्रयभूत हैं। इसलिये ब्रह्मयज्ञमें ऋषिगण, पितृयज्ञमें अर्यमादि नित्य पितृगण और परलोकगामी

नैमित्तिक पितृगण, भूतयज्ञमें देवरूप अनेक प्राणियोंको जानकर ‘यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्’ इस गीतोक्त भगवद्वचनके अनुसार ईश्वर-विभूतिधारी देवताओंकी जो-जो पूजा की जाती है, वह सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी अर्चना (पूजा) के अभ्यासके लिये ही की जाती है।

नित्य और नैमित्तिक भेदसे देवता दो भागोंमें विभक्त हैं। उनमें रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादि नित्य देवता कहे जाते हैं।

ग्रामदेवता, वनदेवता और गृहदेवता आदि अनित्य कहे जाते हैं।

दोनों तरहके ही देवता इस यज्ञसे तृप्त होते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जडभावको प्राप्त होते हुए भी विनश्वर कर्मसे फल उत्पन्न हो रहा है, जिनकी कृपासे समस्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है, जिनकी कृपासे संसारके समस्त क्रियाकलापकी भलीभाँति उत्पत्ति और रक्षा होती है, उन देवताओंसे उक्तृण होनेके लिये ‘देवयज्ञ’ करना परमावश्यक है।

(३) भूतयज्ञ

कृमि, कीट, पतंग, पशु और पक्षी आदिकी सेवाको ‘भूतयज्ञ’ कहते हैं।

ईश्वरचित सृष्टिके किसी भी अङ्गकी उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टिके केवल एक ही अङ्गकी सहायतासे समस्त अङ्गोंकी सहायता समझी जाती है, अतः ‘भूतयज्ञ’ भी परम धर्म है।

प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन क्लेश देता है, क्योंकि ऐसा हुए बिना क्षणमात्र भी शरीरयात्रा नहीं चल सकती।

प्रत्येक मनुष्यके निःश्वास-प्रश्वास, भोजन-प्राशन, विहार-सञ्चार आदिमें अगणित जीवोंकी हिंसा होती है। निरामिष भोजन करनेवाले लोगोंके भोजनके समय भी अगणित जीवोंका प्राणवियोग होता है, आमिषभोजियोंकी तो कथा ही क्या है? अतः भूतों (जीवों) से उक्तृण होनेके लिये ‘भूतयज्ञ’ करना आवश्यक है।

भूतयज्ञसे कृमि, कीट, पशु, पक्षी आदिकी तृप्ति होती है।

१-देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतबलिं हरेत् । अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ (या० स्मृ०)

‘देवयज्ञसे बचे हुए अन्नको जीवोंके लिये भूमिपर डाल देना चाहिये और वह अन्न पशु, पक्षी आदिको देना चाहिये।’

(४) पितृयज्ञ

अर्यमादि नित्यपितरोंकी तथा परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंकी पिण्डप्रदानादिसे किये जानेवाले सेवारूप यज्ञको 'पितृयज्ञ' कहते हैं।

सन्मार्गप्रवर्तक माता-पिताकी कृपासे असन्मार्गसे निवृत्त होकर मनुष्य ज्ञानकी प्राप्ति करता है। फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थोंको प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। ऐसे दयालु पितरोंकी तृप्तिके लिये, उनके सम्मानके लिये, अपनी कृतज्ञताके प्रदर्शन तथा उनसे उद्भूत होनेके लिये 'पितृयज्ञ' करना नितान्त आवश्यक है। पितृयज्ञसे समस्त लोकोंकी तृप्ति और पितरोंकी तुष्टिकी अभिवृद्धि होती है।

(५) मनुष्ययज्ञ

क्षुधासे अत्यन्त पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवाको 'मनुष्ययज्ञ' कहते हैं। अतिथिके घर आ जानेपर वह चाहे किसी जाति या

किसी भी सम्प्रदायका हो, उसे पूज्य समझकर उसकी पाद्य और अर्घ्यादिसे समुचित पूजा कर उसे अन्नादि देना चाहिये। इस विषयकी पुष्टि भगवान् मनु महाराजने भी अपनी स्मृतिके तीसरे अध्यायमें विशदरूपसे की है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथिवीके सभी समाजवालोंको अतिथिसेवारूप धर्मका परिपालन अवश्य करना चाहिये।

प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने शरीरमात्रके सुखसे अपनेको सुखी समझता है, फिर अपने पुत्र, कलत्र, मित्रादिको सुखी देखकर सुखी होता है। तदनन्तर स्वदेशवासियोंको सुखी देखकर सुखी होता है। इसके बाद पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेपर वह समस्त लोकसमूहको सुखी देखकर सुखी होता है। परंतु वर्तमान समयमें एक मनुष्य समस्त प्राणियोंकी सेवा नहीं कर सकता, इसलिये यथाशक्ति मनुष्यमात्रकी सेवा करना ही 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है। मनुष्ययज्ञसे धन, आयु, यश और स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है।

प्रभु-प्राप्तिके साधन

शास्त्रोंमें भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधन बताये गये हैं और वे सभी साधन अनुभवद्वारा सिद्ध किये हुए हैं। मनुष्य यदि अपनी रुचिके अनुसार उनमेंसे एक भी साधनका आश्रय श्रद्धा-विश्वासपूर्वक पकड़ ले, तो उसका कल्याण हो जाता है। अतएव सभी कल्याणच्छु नर-नारियोंको साधनमें तत्पर रहना चाहिये। साधनहीन मनुष्य पशुके समान है। ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे जीवनका उत्तरोत्तर विकास हो।

भगवान् तो भावके ही भूखे हैं, वे भावनाको ही पसंद करते हैं। जीव संसारमें आकर दुर्भावनाओंसे घिर जाता है। जब जीवके हृदयमें सद्भावनाएँ उठने लगती हैं, तब उसके कल्याणका कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

नाम, रूप, लीला, धाम—ये चारों भगवान्के साक्षात् विग्रह हैं। इनमेंसे किसी एकका भी दृढ़तापूर्वक आश्रय पकड़ लेनेसे जीवका कल्याण हो सकता है। वे मनुष्य तो बड़भागी हैं, जो इन चारों विग्रहोंका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। वाणीद्वारा भगवन्नामका कीर्तन करना, मनद्वारा प्रभुके सुन्दर स्वरूपोंका ध्यान करना, चित्तद्वारा भगवान्की मनोहर लीलाओंका चिन्तन करना और शरीरसे श्रद्धासहित भगवद्धाममें निवास करना—यही चारों कलिकालके जीवोंके लिये सर्वथा उपयुक्त और अनुकूल साधन हैं।

सन्निष्ठाके साथ संकीर्तन, सेवा, सत्संग और समाश्रयका आश्रय पकड़नेमें ही जीवका सुनिश्चित कल्याण है—इसमें संदेहकी कोई बात नहीं है।

नाम, रूप, लीला, धाम तथा संकीर्तन, सेवा, सत्संग, समाश्रयका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है—'नामका संकीर्तन करो, रूपका सेवन करो, लीलाका सत्संग करो और धामका सम्यक् प्रकारसे आश्रय पकड़ो।' श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपने शिष्योंको यही साधन बताया था।

यह कलिकाल है, इसमें घोर अशान्ति और बर्बरताका साम्राज्य है, फलतः प्रायः समस्त जीवोंके अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारमें अराजकता मची हुई है। ऐसे भयानक युगमें उपर्युक्त साधनोंमें संनिविष्ट होनेसे ही कल्याण हो सकता है।

साधकोंके प्रति—

कर्मयोगसे कल्याण

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

परमात्माके साथ जीवका नित्ययोग अर्थात् नित्य-सम्बन्ध है। इस नित्ययोगको ही गीताने 'योग' नामसे कहा है। इस योगका कभी वियोग नहीं होता। परंतु जब जीव जड़ प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध मान लेता है, तब वह इस नित्ययोगसे विमुख हो जाता है, इसको भूल जाता है। जड़के साथ माने हुए इस सम्बन्धको ही 'अहम्' (ग्रन्थिरूप अहंकार) कहते हैं। यद्यपि जीवका प्रकृति और उसके कार्यसे नित्यवियोग है, तथापि उसके साथ अपना संयोग मान लेनेके कारण उसको नित्ययोगमें वियोग और नित्यवियोगमें संयोग देखने लगता है अर्थात् उसको नित्यप्राप्त परमात्मा अप्राप्त देखने लगते हैं और नित्य-निवृत्त शरीर-संसार प्राप्त देखने लगते हैं। इस भूलको मिटानेके लिये भगवान्ने तीन मुख्य योग-साधनोंका वर्णन किया है—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग*।

जबतक अहम् रहता है, तबतक साधकोंमें तथा उनके साधनोंमें भेद रहता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन भेद भी अहम्के कारण ही हैं। अहम् मिटनेपर अर्थात् साधन सिद्ध होनेपर कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका भेद भी सर्वथा मिट जाता है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीन साधनोंमें ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रचार तो अधिक है, पर कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। भगवान्ने भी गीतामें कहा है कि 'बहुत समय बीत जानेके कारण यह कर्मयोग इस मनुष्यलोकमें लुप्त-प्राय हो गया है'—'स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप' (४।२)। इसलिये कर्मयोगके सम्बन्धमें यह धारणा बनी हुई है कि यह परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगका पालन करनेवाला साधक या तो

ज्ञानयोगमें चला जाता है अथवा भक्तियोगमें चला जाता है; जैसे—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।१)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय (ज्ञानयोगका अधिकारी न बन जाय) अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवणादिमें श्रद्धा न हो जाय (भक्तियोगका अधिकारी न बन जाय)।'।

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः

कृत्वा समासादितशुद्धमानसः ।

समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः

समाश्रयेत् सदगुरुमात्मलब्धये ॥

(अध्यात्म० उत्तर० ५।७)

'सबसे पहले अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रोंमें वर्णित क्रियाओंका यथावत् पालन करके चित्त शुद्ध हो जानेपर उन क्रियाओंका त्याग कर दे। फिर शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सदगुरुकी शरणमें जाय।'।

परंतु इसके साथ ही यह बात भी आती है कि कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन भी है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ †

(५।४-५)

*योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ (श्रीमद्भा० ११।२०।६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योगमार्ग बताये हैं — ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'।

† यहाँ चौथे श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके उत्तरार्धसे है और चौथे श्लोकके उत्तरार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके पूर्वार्धसे है।

‘बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन। कारण कि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है। सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।’

गीतामें अनेक स्थानोंपर कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्वज्ञान, परमशान्ति, मुक्ति अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी बात आयी है; जैसे—

तत्त्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(४।३८)

‘वह कर्मयोगी उस तत्त्वज्ञानको अवश्य ही स्वयं अपने-आपमें पा लेता है।’

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

(५।६)

‘मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।’

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

(४।२३)

‘केवल यज्ञके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं।’

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(४।१९)

‘जिस (कर्मयोगी महापुरुष) के सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।’

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

(५।१२)

‘कर्मयोगी कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी शान्तिको प्राप्त होता है।’

श्रीमद्भागवतमें भी कर्मयोगको परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया गया है—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।

न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यत्र समाचरेत् ॥

(११।२०।१०) अनुभव कैसे होता है, इसको बताते हैं—

‘जो स्वधर्ममें स्थित रहकर तथा भोगोंकी कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्का पूजन करता है तथा सकामभावपूर्वक कोई कर्म नहीं करता, उसको स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता अर्थात् वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।’

अस्मिल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।

ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥

(११।२०।११)

‘स्वधर्ममें स्थित वह कर्मयोगी इस लोकमें सब कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते हुए भी पाप-पुण्यसे मुक्त होकर बिना परिश्रमके तत्त्वज्ञानको अथवा परमप्रेम (पराभक्ति) को प्राप्त कर लेता है।’

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति) की प्राप्ति भी हो सकती है।

कर्मयोगी मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देता है। इस प्रकार मिली हुई वस्तुओं (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्) का प्रवाह संसारकी तरफ हो जानेसे उसका जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर चेतन-तत्त्व शेष रह जाता है अर्थात् कर्मयोगी अपने-आपसे अपने-आपमें (चेतन-स्वरूपमें) स्थितिका अनुभव कर लेता है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थं मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

(गीता २।५५)

‘हे पार्थ ! जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी तरह त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।’

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषको अपने-आपमें स्थितिका

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

(गीता ३।१७-१८)

‘जो मनुष्य अपने-आपमें ही रमण करनेवाला और अपने-आपमें ही तृप्त तथा अपने-आपमें ही संतुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए) महापुरुषका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ) इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।’

अपने-आपमें स्थितिका अनुभव होनेपर उसका प्रकृति (गुणविभाग और कर्मविभाग) से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। जबतक मनुष्य प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मानता है, तबतक वह प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको अपने द्वारा की जानेवाली मानता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

‘सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं; परंतु अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य ‘मैं कर्ता हूँ’—ऐसा मानता है।’

परंतु जो गुणविभाग और कर्मविभागको तत्त्वसे जानने-वाला है अर्थात् जिसने प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, वह कर्मयोगी महापुरुष न तो गुणोंमें आसक्त होता है और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

(गीता ३।२८)

‘हे महाबाहो ! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष ‘सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं’—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।’

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

(गीता ६।४)

‘जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ कहा जाता है।’

प्रेमका पन्थ निराला है !

(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

जरा-सा भी पत्ता खटकता है कि शबरी चौंक पड़ती है कहीं उसके राम तो नहीं आ रहे हैं ! थोड़ी-सी भी आवाज हुई कि वह सोचने लगी शायद उसके प्रियतम भगवान् राम आ रहे हैं ! बार-बार कुटियासे बाहर जा-जाकर वह मार्ग देख आती है। उनके मार्गपर उसके पलक-पाँवड़े बिछे हुए हैं। उसे अपने गुरुदेव मातङ्ग ऋषिके इस वाक्यपर पूर्ण विश्वास है कि श्रीराम एक दिन अवश्य ही उसकी कुटियापर अपनी चरण-रज बिखेरने आयेंगे। इसी विश्वासके बलपर तो वह इतने कालसे चुपचाप उनके आगमनकी पावन प्रतीक्षामें अपना समय बिता रही है।

ऐसा भी नहीं है कि वह प्रियतमके आतिथ्यकी ओरसे उदासीन हो। इसका तो उसे बहुत पहलेसे ही ध्यान है। वह प्रतिदिन जंगलसे कन्द-मूल-फल बीन लाती है। उनमेंसे वह

प्रत्येकको चखकर देखती है। जो उसे मधुर और स्वादिष्ट प्रतीत होता है उसे अपने प्यारे रामके लिये रख छोड़ती है और जो खट्टा—खराब होता है उसे स्वयं खा डालती है।

अचानक एक दिन उसे समाचार मिलता है कि उसके आराध्यदेव आ रहे हैं ! प्रियतम ज्ञानशिरोमणि ऋषियोंसे पूछते हैं—‘महाराज ! इधर कहीं शबरी भीलनीकी झोंपड़ी है ?’ आश्चर्यसे चकित ऋषिगण उन्हें अछूत भीलनीकी कुटियाका मार्ग दिखाते आ रहे हैं ! उनकी समझमें ही नहीं आ रहा है कि आखिर इसका कारण क्या है ? उनकी कुटियोंमें न पधारकर भगवान् उस अछूत भीलनीकी कुटियाकी ओर क्यों जा रहे हैं ? पर—समझमें आनेलायक बात भी तो हो ! वे बेचारे क्या जानें कि प्रेमके आगे ज्ञान पानी भरता है। भक्तिके आगे विद्वत्ता हाथ बाँधे खड़ी रह जाती है। सच्ची लगनके

सम्मुख सारा पाण्डित्य सीकेपर टंगा रह जाता है ! जहाँ सर्वात्मसमर्पण होता है, अनन्य शरणागति होती है, प्रियतमके चरणोंपर सब कुछ दे डाला जाता है, वहाँ ज्ञान, कर्म, उपासना, व्रत, नियम, उपवास—सभी एक किनारे खड़े रह जाते हैं। वहाँ तो वह मतवाला प्रेमी प्रेमास्पदपर एकछत्र साम्राज्य जमा बैठता है। सब कुछ देकर सब कुछ खरीद लेता है। प्रेमकी झीनी-सी जंजीरमें प्रेमस्वरूप सच्चिदानन्दको ही बाँध लेता है। अहा, कितना अनोखा है यह प्रेम-बाजारका अलबेला सौदा !

शबरीकी ओर प्रभुका यह प्रेम देखकर ऋषिगण अपनी निस्सार साधनाको धिक्कारने लगते हैं। प्रभु-प्रेमकी दीवानी शबरीकी आजतक उन्होंने न जाने कितनी अधिक उपेक्षा और अवहेलना की है, शूद्रा और अन्त्यज कहकर उससे अपार घृणा की है, उसकी छायातकको अपने पास नहीं फटकने दिया है और आज—आज वही शबरी उन सबसे बाजी मार ले गयी है। भगवान् आज उसीकी कुटियामें अपनी चरण-रज बिखेरने जा रहे हैं। धन्य है, धन्य है—इस अशिक्षित मूर्ख भीलनीका प्रेम—जिसके वशीभूत हो आज वे परम दयालु श्रीभगवान् उसकी ओर बरबस खिंचे चले जा रहे हैं ! आज उनका सारा गर्व, सारा अहंकार—चूर-चूर होकर शूद्रा भीलनी शबरीके चरणोंपर बिखर जानेको व्याकुल हो रहा है।

इधर शबरीका और ही विचित्र हाल है। प्रियतमके आगमनके समाचारने उसकी अजीब ही अवस्था बना दी है। वे आ रहे हैं—भला, इससे भी बढ़कर किसी प्रेमीको और कोई मङ्गल-संवाद हो सकता है ? जिनकी प्रतीक्षा करते-करते उसकी आँखें पथरा गयीं, दिन-रात, मास-वर्ष—सभी एक-एक कर व्यतीत होते गये—पर वे आजतक नहीं आये, वे ही—परम प्रेमास्पद आज आ रहे हैं—यह आनन्द भला, कोई हृदयमें समानेलायक बात है ? इस प्रेमानन्दको रखनेके लिये उसे कोई ठौर ही ढूँढ़े नहीं मिलता ! कितना सुहावना है आजका दिन—जब उसकी वर्षोंकी नहीं-नहीं, जन्म-जन्मान्तरोंकी साधना सफल होने जा रही है !

आजहीके दिनके लिये तो वह इतनी लम्बी प्रतीक्षा करती आ रही है। अहा, कितनी कठिन है यह अनवरत साधना ! दिन-पर-दिन बीतते चले जाते हैं, मासों-पर-मास निकलते

चले जाते हैं, सालों-पर-सालें गुजरती चली जाती हैं—पर, यहाँ हताश होनेका काम नहीं। सतत जागरूक रहना पड़ता है। पल-पलपर प्यारेकी यादमें मशगूल रहना पड़ता है। हर घड़ी उनके मार्गपर आँखें बिछाये चुपचाप बैठा रहना पड़ता है। क्या पता, प्रियतम कब आ जायँ ? वे तो सुबह और शाम, दोपहर और आधी रात, वर्षा और तूफान, आँधी और पानी, गर्मी और सर्दी—कुछ देखते नहीं, जब जी चाहता है तभी प्रेमीके द्वारपर आ उपस्थित होते हैं—तब यदि प्रेमी उनके स्वागतके लिये प्रस्तुत न रहे, वे आकर द्वारसे वापिस लौट जायँ तो इससे बढ़कर प्रेमीके लिये और दुःखकी बात हो ही क्या सकती है ?

शायद तुम कहो कि यह प्रतीक्षा तो बड़ी बुरी चीज है तो भैया, साधना और सो भी प्रेम-साधना—कोई सरल बात नहीं है ! सभीका मन उसमें नहीं लग सकता। तभी तो सभी लोग प्रभुके प्यारे नहीं बन पाते ! सच्चे प्रेमियोंको छोड़कर और सबको तो इस मार्गमें नीरसताका ही बोध होता है। सभी वेदान्तको, योग और उपासनाको शुष्क विषय कहा करते हैं, किसलिये ! इसी अनवरत साधनाहीके कारण तो ! यह प्रतीक्षा, यह इंतजारी ही तो लोगोंको खलती है और इसीसे अनेक इस मार्गपर आकर इसे छोड़ बैठते हैं, पर भैया, प्रेमीको इस प्रतीक्षामें ही आनन्द मिलता है, तभी तो वह हँस-हँसकर कहा करता है कि—

‘वस्त्रमें हिज्रका गम, हिज्रमें मिलनेकी खुशी,
कौन कहता है जुदाईसे विसाल अच्छा है।’

वे तो इसे प्रेम-मिलनसे भी उत्तम वस्तु समझते हैं। भला, कुछ ठिकाना है ऐसे मस्तोंकी अलबेली मस्तीका !

हाँ, तो शबरीके हर्षका आज पार नहीं है। वह कभी कुटियाके बाहर जाती है, कभी भीतर ! कभी हाथकी मालामें सुमन गूँथने बैठ जाती है कभी द्वारकी ओर ताकने लगती है। कभी झाड़ू उठाकर द्वारके आस-पासका सारा मार्ग बुहार आती है—कि कहीं कोई कंकड़ी उसके प्रियतमके पावन पदारविन्दोंमें चुभ न जाय। कभी चुपचाप बैठकर सोचने लगती है कि वे परम प्रेमास्पद जब आयेंगे तो मैं किस प्रकारसे उनका स्वागत करूँगी। किस भाँति उनकी अभ्यर्थना करूँगी। किन शब्दोंमें उनसे वार्तालाप करूँगी।—पर इन सब

व्यापारोंमेंसे किसीमें भी उसका मन नहीं लगता। चित्तकी बड़ी ही विचित्र अवस्था है। कुछ समझमें ही नहीं आता कि वह क्या करे ? नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंका प्रवाह अवरिल स्रोतकी भाँति बहता जा रहा है और वह उसीमें डूब-उतरा रही है। सारा होश-हवास गायब है। प्रियतम कितनी देरसे उसकी कुटियामें खड़े उसकी ओर देखते हुए मुस्कराते खड़े हैं और वह उनकी ओर हक्की-बक्की-सी देखती हुई चुपचाप खड़ी है। अहा, यही तो है वह अनुपम मञ्जुल मूर्ति जिसका वर्णन उसके गुरुदेवने उससे किया था ! इसी मूर्तिको तो वह इतने अधिक दिनोंसे हृदयमें धारण किये हुए थी। इसीके दर्शनोंकी प्रतीक्षामें तो वह अभीतक अपने प्राणोंको शरीरके घेरमें बंद किये हुए थी ! बंगभाषाके एक कविने ठीक ही तो कहा है कि—

साधनाये सिद्धि लाभ एके दिने नाँहि हय,
श्रेमर साफल्य आछे ए जगते सुनिश्चय,
सुदिन होलो आगत पूर्ण हके मनोरथ,
सद्यः जात तरु शाखा फुटे न कुसुम भार,
समये दिवेन विभु श्रम योग्य पुरस्कार,

परिश्रमका पुरस्कार तो मिलेगा ही, भले ही आज न मिले, दस दिन बाद मिले ! साधनामें यदि साधकको शीघ्र ही सफलता नहीं मिलती तो हताश न होना चाहिये। उसे छोड़ बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो सतत प्रयत्नमें लगे रहना पड़ता है। 'राम' के शब्दोंमें यहाँ तो—

हर रात नयी इक शादी है, हर रोज मुबारक बादी है।
रिमझिम रिमझिम आँसू बरसें—क्या अब्र बहारें देता है ॥
क्या खूब मजेकी बारिशमें, वह लुप्त वस्त्रका लेता है।
किशती मौजोंमें डूबे हैं, बदमस्त उसे कब खेता है ॥
यह गक्राबी है जी उठना, मत झिझको उफ! बरबादी है।
क्या रंगत है क्या राहत है, क्या शादी है आजादी है ॥ हर० ॥

‘भैया, यह तो भक्तिका मार्ग है, प्रेमका सौदा है। इसे ‘सिरकी बाजी’ कहा जाता है। फिर इसमें हताश होनेकी बात ही क्या है ? निरन्तर अपने कर्तव्य-पथपर आरूढ़ रहो, कर्ममें संलग्न बने रहो, साधनाकी अग्नि प्रज्वलित बनाये रखो। एक-न-एक दिन अवश्य ही तुम्हारी साधना सफल होगी और शबरीकी भाँति तुम्हारी कुटियापर भी वे श्रीहरि पद-रज बिखेरने आ जायेंगे ! ‘पगली, कुछ खिलाये-पिलायेगी या यों

ही, खड़ी-खड़ी मेरा मुख ताका करेगी ?’ प्रियतमके इन मधुर वाक्योंसे शबरीकी समाधि भग्न हुई। लज्जासे व्याकुल होकर वह अपने आराध्यदेवके चरणोंमें लिपट गयी और अपने नयनोंके पावन जलसे प्रियतमके चरण पखारनेमें संलग्न हो गयी ! आँसुओंकी रेल-पेल मच गयी। इनकी मधुर वर्षामें यह प्रेमी और प्रेमास्पदका, भक्त और भगवान्का, जीव और ईश्वरका, शबरी और रामका—मधुर सम्मिलन हुआ। साधनाके मधुर फलको पाकर शबरी प्रेमानन्दमें विभोर हो गयी।

वह एकटकसे प्रियतमकी झाँकी करनेमें संलग्न है। आँसुओंकी मौन भाषामें ही वह अपने प्रियतमकी अभ्यर्थना कर रही है। उसके पास और तो शब्द ही नहीं हैं। किन शब्दोंमें वह अपने प्यारे प्रियतमकी आराधना करे। अन्तमें—
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥

(३।३५।३)

मैं भला क्या जानूँ कि किन शब्दोंसे तुम्हारी पूजा की जाती है—कहकर वह पुनः गद्गद होकर अपने लाड़ले प्रेमीके चरणोंमें गिर पड़ी। पूजा और अर्चा, भजन और प्रार्थना, मन्त्र और श्लोक—उसके लिये अज्ञात लोककी वस्तुएँ हैं। वह इनमेंसे कुछ भी नहीं जानती। पर वे श्यामसुन्दर तो यह कुछ देखते नहीं। तभी तो ऐसे निर्मल हृदयवालोंसे उनकी पटरी बैठ जाती है। उनका तो यह वचन है कि—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

(५।४४।५)

इसीसे तो वे भक्तोंपर इतनी जल्दी रीझ जाते हैं, तभी तो तुलसी बाबाने कहा है कि—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।

काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच ॥

भैया, वे केवल संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी ही नहीं जानते, वे संसारकी सारी भाषाओंके ज्ञाता हैं। वेदकी ऋचाओं, कुरानकी आयतों, बाइबिलके समुल्लासोंके पाठहीसे वे केवल प्रसन्न होते हैं—ऐसा नहीं है। अरे, वे तो अपने प्रेमीकी टूटी-फूटी, व्याकरणसे सर्वथा अशुद्ध भाषासे भी प्रसन्न हो जाते हैं। सच्चे प्रेमका एक आँसू ही उन्हें रिझा देनेके लिये, भक्तिपरवश कर देनेके लिये बहुत है—पर कोई हो भी

तो वैसा आँसू ढुलकानेवाला ! भैया, प्रेमकी मूक वेदनाकी भाषा तो उन्हें सबसे अधिक प्रिय है। प्रेमियोंकी टूटी-फूटी प्रार्थनामें उन्हें यजुर्वेदपाठी पण्डितके पाठसे कम आनन्द नहीं आता। रुदनकी मूक भाषाको समझना, उसमें अवगाहन करना, उसकी गहराईका पता लगाना वे भली प्रकार जानते हैं। मन्त्रों और ऋचाओं, श्लोकों और स्तोत्रोंकी जितनी स्वच्छन्दतासे उनके घेरेमें पहुँचनेकी शक्ति है, उतनी ही शक्ति प्रेमसे गद्गद एक टूटी-फूटी पुकारमें भी है—इस बातको तुम भली प्रकार समझ रखो। भैया, वे तो वास्तवमें भाव देखा करते हैं। भावोंके वे सच्चे पुजारी हैं। जहाँ भी सच्चे भावसे उन्हें पुकारा गया, उनका स्मरण किया गया, वहींपर वे आ उपस्थित हुए—इसमें जरा-सा भी संदेह करनेकी गुंजायश नहीं। और संदेह करके कोई उनके मार्गका पथिक भी तो नहीं बन सकता। तर्क और प्रमाण, शंका और संदेहको लेकर उन्हें नहीं पाया जा सकता। उनके मार्गपर तो श्रद्धा, विश्वास और धैर्य लेकर ही अग्रसर हुआ जा सकता है। सच्चे भावसे उन्हें पुकारना पड़ता है, तभी और केवल तभी ही सफलताका सुनहला मुख दीख पड़ता है अन्यथा नहीं। वास्तवमें—

राम राम सब कोइ कहै, ठग ठाकुर औ चोर।

बिना भाव रीझै नहीं, नटवर नन्दकिशोर ॥

शबरी शूद्रा थी, मूर्खा थी, ज्ञानशून्या थी—पर इससे क्या ? उसके हृदयमें प्रेमका दरिया तो उमड़ रहा था। उसके हृदयमें आराध्यदेवके लिये सर्वोत्तम आसन तो बिछा हुआ था। प्रेम-मदिराका अलबेला प्याला तो उसने जी भरकर गलेके नीचे उतार लिया था। उसमें वह रात-दिन मस्त तो बनी घूमा करती थी—फिर वे प्रेमके हाथोंकी कठपुतली, मनमोहन प्रेमस्वरूप उसकी ओर आकृष्ट न होते यह कैसे सम्भव था ? प्रेमीकी ऐसी अनवरत साधना देखकर वे कबतक उससे दूर रह सकते थे ? शबरीके आँसू पोंछकर उन्होंने कहा—‘पगली, तू रोती क्यों है ? तू क्या यह नहीं जानती कि मैं तो—‘मानउँ एक भगति कर नाता !’ मैं तो और कुछ मानता नहीं, पापी-से-पापी, दीन-से-दीन, शूद्र-से-शूद्र व्यक्तिको भी—यदि वह सच्चे हृदयसे मुझसे प्रेम करता है तो

मैं उसे हृदयसे चिपटा लेनेको सदैव व्याकुल रहा करता हूँ। अपने प्रेमियोंको मैं तो प्राणोंसे भी अधिक प्रेम करता हूँ—फिर तू तो ठहरी मेरी सच्ची प्रेमिन। तुझमें तो वे सारे लक्षण मौजूद हैं जो एक प्रेमी भक्तमें होने चाहिये। तुझे यों व्याकुल होनेकी आवश्यकता नहीं। उठ, बहुत रो लिया। अब मेरे लिये कुछ खानेको तो ले आ। देख, मैं कबसे तुझसे खानेके लिये कुछ माँग रहा हूँ। तू तो रोनेके मारे मेरी भूखकी ओर ध्यान ही नहीं दे रही है। ला, ला, देर न कर। देखूँ, तूने मेरे लिये खिलानेका क्या प्रबन्ध किया है ?’

हर्षविह्वला पगली उठी और बड़े प्रेमसे अपनी डलिया उठा लायी। और फिर क्या था—

प्रेमिनका ऐसा प्रेम देख रघुनाथजी हाथ बढ़ाते हैं।

चक्खे हुए बेरोंको बेर बेर खुश होकर भोग लगाते हैं ॥

साथ ही कहते भी जाते हैं कि—

ला बेर बेर क्यों बेर करे, अमृतसे बढ़कर बेर हैं ये।

पक्के मीठे औ ताकतवर, अति सुन्दर मीठे बेर हैं ये ॥

क्यों न हो, प्रेम-सुधाकी अनुपम मिठास जो इनमें भरी हुई है ! लक्ष्मणको भी देते हुए वे कहने लगते हैं—

हे लक्ष्मण ! तुमने खाये नहीं, देखो तो कैसे मीठे हैं।

पातालसे लेकर स्वर्ग तलक जो हैं सो इससे फीके हैं ॥

और लो—

तुमने भी बहुत खिलाये हैं, पर—उनमें यह आनन्द नहीं।

सीताका भी परसा भोजन है इतना मुझे पसंद नहीं ॥

भला, इस प्रेमवत्सलताका भी कुछ ठिकाना है ? आज मर्यादापुरुषोत्तम प्रेमके आगे जाति, कुल, वर्ण, जूठा-सखरा— सब कुछ भुला बैठे हैं। उनका वह व्यवहार हमें पुकार-पुकारकर समझा रहा है कि ‘भैया, प्रभु तो प्रेमके वशमें हैं।’ तब भी यदि हम उनके पावन पदारविन्दोंके चञ्चरीक न बनें, उनकी प्रेम-मदिराके दीवाने न बनें तो हम-सा अभाग और कौन होगा ?

हे परम पावन प्रियतम ! हमें अपने इस निराले पथका पथिक न बनाओगे क्या ?

‘भगवान्का भजन अमृतसे भी बढ़कर है, यह बात कहनेसे समझमें नहीं आ सकती। जिनका भजनमें प्रेम होता है, वे इस बातका अनुभव करते हैं।’

अभाव है भावका

(श्रीवैजनाथजी पारीक, एम्.कॉम्.)

आज जिधर दृष्टि डालते हैं मानव अभावग्रस्त नजर आता है। किसीको धनका, किसीको बलका, किसीको विद्याका, किसीको पुत्र-सुखका, किसीको मकान-जायदादका, किसीको मानसिक शान्तिका, किसीको शारीरिक स्वस्थताका अभाव दुःखित या अशान्त कर रहा है। लेकिन हमारे धर्म-ग्रन्थोंने, ऋषि-मुनियोंने, संतोंने इन सब अभावोंको गौण माना है। इन अभावोंके अलावा एक अभावके बारेमें उन्होंने जो संकेत दिया है, वह है जीवका पूर्णसे विलगाव। यदि यह अभाव किसी प्रकारसे मिट जाय तो शेष सब अभाव गौण रह जाते हैं। यदि किसी प्रकारसे भी जीवका रुख सांसारिक मोह-आसक्तिसे हटकर परमात्माकी ओर हो जाय तो समस्त अभावोंका कोई अस्तित्व जीवनमें नहीं रह जायगा।

हृदयमें शुद्ध भाव तभी जाग्रत् होंगे जबकि मन निर्मल और शान्त हो जायगा। यह व्यवस्था किसी निर्मल मनवालेसे मन मिलानेपर आनी सम्भव होगी। अतः इसके लिये सही प्रकारसे परमात्माके सम्मुख होनेकी आवश्यकता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी यही अचूक उपाय बतलाते हुए भगवान्‌के श्रीमुखसे प्रतिज्ञापूर्वक भाव व्यक्त कराते हुए कहा है कि—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं ॥

x x x

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

अभावोंसे मुक्ति पाने-हेतु भावोंकी शुद्धिकी ओर आना होगा। भावोंकी शुद्धि किसी शुद्ध मनवालेसे मन जोड़नेपर सम्भव होगी। अतः जीवनमें सत्पुरुषोंका संसर्ग प्राप्त होने, साथ ही उनका सत्संग करनेसे निश्चित रूपसे अपने जीवनका लक्ष्य पूरा हो सकेगा और हम अचिन्त्य स्थितिमें आ जायेंगे।

अतः जिस भक्तके हृदयमें ये भाव आ जाते हैं, उसीको भाव-युक्त जीवन जीनेकी कला मिल जाती है। उसीका जीवन अभावमुक्त हो जाता है। भाव अथवा विश्वास एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। भक्त नरसीके भावोंहीके कारण भगवान्‌को उसका कार्य सिद्ध करने-हेतु आना पड़ा था।

भगवान् तो केवल भावहीके भूखे हैं। बिना भावके दुर्योधनके मेवा-मिष्ठानोंको छोड़कर भगवान्‌ने विदुरके घरपर

भावसहित साग-पात खाकर ही पूर्ण तृप्तिका अनुभव किया था। भावपूर्वक आन्तरिक भजनसे जुड़नेपर ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। भक्तिकी तृप्तिका आधार ही भावोंका जाग्रत् होना है। ऐसी भक्तिको ही सुखका मूल कहा गया है। अतः अपने जीवनमें किसी भक्तका सहारा ले लें, उन्हें अपने-आपको सौंप दें, तो भक्तिका निरूपण हमारे जीवनमें होना सम्भव है, अन्यथा जीवन तो जैसे-तैसे कट ही जायगा। भक्तिकी पूर्णता कर्मसाध्य न होकर कृपासाध्य है। इसीलिये गोस्वामीजीने लिखा है—

भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होई अनुकूला ॥

भावरहित भक्तिमें समय अवश्य व्यतीत होता रहेगा, परंतु उपलब्धिके नामपर हाथ कुछ नहीं लगेगा। भावसहित हृदयसे भगवान्‌को मन-ही-मन पुकारा जाय तो उसी क्षण प्रभु उपस्थित हो जायेंगे। भक्तिमती अहल्या, शबरी, द्रौपदी, मीरा आदिके जीवनमें भावकी प्रधानताके फलस्वरूप ही भगवान्‌को अबिलम्ब आना पड़ा था। भावपूर्वक किसी संतकी अनुकूलता प्राप्तकर उनके बताये मार्गपर चलते रहें तो ऐसे भक्तकी प्रत्येक इच्छा भगवान् स्वयं पूर्ण करते हैं और उसे अपना बना लेते हैं।

ऐसे ही भाववाले ज्ञानी और विद्वान् भक्त विद्यापतिजी हुए हैं, जो भाव-निमग्न होकर भगवान्‌की भक्तिमें लगे रहते थे। वे गृहस्थ थे, बाल-बच्चेदार थे, उनकी पत्नी रुग्ण रहा करती थी। उसने कई बार उनसे प्रार्थना की कि रुग्णावस्थाके कारण घर-गृहस्थीके इतने काम मुझसे नहीं हो पाते हैं और आप पूजामें निमग्न रहते हैं। कोई नौकर रख लें तो मुझे मदद मिल जायगी। वे सुनते रहते थे।

एक दिन पूजाके दौरान उन्हें पत्नीपर दया आ गयी। विचार किया कि कोई ऐसा लड़का मिल जाय जो मात्र कपड़ा लेता रहे, खाना खाता रहे और सेवा करता रहे तो कितना अच्छा हो। दयालु प्रभुने भक्तके हृदयकी सुन ली। पूजासे उठनेपर वे साग लेने बाजार गये। वापस आते समय उन्होंने देखा कि एक लड़का गौर-वर्णका, फटे कपड़े पहने, नंगे पाँव, नंगे सिर उनके आगे चल रहा है। लपककर पण्डितजीने लड़केसे पूछा—बेटा ! तुम कौन हो, तुम्हारा घर कहाँ है,

घरमें कौन-कौन हैं, क्या तुम नौकरी करोगे ?

लड़केने उत्तर दिया—क्या बताऊँ ! मैं अनाथ हूँ, कोई घर नहीं है, नौकरीकी तलाशमें हूँ। पण्डितजी बोले—क्या लोगे ? लड़का बोला—लूँगा क्या, बस कपड़ा दे दें, रोटी दे दें, काम करता रहूँगा। पण्डितजीने लड़केका नाम पूछा। लड़केने बतलाया—‘उदना’। पण्डितजी घर गये और अपनी पत्नीसे बोले—लो, तुम कई दिनोंसे नौकरके लिये कह रही थी। यह लड़का उदना है, तुम्हारे पास रहेगा। घरका जो कार्य बतलाओगी वह करेगा। उदनाने माताके चरण भावपूर्वक छुए। मा बड़ी प्रसन्न हो गयी। उदना घरके सारे काम-काज करने लगा। पण्डितजी तथा उनकी पत्नी अब बड़े प्रसन्न रहने लगे।

एक दिन पण्डितजीको पासके गाँवसे बुलावा आया। वे चलनेको तैयार हुए। उन्होंने उदनासे पूछा—तुम भी चलोगे ? उदना बोला—चलूँगा। दोनों चले जा रहे थे। पण्डितजीको रास्तेमें प्यास लगी। उदनासे पानी मँगवाया। उदना पानी लाया। पण्डितजीने पानी पिया। वह गङ्गाजल था। पण्डितजी घरपर गङ्गाजल ही पिया करते थे। पण्डितजी आश्चर्यचकित हो गये। पहिचाननेमें देर नहीं लगी। उदनासे भावपूर्वक बोले—बेटा ! गङ्गाजल कहाँसे लाये ? उदनाने कहा—मैं जल ले आया, मुझे क्या पता कि यह गङ्गाजल है। पण्डितजी बोले—मेरा मन कुछ और कह रहा है। उदना ! सच-सच बतलाओ,

तुम हो कौन ? सामने देखा—उदना नहीं, साक्षात् इष्टदेव भगवान् शंकर खड़े हैं। पण्डितजी द्रवित हो गये। फूट-फूटकर रो पड़े। करबद्ध प्रार्थना की—हे प्रभो ! आपने मेरे लिये क्या-क्या नहीं किया। घरके निम्न-से-निम्न सारे कार्य किये। मैं कितना अधम हूँ कि आपसे समस्त प्रकारकी सेवाएँ लेता रहा। हे प्रभो ! मेरी क्या गति होगी !

भगवान् शंकरने आशीर्वादकी मुद्रामें कहा—क्या तुम मेरे पुत्र नहीं हो ? क्या पिता पुत्रकी सेवा नहीं करता ? क्या पुत्रकी प्रत्येक इच्छा पिता पूरी नहीं करता ? फिर बोले—लेकिन तुम यह भेद किसीको मत बतलाना—यह कहकर भगवान् वहाँसे अन्तर्धान हो गये। पण्डितजी विरहमें रोने लगे। उस दिनसे उन्होंने भगवान्के त्रिरहमें गीत लिखने प्रारम्भ किये, जो आज भी विद्यापतिकी ‘भक्तिपदावली’ के रूपमें स्मरण किये जाते हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तकी पुकार सुनकर भगवान्को क्या-क्या नहीं करना पड़ता। भावसे भोग लगानेपर भगवान् खाते हैं। कर्माबाईने साधारण भोजन भगवान् कृष्णको भावसे ही खिलाया था। अतः भक्ति-मार्गमें चलनेवाले साधकोंके लिये भाव ही प्रधान है। उसे जाग्रत रखने-हेतु विनय करते रहें, प्रार्थना करते रहें। भावहीसे भगवान् भक्तको समस्त अभावोंसे मुक्त कर देते हैं।

भरोसौ नाम कौ भारी ।

प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौ, भए अधिकारी ॥
ग्राह जब गजराज घेर्यो, बल गयौ हारी ।
हारि कै जब टेरि दीन्हौ, पहुँचे गिरिधारी ॥
सुदामा-दारिद्र भंजे, कूबरी तारी ।
द्रौपदी कौ चीर बढ़यौ, दुसासन गारी ॥
बिभीषन कौ लंक दीनी, रावनहि मारी ।
दास ध्रुव कौ अटल पद दियौ, राम-दरबारी ॥
सत्य भक्तहि तारिबे कौ लीला बिस्तारी ।
बेर मेरि क्यों ढील कीन्हौ, सूर बलिहारी ॥
(सूर-विनय-पत्रिका)

मानसमें विवाह-प्रसंगकी दो चौपाइयोंका अर्थ

कुँअरु कुँअरि कल भाँवरि देहीं । नयन लाभ सब सादर लेहीं ॥

× × ×

मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा । देखत राम बिआहु अनूपा ॥

अर्थ—राजकुमार रामजी और राजकुमारी सीताजी सुन्दर भाँवरें दे रहे हैं । सब लोग आँखोंका फल ले रहे हैं । मानो काम और रति बहुत-से रूप धारण करके श्रीरामजीका अनुपम विवाह देख रहे हैं ।

भाव—कुँअरु कुँअरि—भाव यह है कि ग्रन्थिबन्धन हो गया है, जबतक ग्रन्थिविमोक न होगा दोनों साथ रहेंगे । भाँवर पड़ते समय वर-वधू साथ ही प्रदक्षिणा करते हैं । अतः कुँअरु-कुँअरि एक साथ कहा । यथा—

राजति राम-जानकी-जोरी ।

साम-सरोज जलद सुंदर वर, दुलहिनि तड़ित-बरन तनु गोरी ॥

ब्याह समय सोहति बितान तर, उपमा कहूँ न लहति मति मोरी ।

मनहु मदन मंजुल मंडप महँ, छबि-सिंगार-सोभा इके ठौरी ॥

मंगलमय दोउ, अंग मनोहर, ग्रथित चूनरी पीत पिछोरी ।

कनक कलस कहँ देत भाँवरी, निरखि रूप सारद भड़ भोरी ॥

(गीतावली, बा० १०५)

कल—युगल मङ्गलमय मूर्तियोंके भाँवर देनेमें बड़ी शोभा है, इससे 'कल' कहा । अथवा देहरी-दीपक-न्यायसे 'कल' शब्दका अन्वय कर्तके साथ भी होगा । भाँवर फिरनेकी सुन्दरता अतिमन्दगतिमें है, और प्रदक्षिणा करनेमें इसी प्रकारसे चलनेका विधान भी है ।

भाँवरि देहीं—विवाहके समयकी प्रदक्षिणाको भाँवरि कहते हैं । विवाहप्रसंगान्तर्गत भाँवरिका प्रसंग 'करि होमु बिधिवत गाँठि जोरी होन लागीं भाँवरीं'—से प्रारम्भ हुआ था । यहाँ उपसंहार कर रहे हैं । बीचमें, भाँवरीके समय लोगोंके जय-जयकार, बन्दियोंके विरद-घोष, वेदध्वनि, स्त्रियोंके मङ्गलगान, नगाड़ोंके शब्द और देवताओंकी पुष्पवर्षाका वर्णन किया । यथा—

जय धुनि बंदी बेद धुनि मंगल गान निसान ।

सुनि हरषहि बरषहि बिबुध सुरतरु सुमन सुजान ॥

इसके बाद देखनेवालोंका प्रसंग चला ।

नयन लाभ—आँख होनेका फल इतना ही है कि इस

मङ्गलमयी जोड़ीके दर्शन हों । यथा—

दूलह राम, सीय दुलही री !

घन-दामिनि बर बरन, हरन-मन सुंदरता नखसिखनि बही, री ॥

ब्याह-बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही, री ।

जीवन-जनम-लाहु, लोचन फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री ॥

सुखमा सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही, री ।

मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहु मही, री ॥

(गीतावली, बा० १०६)

सब—भाव यह कि जितने नर-नारी थे वे सभी ।

राजाओं और ऋषियोंके सिंहासन मण्डपके बाहर लगे हुए थे

'निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंघासन धरे ॥'

बैठकर ही ब्याह होता है, अतः सब लोग छबि देखनेसे वञ्चित थे । जब भाँवरी देनेके लिये खड़े हुए, तब सबको दर्शन होने लगे ।

सादर लेहीं—भाव यह कि आदरके साथ दर्शन करनेसे ही जन्म सफल होता है । यथा—

लेहु री लोचननिको लाहु ।

कुँवर सुंदर साँवरो, सखि सुमुखि ! सादर चाहू ॥

(गीतावली, बा० १०७)

मनहुँ मदन रति—उस समय जो समा बैधा था, उसकी पूर्ति देखनेवालोंका वर्णन किये बिना नहीं होती । उस परम मनोहर दृश्यके देखनेवाले भी सुन्दर थे । अतः पूरा समाज ही दर्शनीय था । नगरके नारी-नर रूपके निधान हैं अतएव उनकी उपमा रति-कामसे दी गयी । यथा—

नगर नारि नर रूप निधाना । सुघर सुधरम सुसील सुजाना ॥

तिन्हहि देखि सब सुर सुरनारी । भए नखत जनु बिधु उजिआरी ॥

धरि बहु रूपा—देखनेवाली और देखनेवाले बहुत हैं ।

रूपभेद सबमें होता ही है । पर हैं सब-के-सब सुन्दर । सब रति-कामसे ही उपमित होने योग्य हैं, यथा—

बिधुबदनीं सब सब मृगलोचनि । सब निज तन छबि रति महु मोचनि ॥

देखत—जिन भाग्यवानोंने इस विवाहको देखा, उनका भी वर्णन श्रीगोस्वामीजी गीतावलीमें करते हैं । यथा—

कुँवर कुँवरि सब मंगल मूरति, नृप दोउ धरम धुरंधर-धोरी ।

राजसमाज भूरिभागी, जिन लोचन लाहु लह्यो एक ठौरी ॥

राम बिआहु अनूपा—रामजीके विवाहकी उपमा ही नहीं। न कहीं ऐसे समधी, न कहीं ऐसे वर-दुलहिन। यथा—
देखे हैं अनेक ब्याह, सुने हैं पुरान बेद,

बूझे हैं सुजान साधु नर-नारि पारिखी।

ऐसे सम समधीं समाज ना बिराजमान,

रामु से न बर दुलही न सिध-सारिखी ॥

(कविता०, बा० १५)

और न ऐसा मण्डप ही—

रचना देखि बिचित्र अति मन बिरंचि कर भूल।

दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ॥

भए मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे ॥

अर्थ—दर्शनकी लालसा है, और संकोच भी कम नहीं है। इसलिये बार-बार प्रकट होती हैं और छिप जाती हैं। देखनेवाले सब मगन हो गये, जनकके समान अपनेको ही भूल गये।

भाव—दरस लालसा—सबको इस विवाहके देखनेकी लालसा है। यथा—

जौ बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू ॥

पुर नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं।

ब्याहिअहुँ चारिउ भाइ एहि पुर हम सुमंगल गावहीं ॥

सकुच न थोरी—स्त्रियोंको समधीका बड़ा संकोच होता है। गाँवमें किसीके यहाँ समधी आवे, तो गाँवभरकी स्त्रियाँ उसे समधी मानकर सामने होनेमें संकोच करती हैं। यहाँ आँगनमें समाजसहित समधी चक्रवर्तीजी बैठे हैं। अतः सामने होकर विवाह देखनेमें संकोच है। (यह भाव मुकुन्दासाहु रामायणीका है)

प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी—दर्शनकी लालसासे रहा नहीं जाता, अतः कोठेपरसे झुककर देखती हैं। नीचे समाजसहित समधीको देखकर फिर छिप जाती हैं। लालसा और संकोचवश ऐसा बार-बार हो रहा है। इसीलिये कहते हैं 'प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी।' यहाँ स्त्रियोंके स्वभावका कितना

सुन्दर चित्र खींचा गया है। बारात लौटकर जब अयोध्या आती है, तब कुल-वधुओंकी भी ऐसी ही अवस्था वर्णन की गयी है। वे बारात देखनेके लिये कोठेपर आ जाती हैं, फिर गुरुजनोंको देखकर छिप जाती हैं। यथा—

प्रगटहि दुरहि अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहि दामिनि ॥

भए मगन—अपनी सुध-बुध जाती रही। स्त्रियोंके लिये ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वे संकोच और लालसावश प्रकट होती और छिपती रहीं। एकाग्र न हो सकीं। पुरुष लोग एकाग्र होनेसे मगन हो गये।

सब देखनिहारे—देखनेवालोंका वर्णन करके अब देखनेवालोंका वर्णन करते हैं। ऐसे स्थलोंमें पुरुष-स्त्रीका भेद प्रकरणानुसार किया जाता है। लालसा और संकोचके कारण प्रकट होना और छिपना स्त्रियोंमें ही बनता है। अतः उपर्युक्त अर्धाली स्त्रियोंके लिये है। यथा—

करि मज्जनु पूजहि नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी ॥

रमा रमन पद बंदि बहोरी। बिनबहि अंजुलि अंचल जोरी ॥

यहाँ यद्यपि 'जोरी' क्रियाका कर्ता 'नर-नारी' शब्द है, पर अञ्चल जोड़ना नारीके पक्षमें और अंजुलि जोड़ना नर-पक्षमें प्रकरणबलसे माना जाता है।

जनक समान अपान बिसारे—महाराज जनक राज्य करते हुए भी समाधि-सुखका अनुभव करते थे। यथा—

भूमि-भोग करत अनुभवत जोग-सुख

मुनि-मन-अगम अलख गति जान को ?

(गीतावली, बा० ८८)

ये विवाह देखनेवाले भी विवाह देखते-देखते समाधिस्थ हो गये। इसीलिये 'जनक-समान' कहा। 'तुलसी सो आनंद मगन मन, क्यों रसना बरनै सुख सो री।' यहाँपर 'नयन लाधु सब सादर लेहीं' कहकर जो प्रसङ्ग आरम्भ किया था, उसका उपसंहार करते हैं। अब जहाँसे भाँवरीका प्रसङ्ग छोड़ा था वहींसे फिर उठावेंगे।

प्रमुदित मुनिन्ह भावैरी फेरीं। नेगसहित सब रीति निबेरीं ॥

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः। विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ॥

'कोई विपत्ति विपत्ति नहीं है और सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान् विष्णुका विस्मरण ही विपत्ति है और भगवान् नारायणकी स्मृति ही सम्पत्ति है।'

गीता-तत्त्व-चिन्तन

गीताका तात्पर्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीकृष्णगीतागीतायास्तात्पर्यं दृश्यते बुधैः ।

(८।१४); 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (८।२२),

विवेकभावयोर्मध्ये तावपि द्विविधौ स्मृतौ ॥

'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९।२२) 'अनन्येनैव योगेन'

गीताका तात्पर्य सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणमें है, जिसके लिये गीताने विवेक और भाव-परक साधनोंका वर्णन किया है। गीताने विवेक दो तरहका बताया है—

(१२।६) आदि पदोंमें अनन्यभावका वर्णन हुआ है।

(१) सत्-असत्का विवेक—जो सदा रहनेवाला है, अपरिवर्तनशील है, जिसका कभी नाश नहीं होता, वह शरीरी और परमात्मा 'सत्' है और जो सदा हमारे साथ नहीं रहता, परिवर्तनशील है, नाशवान् है, वह शरीर और संसार 'असत्' है (२।११—३०; १३।१९—२३, २९—३४; १४।५—२० आदि) ।

विवेक और भाव—इन दोनोंकी मुख्यता हरेक साधनमें होनी जरूरी है। कारण कि इन दोनोंके बिना मनुष्य संसारमें फँस जायगा, जन्म-मरणमें चला जायगा। तात्पर्य है कि 'विवेक' को महत्त्व न देनेसे मनुष्यमें जड़ता (मूढ़ता) आ जायगी और वह अकर्तव्यमें लग जायगा, तथा 'भाव' (निष्कामभाव और अनन्यभाव) न होनेसे मनुष्यकी संसारमें आसक्ति—कामना हो जायगी और वह भगवान्से विमुख हो जायगा।

(२) कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक—कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है; प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति क्या है; धर्म क्या है और अधर्म क्या है; अपना धर्म क्या है और दूसरोंका धर्म क्या है—यह कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान (विवेक) है (२।३१—५३; ३।८—१६, ३५; ४।१५; १८।४१—४८ आदि) ।

विवेकमें निष्कामभावका होना भी जरूरी है (५।२३, २६); क्योंकि अगर निष्कामभाव नहीं होगा तो मनुष्य कामनाओंमें फँस जायगा, जिससे संसारका त्याग नहीं होगा। ऐसे ही विवेकमें अनन्यभाव अर्थात् प्रेमभावका होना भी जरूरी है, चाहे वह प्रेमभाव स्वरूपमें हो (५।२४); चाहे कर्तव्य-कर्ममें हो (१८।४५) ।

ऐसे ही भाव भी दो तरहका बताया है—(१) 'निष्कामभाव (त्यागभाव)—इस भावमें कर्मोंकी और कर्मोंके फलकी आसक्ति, कामनाका त्याग होता है। गीतामें 'सङ्गं त्यक्त्वा' (२।४८); 'प्रजहाति यदा कामान्' (२।५५); 'विहाय कामान्यः सर्वान्' (२।७२); 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' (४।२०); 'सङ्गं त्यक्त्वा' (५।११); 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि' (१८।६); 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव' (१८।९); 'यस्तु कर्मफलत्यागी' (१८।११) आदि पदोंमें निष्कामभावका वर्णन हुआ है।

निष्कामभावमें भी विवेकका होना बहुत आवश्यक है (४।१९, ४१; ६।८ आदि); क्योंकि अगर विवेक नहीं होगा तो मनुष्य निष्काम कैसे होगा? ऐसे ही अनन्यभावमें भी विवेकका होना जरूरी है (५।२९; ९।१३; १०।७ आदि); क्योंकि विवेकके बिना अन्यका त्याग कैसे होगा?

(२) अनन्यभाव (प्रेमभाव)—संसार अन्य है। उस संसारके आश्रयका, महत्त्वका त्याग करना, उससे विमुख हो जाना अनन्यभाव है। गीतामें 'अनन्यचेताः सततम्' ३।८, १७-१८; ४।१५ आदि) । (गीतादर्पणसे)

इस प्रकार गीताने मनुष्योंके कल्याणके लिये विवेक और भावपरक साधनोंका वर्णन किया है। जहाँ क्रियापरक साधनोंका वर्णन किया है वहाँ भी क्रियापरक साधनोंपर इतना जोर नहीं दिया है, जितना जोर विवेक और भावपरक साधनोंपर दिया है। जहाँ क्रियापरक साधनोंपर जोर दिया है, वहाँ भी वास्तवमें निष्कामभावकी ही प्रधानता है (२।४७; ३।८, १७-१८; ४।१५ आदि) । (गीतादर्पणसे)

'चाहे सारी दुनियासे नाता टूट जाय और प्राण अभी चले जायँ, परंतु भगवान्के प्रेममें किंचित् भी कलङ्क नहीं लगने देना चाहिये।'।

भक्त-गाथा—

दानवीर राजा बलिकी जन्मान्तरीय शिवोपासना

पूर्वजन्ममें राजा बलि देवताओं और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला एक बड़ा पातकी द्यूतकर्मा था। वह प्रतिदिन कपटपूर्ण जुआ खेलता और उससे जो कुछ धन मिलता, उसे परस्त्रियोंको प्रसन्न करनेमें व्यय कर दिया करता था। एक दिन उसने जूमें बहुत-सा धन जीता। उससे उसने पुष्पमाला, बहुमूल्य इत्र और सुगन्धित चन्दन, ताम्बूल आदि सामग्री खरीदी और इन सबको हाथोंमें लिये दौड़ता हुआ वह वेश्याको भेंट देनेके लिये चला। जाते-जाते रास्तेमें ठोकर लग गयी और वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। गिरते ही उसे मूर्च्छा आ गयी और कुछ देरतक वह उसी दशामें पड़ा रहा। उसके चन्दन, इत्र और पुष्प आदि भूमिपर गिर गये। जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब पूर्वजन्मके किसी पुण्यके प्रभावसे उसके मनमें सदबुद्धि उत्पन्न हुई। मूर्ख और जुआरी होनेपर भी उसने वह सब सामग्री भगवान् शिवकी सेवामें समर्पित कर दी। जीवनमें यही एक पुण्य उसके द्वारा सम्पन्न हुआ था।

समय आनेपर जब उसकी मृत्यु हुई तो यमदूत उसे यमलोक ले गये। वहाँ यमराज कहने लगे कि 'रे दुष्ट ! तूने बड़े-बड़े पातक किये हैं। इसलिये तुझे नरककी कठिन यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी।' उसने हाथ जोड़कर कहा कि 'भगवन् ! यदि मेरा कोई पुण्य भी हो तो उसका भलीभाँति विचार कर लीजिये।'

यमराजके संकेतसे चित्रगुप्तने कहा कि 'तुमने पाप तो असंख्य किये हैं और उन सबका फल भोगना ही पड़ेगा, पर एक बार तुमने संयोगवश भगवान् शिवके उद्देश्यसे गन्ध-पुष्प आदि समर्पित किये हैं, उस सत्कर्मके फलसे तुम्हें तीन घड़ीके लिये इन्द्रपद प्राप्त होगा।'

उसी समय देवगुरु बृहस्पति देवताओंके साथ वहाँ पहुँचे और उस जुआरीको ऐरावतपर चढ़ाकर इन्द्रलोक ले गये। बृहस्पतिने इन्द्रसे कहा—'महाराज ! इस जुआरीने बिना

श्रद्धाके शिवजीको गन्ध-पुष्प आदि चढ़ाये थे, उसके पुण्यसे उसे तीन घड़ीके लिये इन्द्रपद मिला है। अतएव आपको उतने समयके लिये अपना पद छोड़ देना चाहिये।' देखिये, शिवजीकी बिना भक्तिकी आराधनासे भी एक महापातकी जुआरीको कितना भारी फल मिला, फिर जो लोग श्रद्धा और भक्तिके साथ शिवजीकी आराधना करते हैं, उनके विषयमें क्या कहना। उन्हें तो सायुज्यमुक्ति मिलती ही है। बड़े-बड़े देवता भी उनके किंकर (दास) हो जाते हैं। शान्त-चित्तसे शिवपूजन करनेवाले मनुष्योंको जो सुख प्राप्त होता है, वह ब्रह्मा, विष्णु आदि देवोंको भी नहीं मिल सकता। विषयलोलुप जीव उनकी आराधनाका माहात्म्य नहीं जानते^१।

बृहस्पतिके वचन सुनकर इन्द्र तो कहीं दूसरी जगह चले गये और उस कितवको इन्द्रासन मिला। उसी समय इन्द्राणी वहाँ उपस्थित हुई, किंतु भगवान् शिवकी पूजाके प्रभावसे उस कामीके हृदयमें सदबुद्धि उत्पन्न हुई और उसने उन्हें प्रणामकर कहा कि 'आप मेरी माता हैं, आप अपने महलोंमें जाइये।' तदनन्तर उसने अगस्त्यमुनिको ऐरावत हाथी, विश्वामित्रको उच्चैःश्रवा घोड़ा, महर्षि वसिष्ठको कामधेनु गौ, गालव ऋषिको चिन्तामणि नामक रत्न और मुनि कौण्डिन्यको कल्पवृक्ष दानमें दे दिया। शिवजीको प्रसन्न करनेके लिये उसने ऋषियोंको और भी बहुत-से दान दिये। इन सब दान-पुण्यों तथा सत्कर्मोंमें तीन घड़ीका समय समाप्त हो गया और वह फिर यमलोक पहुँच गया।

जब इन्द्र पुनः अमरावतीमें आये तो देवगुरु बृहस्पतिने उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाया और कहा—'राजन् ! बड़ी भारी सत्ता हस्तगत होनेपर जो स्वाधीन होते हैं और प्रमादमें न पड़कर सदा भगवान् शिवके ध्यानमें तत्पर रहते हैं वे ही भगवान् शंकरके प्रिय भक्त हैं। वे कर्मफलोंका परित्यागकर केवल ज्ञानका आश्रय लेकर परमपदको प्राप्त होते हैं। हे

१-किं पुनः श्रद्धया युक्ताः शिवाय परमात्मने। अर्पयन्ति सदा भक्त्या गन्धपुष्पादिकं महत्॥

शिवसायुज्यमायाताः शिवसेनासमन्विताः। प्राप्नुवन्ति महामोदं शक्रो ह्येष च किंकरः॥

शिवपूजारतानां च यत्सुखं शान्तचेतसाम्। ब्रह्मशक्रादिकानां च तत्सुखं दुर्लभं महत्॥

वराकास्ते न जानन्ति मूढा विषयलोलुपाः। वन्दनीयो महादवो ह्यर्चनीयः सदा शिवः॥

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड १८।६९—७२)

इन्द्र ! अब आपको अपनी समृद्धिके लिये सारी बातें यमराजसे कहनी चाहिये ।' तदनन्तर इन्द्र बृहस्पतिके साथ यमपुरीमें गये और इन्द्रने यमराजको सारी बातें बतलायीं और पापात्मा कितवके दान-कर्मकी निन्दा की । धर्मराजने कितवसे कहा कि 'अरे मूढ़ ! दानका पुण्य भूलोकमें ही होता है । स्वर्गमें दान नहीं करना चाहिये । इसलिये तू दण्डनीय है, तुझे नरककी दारुण यातना भोगनी पड़ेगी ।'

धर्मराजकी बातें सुनकर चित्रगुप्तने हँसकर कहा कि 'स्वामिन् ! इसने भगवान् शिवको उद्देश्यकर ऐसे उत्तम ऋषियोंको इतनी बहुमूल्य वस्तुएँ दी हैं, तब इसे नरककी यातना क्यों भोगनी पड़ेगी ? शिवके नामपर स्वर्गलोक, मर्त्यलोक कहीं भी कुछ दिया जाय उसका अक्षय फल मिलता है^१ । इस कितवके जितने पाप थे, वे सब शम्भुके प्रसादसे उनके स्मरणमात्रसे भस्म होकर सुकृतके रूपमें परिणत हो गये हैं ।' यह बात सुनकर धर्मराज अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उन्होंने उस कितवसे भी क्षमा माँगी ।

धर्मराजने इन्द्रसे कहा—'अब आप अपने अमूल्य ऐरावत आदि रत्न उन अगस्त्यादि मुनियोंसे प्रार्थना कर प्राप्त करें ।' इन्द्र भी शिवभक्तिका चमत्कार देखकर अमरावती लौट आये ।

उसी पुण्यके प्रभावसे उस कितवका दूसरा जन्म परमभागवत प्रह्लादके पुत्र महादानवीर विरोचनके घर सुरुचिके उदरसे हुआ । विरोचन इतने बड़े दानी थे कि वृद्ध ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रके माँगनेपर उन्होंने अपना सिरतक अपने हाथोंसे काटकर दे दिया था । विरोचनका यह दान तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है ।

उन्हीं महापुरुष विरोचनके घरमें इस कितवका जन्म हुआ और इसका नाम रखा गया बलि । महातेजस्वी बलिने अपने पराक्रमसे देवलोकका इन्द्रपद प्राप्त किया । पूर्व-जन्मार्जित

शिवपूजनके प्रभावसे इस जन्ममें भी दानकी ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति थी । दानमें वे अपना सर्वस्व देनेके लिये भी सर्वदा तैयार रहते थे ।

देवोंका दुःख देखकर भगवान् विष्णुने वामन नाम रूप धारणकर बलिसे भिक्षा माँगी और बलिने त्रैलोक्यका राज्य और स्वयंको भी दानमें दे डाला और सुतललोकका राज्य प्राप्त किया । उसके द्वारपर श्रीहरि सदा स्थित रहते हैं ।

भगवान् शंकरकी कृपासे राजा बलि ऐसे महत्त्वपूर्ण हुए हैं । पूर्वकालमें जुआरीके रूपमें उन्होंने शिवके उद्देश्यसे जो दान किया था, यह सब उसीका फल है । यह विचारनेकी बात है कि मिट्टीमें मिले हुए गन्ध, पुष्प आदिके चढ़ानेसे ही एक महापातकी और जुआरी जगत्प्रसिद्ध राजा बलि हो गया फिर जो लोग पूर्ण भक्ति और श्रद्धाके साथ गन्ध, पुष्प, फल आदिसे महेश्वरकी पूजा करते हैं, वे तो साक्षात् शिवके समीप पहुँच जाते हैं । शिवसे बढ़कर पूजनीय देवता संसारमें दूसरा है ही नहीं । लूले, लँगड़े, अंधे, बहिरे, चाण्डाल, श्वपच, अन्त्यज आदि कोई भी हो, यदि वह शिवकी भक्ति करे तो अवश्य परमगतिको प्राप्त हो सकता है । इसलिये परमार्थके जाननेवाले विद्वान् सदा महेश्वरका चिन्तन किया करते हैं । शिवकी आराधनाके बिना जितना काम किया जाता है वह सब अशुभ होता है । इसलिये सदाशिवकी सदा पूजा करनी चाहिये । मुमुक्षुजनोंको लिङ्गरूपी महादेवकी आराधना करनी चाहिये, क्योंकि उनसे बढ़कर भुक्ति और मुक्ति देनेवाले और कोई देवता नहीं है । स्कन्दपुराणमें लिखा है—

तस्मात् सदाशिवः पूज्यः सर्वैरेव मनीषिभिः ।

पूजनीयो हि सम्पूज्यो हर्चनीयः सदाशिवः ॥

लिङ्गरूपो महादेवो हर्चनीयो मुमुक्षुभिः ।

शिवात्परतरो नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदायकः ॥

(केदारखण्ड १९।६८,७२)

'एक श्रीसच्चिदानन्दधन परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है । जैसे समुद्र सब ओरसे जलसे व्याप्त है, इसी प्रकार यह संसार परमात्मासे व्याप्त है ।'

१-शिवमुद्दिश्य यदत्तं स्वर्गे मर्त्ये च यैरैः । तत्सर्वं त्वक्षयं विद्यान्निश्छिद्रं कर्म चोच्यते ॥

(केदारखण्ड १८।१०९)

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

[मानव-शरीर भगवत्कृपासे प्राप्त होता है। इस दुर्लभ शरीरको प्राप्तकर स्वधर्म (कर्तव्य) का पालन करना अपने कल्याणके लिये आवश्यक है। स्वस्थ और सुरक्षित शरीरसे ही धर्माचरण और कर्तव्य-पालन समुचित-रूपसे होना सम्भव है। आजके इस वैज्ञानिक युगमें नयी-नयी डॉक्टरी दवाइयोंका आविष्कार हो रहा है, जो शास्त्रीय दृष्टिसे पूर्ण शुद्ध भी नहीं होता। इसके साथ ही नये-नये भीषण रोग भी उत्पन्न होते जा रहे हैं, जो इन डॉक्टरी ओषधियोंसे एक बार दबाये तो जा सकते हैं, पर निर्मूल नहीं हो पाते तथा अन्य रोगोंकी उत्पत्तिके कारण भी बनते हैं। आहार-विहार और रहन-सहन नियमित, संयमित और स्वाभाविक हो तो रुग्णावस्थासे बचा जा सकता है तथा डॉक्टरी दवाइयोंके सेवनके बिना मनुष्य स्वस्थ भी रह सकता है। अतः साधकोंके लिये इस स्तम्भमें विभिन्न रोगोंके निवारणके निमित्त स्वाभाविक नियम और प्राकृतिक उपचारोंके निरूपण करनेका प्रयास किया जाता है।-सं०]

हृदय-रोग

(डॉ० श्रीशरणप्रसादजी)

आधुनिक सभ्यताने जिन अनेक कठिन एवं कष्टप्रद रोगोंको जन्म दिया है, उनमेंसे एक हृदय-रोग भी है। हृदय-रोगके बारेमें अनेक प्रकारके भ्रम और भय फैले हुए हैं। आधुनिक चिकित्सा-प्रणालीने भी इस भ्रम और भयको बढ़ानेमें काफी मदद पहुँचायी है।

हमलोग अनेक प्रकारकी छोटी-मोटी बीमारियोंको दीर्घ-कालतक शरीरमें पालते रहते हैं। ओषधियोंके द्वारा हम उनको व्यवस्थित-रूपसे काबूमें रखनेकी पूरी कोशिश करते हैं। बहुत-से लोग लापरवाही भी बरतते हैं। लेकिन अन्ततः जब हम उन्हीं रोगोंके नियन्त्रणमें आ जाते हैं, तब हृद्-रोग-जैसे कष्टप्रद रोगका जन्म होता है। हृदय-रोग एकाएक नहीं, अपितु बहुत दिनोंकी आहार-विहारकी लापरवाहीका परिणाम है।

हृदय-रोग कब होता है ?

हृद्-रोगका नाम सुनते ही व्यक्तिका मन भय, शङ्का एवं चिन्ता आदिसे घिर जाता है। न जाने कब प्राणान्त हो जाय ! हार्ट-फेलकी दुर्घटनाओंमें, बातचीत करते-करते, अखबार पढ़ते-पढ़ते या सोते-सोते ही रोगी मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इसी कारण हृद्-रोगीमें प्रायः आत्म-विश्वास, धैर्य आदिका सम्पूर्ण या आंशिक अभाव पाया जाता है।

चिकित्सक यह बात भलीभाँति जानता है कि रोगीके मनमें विश्वास उत्पन्न करना चिकित्साकी नींव है। इसके अभावमें रोगीका आरोग्य-लाभ करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। अनुभवसे यह देखा गया है कि

सशक्त मनवाले हृद्-रोगीका स्वास्थ्य-लाभ करना अपेक्षाकृत सरल होता है। दुर्बल मनवाले रोगियोंकी अवस्था दिन-प्रति-दिन गिरती जाती है। मन तथा हृद्-रोगका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आजकल यह रोग बड़ी तेजीसे बढ़ रहा है। विशेषकर शहरोंमें हृद्-रोग तथा रक्तचापकी अधिकता पायी जाती है। तटस्थ बुद्धिसे सोचनेपर यह सहज ही समझमें आ जायगा कि हमारे शरीरके प्रत्येक अवयवका निर्माण बहुत कुशलता एवं सूक्ष्मतापूर्वक हुआ है। उनमें सहसा दोष उत्पन्न हो ही नहीं सकता। और जब हृदयमें स्वाभाविककी अपेक्षा नौगुनी कार्यक्षमता अधिक है तो यह बात उसके लिये विशेष रूपसे लागू होती है।

परंतु जब हम दीर्घकालतक प्राकृतिक नियमोंको भंग करते रहते हैं, अच्छी आदतोंको छोड़कर चाहे जैसे दुर्व्यसनमें फँसते हैं, कार्यके अनुपातमें विश्रान्तिकी कमी तथा मानसिक तनावयुक्त जीवन-क्रम व्यतीत करते हैं, तब हृद्-रोग उत्पन्न होनेमें देर नहीं लगती। मानसिक आघात या संघर्ष भी हृद्-रोगका महत्वपूर्ण कारण बन सकता है।

कब्ज, अपचन, वायुप्रकोप आदि छोटी-मोटी बीमारियोंसे सावधान होकर जो व्यक्ति इनको दूर करनेकी कोशिश करता है, जो दवाइयोंके आधारके बिना स्वास्थ्य ठीक रख सकता है, निश्चय मानिये कि ऐसे व्यक्तिको छोटा, तीव्र (Acute) रोग होनेकी सम्भावना रहेगी, लेकिन हृद्-रोगकी बीमारी उसको

कदापि नहीं होगी। जब हम आरोग्यके लिये आहार-विहारमें परिवर्तन या सुधार करनेकी अपेक्षा दीर्घ कालतक ओषधिका आश्रय लेते हैं, तभी हृद्-रोग-जैसी कठिन बीमारियोंका सूत्रपात होता है।

हृदय-धड़कन-सम्बन्धी कुछ जानने योग्य बातें

१-हृदय-धड़कनकी गति आयुके अनुसार बदलती है। बच्चोंके हृदयकी गति युवकोंकी अपेक्षा तेज होती है।

२-शारीरिक श्रमसे हृदयकी गति बढ़ती है। कठोर परिश्रमके समय हृदयकी धड़कन २०० तक हो जाती है; क्योंकि उस समय रक्तमें कार्बनडाइ-आक्साइडकी वृद्धि हो जाती है।

३-शरीरमें रक्ताल्पता होनेपर धड़कन बढ़ती है, क्योंकि थोड़ेसे रक्तको ही शरीरमें बार-बार फेंकना पड़ता है। उस दशामें रक्तचाप घट जाता है।

४-ताप-वृद्धि यानि बुखार, घबराहट तथा भययुक्त-अवस्थामें हृदयकी गतिमें वृद्धि होती है।

हम यहाँ कुछ मुख्य रोगोंका उल्लेख करना चाहते हैं, जिनके पश्चात् हृद्-रोगका होना प्रायः निश्चित माना जाता है। उन रोगोंको हृद्-रोगके लिये खतरेकी घंटी मानकर सतर्क और सावधान हो जायँ। लेकिन शमनात्मक चिकित्साका आश्रय न लिया जाय, क्योंकि इससे शरीरके विषाक्त पदार्थ शरीरमें रोक दिये जाते हैं। फलतः हृदयको शीघ्र ही रोगाक्रान्त होनेमें सहायता पहुँचती है।

मोटापा—मेद-वृद्धि और हृद्-रोगका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मोटापेके कारण किशोर या युवावस्थाकी चढ़ती उम्रमें हृदयपर उसका अनिष्टकारी परिणाम नहीं होता, लेकिन ३५ से ४५ वर्षकी गिरती जवानीकी उम्रमें स्थूलताकी वजहसे हृद्-रोगके लक्षण प्रकट होते हैं।

खोज करनेपर यह पाया गया है कि स्थूलकाय हृद्-रोगियोंकी संख्या कृशकाय रोगियोंकी अपेक्षा लगभग आठ गुनी है। इसके अलावा मोटापेके साथ-साथ रक्तवाहिनियोंमें जठरता (Scleroma) तथा संकीर्णता उत्पन्न होती है, जो हृद्-रोग एवं रक्तचापका मुख्य कारण बन जाता है।

इसलिये मोटापेको हृद्-रोगकी पूर्वसूचना मानकर उसका इलाज गम्भीरतापूर्वक करना चाहिये। अर्थात् वजन घटानेके

लिये आहार-नियन्त्रण (Diet Control) तथा व्यायाम आदि साधनोंका आश्रय लेना चाहिये। मोटापा हृद्-रोगके अतिरिक्त मधुमेह, संधिवात, रक्तचाप-जैसे जटिल रोगोंका सहजमें ही निमित्त बन जाता है। आश्चर्य तो यह है कि अज्ञानी माता-पिता अपनी संतानकी मेद-वृद्धिको स्वास्थ्यका लक्षण मान बैठते हैं।

ज्ञान-तन्तुका तनाव (Nervous tension)—आधुनिक तनावयुक्त अति गतिशील जीवन भी हृद्-रोग तथा रक्तचापका प्रमुख कारण है। मानसिक श्रमके साथ शरीर-श्रम या व्यायामका पूर्ण अभाव रहता है। इससे बुद्धिके अनुपातमें शरीरका आवश्यक विकास नहीं होता और वह विभिन्न रोगोंका क्रीडा-स्थल बन जाता है।

मानसिक श्रमकी थकानको दूर करनेके लिये घूमना-फिरना, खेलना या स्वस्थ मनोरञ्जनकी ओर हमारा झुकाव नहीं होता, बल्कि रात देरतक जगनेसे, व्यसनमें फँसनेसे या क्लबों और पार्टियों, सिनेमा, नाच, गान आदि कार्यक्रमोंमें जाकर हम थकानमें और भी वृद्धि करते हैं।

कामके घंटोंसे शरीरको तो छुट्टी मिल जाती है, लेकिन उस समय भी दिमागमें दफ्तरकी फाइलें घूमती रहती हैं। रातको सपनोंमें भी कभी-कभी काम-काज चालू कर देते हैं। बाहरी कामके समय आफिसकी चिन्ता तथा आफिसके घंटोंमें बाहरकी चिन्ता, ऐसी अजीब-सी चिन्तासे भरे हुए दिमागको कभी विश्रान्ति नहीं मिलती। विश्रान्तिके समय भी हमारा दिमाग शान्त तथा स्वस्थ नहीं होता, वह सदैव परेशान ही रहता है। सतत मानसिक तनावसे अनिद्रा-रोग लग जाता है, जो रक्तचाप एवं हृदय-रोगोंका कारण बन सकता है।

इस दिमागी परेशानी, तनाव तथा मानसिक दुर्बलतासे हृद्-रोग, रक्तचाप, मेदवृद्धि तथा पाचन और ज्ञान-तन्तु-सम्बन्धी रोगोंकी वृद्धि तेजीसे हो रही है।

विश्रान्तिके समय हमारे दिमागमें काम-काजकी चिन्ता बिलकुल न रहे। खेल-कूदमें भाग लेनेसे ज्ञान-तन्तुओंका तनाव आश्चर्यजनक ढंगसे कम होता है। उस समय सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गमें रक्तका संचार होता है, जिससे दिमाग हलका एवं प्रफुल्लित हो जाता है।

प्रातःकाल एवं सायंकाल प्रार्थना करना, रात्रिको सोनेके पूर्व दैनिक चर्याका लेखा-जोखा करके आत्मनिरीक्षण करना

और जो दोष उस समय स्पष्ट महसूस हों, उनको भविष्यमें न करनेका संकल्प करना। इससे भी मानसिक तनाव तथा दुर्बलता दूर होती है। श्वासनसे भी इस कार्यमें अच्छी सहायता मिलती है।

रक्तचाप—रक्तचाप हृद्-रोगकी पूर्वावस्था है। रक्तचाप-वृद्धिके फलस्वरूप लकवा या हृद्-रोग होना प्रायः अवश्यम्भावी है। मोटापा तथा ज्ञानतन्तुके तनाव (Nervous tension) से रक्तवाहिनियाँ जरठ एवं संकीर्ण हो जाती हैं। उनमें रक्त प्रवाहित करनेके लिये हृदय-कोष्ठोंको अधिक दबाव डालकर रक्त फेंकना पड़ता है। इस प्रकार सतत अतिश्रमके परिणामस्वरूप हृदय क्लान्त होकर विभिन्न रोग-लक्षणोंसे ग्रस्त हो जाता है।

संधिवात—जरठ तथा संकीर्ण रक्तवाहिनियोंसे वृक्क रोगाक्रान्त होता है। अर्थात् वह रक्तको छानकर शुद्ध करनेका कार्य भलीभाँति नहीं कर पाता। इससे रक्तमें यूरिक अम्लकी वृद्धि होती है। कालान्तरमें जब यह यूरिक अम्ल संधियोंमें संचित होने लगता है, तभी संधिवात-रोग उत्पन्न होता है।

संधिवात-रोगके समय रक्तवाहिनियोंमें कोलेस्टैराल तथा कैल्शियम आदि क्षारोंकी सूक्ष्म तह जमनेसे वह कड़ी एवं संकीर्ण हो जाती है। फलतः हृदयके रक्तवाही कोष्ठों तथा कपाटिकाओंमें भी जरठता उत्पन्न होती है, जिससे रक्ताभिसरण-सम्बन्धी कार्यमें बाधा उत्पन्न होती है। कड़ी तथा संकीर्ण रक्तवाहिनियोंद्वारा रक्त-संचार करनेसे हृदयको अतिश्रम उठाना पड़ता है और कालान्तरमें थककर वह रोगाक्रान्त हो जाता है।

इसलिये जीर्ण संधिवातके रोगियोंके हृदय-कोष्ठों एवं कपाटिकाओंमें जब दोष उत्पन्न होता है, तब उसको संधिवात-हृदय (Rheumatic Heart) कहते हैं।

उस अवस्थामें हृदयमें कपाटिका-दोषके कारण रक्त-पुनरागमन (Regurgitation) के लक्षण स्पष्टतः दिखायी देते हैं। कभी-कभी हृदयकी धड़कन (Palpitation) भी बढ़ जाती है। फलतः रोगी घबराहटका अनुभव करता है। उस अवस्थामें एलोपैथीमें 'कार्टीसिन' ओषधियोंका प्रयोग होता है। लेकिन यह ओषधि हृदयको नुकसान पहुँचाती है।

वायु-प्रकोप—वायु-प्रकोपकी प्रारम्भिक अवस्थामें अपचनके कारण जब आमाशय, आँतोंमें वायु होता है, तब सशक्त आँतें उनको आसानीसे बाहर निकालनेमें समर्थ होती हैं। परंतु रोग पुराना होनेपर दुर्बल आँतें उनको नीचेकी ओर ढकेलकर बाहर नहीं निकाल पातीं और वायु ऊर्ध्वगामी बनकर आमाशय हृदयपर दबाव डालने लगता है। उस समय हृदय-धड़कनकी गतिमें वृद्धि, घबराहट, स्नायु-दौर्बल्य आदि लक्षण प्रकट होते हैं। जबतक वायु-प्रकोप शान्त नहीं हो जाता, तबतक उपर्युक्त रोग-लक्षण शान्त नहीं होते। वायु डकार या अपान-वायुके रूपमें निकलनेपर रोगीको तुरंत राहत मिल जाती है।

इस प्रकार निर्दोष हृदयमें भी वायु-प्रकोपके प्रतिक्रिया-स्वरूप सामान्य रोग-लक्षण पैदा होते हैं। तथापि दीर्घकालीन वायु-प्रकोपसे पीड़ित रोगियोंको हृद्-रोग लागू हो सकता है।

अतएव हृद्-रोग अथवा लकवासे बचनेके लिये रक्तचाप-रोगको निर्मूल करना नितान्त आवश्यक है। सर्पगंधा आदि ओषधियोंके द्वारा शमनात्मक चिकित्सा करनेपर रक्तचाप कुछ समयके लिये तो कम हो जाता है, लेकिन इसका अनिष्टकारी परिणाम हृदयपर हुए बिना नहीं रहता। ओषधिके प्रयोगसे रोग निर्मूल नहीं होता, बल्कि गम्भीरतर रोगोंमें उसका रूपान्तर मात्र होता है।

रन्तिदेवकी प्रार्थना

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।

आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ (श्रीमद्भागवत ९।२१।१२)

‘मैं ईश्वरसे अष्टसिद्धियोंसे युक्त परागति नहीं चाहता, न पुनर्जन्मराहित्य (मोक्ष) ही चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि समस्त दुःखसंतप्त जीवोंके सारे दुःख मुझमें आ जायँ और मैं अन्तःप्रविष्ट होकर उनके दुःखोंको ग्रहण करूँ, वे सब दुःखोंसे छूट जायँ।’

पढ़ो, समझो और करो

(१)

श्रीहनुमान्जीद्वारा जीवन-दान

लगभग पंद्रह-सोलह वर्ष-पूर्व मेरे साथ घटी एक सत्य घटना है। उत्तरी भारतमें गङ्गास्नानका पर्व बड़ी धूमधामके साथ मनाया जाता है। सभी लोग गङ्गा अथवा यमुना या आस-पासकी नदियोंमें स्नान करके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजा-अर्चना करते हैं। परंतु गङ्गा-स्नानका तो अपना अलग ही महत्त्व है। मैं उन दिनों नरेला (दिल्ली) में कार्यरत था। गङ्गा-स्नानकी इच्छासे कुछ मित्रोंने मिलकर एक बस किरायेपर ली और हमलोगोंने नरेलासे गढ़गङ्गा (बृजघाट) के लिये रात्रिमें प्रस्थान किया। सारे रास्ते कीर्तन करते रहे। प्रातः होते-होते बस गङ्गाके तटपर पहुँच गयी। प्रातः गङ्गाका पवित्र स्थान था। दैनिक कार्योसे निवृत्त होकर हमने पवित्र गङ्गामें स्नान किया। पूजा-अर्चना की और विश्राम करनेके पश्चात् वापस जानेकी तैयारी करने लगे। मैंने भी अपने परिवारके सदस्योंके साथ वापसीकी तैयारी पूरी कर ली। गङ्गाका पवित्र जल अपने साथ ले जानेकी इच्छासे मैं जल भरनेके लिये बर्तन लेकर गङ्गाके तटपर आया। तटपर भीड़ बहुत थी। मैंने सोचा क्यों न बीच मझधारसे पवित्र जल लाऊँ, यह सोचकर एक नाव जो यात्रियोंसे भरी हुई थी, उसीमें मैं भी बैठ गया और फिर नाव चल पड़ी। बीच मझधारमें पहुँचकर मैंने अपनी बोटलमें पवित्र गङ्गा-जल भर लिया। धीरे-धीरे नाव दूसरे किनारे पहुँच गयी। कुछ समय पश्चात् जब वही नाव वापस आने लगी तो मैं भी उसमें सवार हो गया।

अभी नाव आधे रास्तेतक ही आयी थी कि बहुत जोरका तूफान, आँधी तथा बारिश आ गयी। बड़ी-बड़ी लहरें नावको थपेड़े मारने लगीं और नाव डगमगाने लगी। नावमें बैठे यात्रियोंमें हाहाकार मच गया। दो मल्लाह जो हमारी नावको चला रहे थे, उनमेंसे एक कूदकर अपनी जान बचाकर तैरकर भाग गया, दूसरा मल्लाह भी कूदकर भागना चाहता था, परंतु यात्रियोंने उसे पकड़ लिया। जहाँपर नाव थी उस स्थानपर दससे बारह फुट गहरा पानी था। यात्रियोंमें अधिकांश बच्चे तथा महिलाएँ थीं, परंतु तैरना किसीको भी नहीं आता था। मैं भी तैरना नहीं जानता था। मैं अपने जीवनकी पूरी आशा छोड़

चुका था। नावके सभी यात्री हाथ हिला-हिलाकर किनारेपर खड़े लोगोंसे तथा बचाव-दलसे सहायता माँग रहे थे, परंतु इस आँधी और तूफानमें कोई भी सहायताके लिये नहीं आया। जीवन तथा मृत्युकी दूरी बिल्कुल कम हो गयी थी।

मैंने जीवनकी आशा छोड़कर और अन्तिम क्षण समझकर अपने इष्टदेव श्रीहनुमान्जी महाराजको पुकारा और हतप्रभ होकर अन्तिम प्रार्थना करने लगा। क्षणभरमें मैंने देखा कि इस भीषण तूफानमें एक विशालकाय रूप नावकी तरफ आ रहा है और देखते-ही-देखते उसने नावको हाथ लगाया और दूसरे ही क्षण सभी यात्री सुरक्षित दूसरे किनारेपर पहुँच गये। नावको हाथ लगाकर वह विशालकाय छाया अन्तर्धान हो गयी। मुझे लगा वह रूप और कोई नहीं वे तो मेरे इष्टदेव श्रीहनुमान्जी महाराज ही थे। मैं मनमें बार-बार प्रभुको याद करता रहा। आज मुझे लगा कि सदग्रन्थोंमें मैंने जो पढ़ा था कि प्रभु स्वयं आकर अपने भक्तकी रक्षा करते हैं, यह बिल्कुल सत्य बात है। आज साक्षात् आकर उन्होंने मुझे ही नहीं अपितु नावके सभी यात्रियोंको बचा लिया। आज भी श्रीहनुमान्जीका वह विशाल रूप मेरी आँखोंके सामने बराबर घूमता रहता है। — श्रीराजबहादुर

(२)

सहदयता

एक सच्ची घटना है। बात उन दिनोंकी है, जब जमींदारी प्रथाका बोलबाला था। बड़े-बड़े जमींदारोंने अपनी जमींदारीके गाँवों तथा मनुष्योंसे सम्पर्क न रखनेको ही बड़प्पन मान रखा था। ऐसे ही वातावरणमें पले एक बहुत बड़े जमींदार सज्जनका जवान लड़का एक दिन प्रातःकाल टहलता हुआ अपने कलमी पेड़ोंके एक बड़े बगीचेके सामने आ पहुँचा। बगीचेके रक्षक तरह-तरहके कीमती पेड़ोंको दिखलाने लगे और उनके नाम तथा गुणका विवेचन करने लगे। वह युवक टहलता हुआ वाटिकाके एक किनारे जा पहुँचा, जहाँ वाटिकाका घेरा समाप्त होता था और किसी दूसरेका खेत शुरू होता था। उस खेतमें गेहूँ बोया था। वाटिकाके समीप पेड़ोंकी छायामें गेहूँके पौधे एक बित्तेसे अधिक नहीं बढ़ पाये थे, पर दूसरी ओर जहाँ वाटिकाके पेड़ोंकी छाया नहीं पड़ती थी, गेहूँ

ऊँचे और सुपुष्ट थे। उस युवकने रक्षकोसे पूछा—‘क्यों उधरके पौधे बड़े हैं तथा इधर हमारे बगीचेके बगलके छोटे एवं बेजान हैं? रक्षकोने बतलाया ‘हुजूर! पेड़ोंके करीब उनकी धाँध मारती हैं, जिससे पौधे कमजोर हैं!’ युवकने धाँधका अर्थ पूछा तब नौकरोंने बताया कि ‘पेड़ोंकी छायासे इन्हें धूप नहीं मिलती, नमी रहती है तथा अपने पेड़ोंकी जड़ें खेतोंमें फैल गयी हैं, इससे जहाँतक छाया जाती है, वहाँतक उपज नहीं हो पाती। युवकने उस खेतके मालिकका नाम पूछा तो एक विधवा महिलाका नाम बतलाया गया। तब उसने कहा ‘वह औरत कयामतके दिन हमसे यह सब वसूल करेगी, जो हमारी वजहसे उसका नुकसान हो रहा है, अफसोस, वालिदने इसपर खयाल नहीं किया!’ उसने उस ओरके पेड़ोंको तुरंत काटनेकी आज्ञा दी। नौकरोंने सेमल आदिके पेड़ तो काटकर गिरा दिये; किंतु ‘फलदार बहुमूल्य पेड़ोंको काटनेसे बड़ा नुकसान होगा’—कहकर रुक गये। किंतु युवकने उनकी एक न सुनी और सब पेड़ कटवा दिये। इतना ही नहीं, गल्लेका हिसाब लगाकर खेतवाली महिलाके घर भिजवा दिया। इस तरह कलियुगमें सत्ययुगका उदय हो गया। बहुतसे लोगोंने इससे प्रेरणा प्राप्त की।

—गणपतिकृष्ण त्रिपाठी

(३)

मानवताका नमूना

तणसा गाँवका यह एक पुराना प्रसंग है। इस गाँवके दो-तीन किसान किसी विवाहमें शामिल होनेके लिये दूसरे गाँव जा रहे थे। जब वे जाने लगे, तब किसानका एक छोटा बच्चा मचल गया और अन्तमें उसे भी साथ ले जाना पड़ा। जाना था पैदल। वे उस गाँवमें पहुँचे, विवाहका आनन्द लिया और अपने गाँवकी ओर लौटे। संध्याके समय बातें करते वे तीनों चल रहे थे। छोटा बच्चा साथ था। थोड़ी ही देरमें देखा आकाश बादलोंसे छा गया। तेज ठंडी हवाके झोंके चलने लगे, चारों ओर बादलोंकी गड़गड़ाहट सुनायी पड़ने लगी और गाज-बीजके साथ वर्षा होने लगी। जाड़ेका मौसम, ठंडी जोरकी हवा और वर्षा। किसानोंको तो यह सब सहनेकी आदत थी, पर बेचारा बच्चा तो जाड़ेसे ठिठुरकर बेहोश हो

गया। न बोलता है, न चलता है। अब क्या किया जाय? बरसात और ठंडी—दोनों ही मानो कमर कसकर धावा बोल रहे थे। बच्चेको तुरंत किसी गरम वस्तुसे सेंका जाय तो उसके प्राण बचें। पर वह तो निर्जन स्थान था, वहाँ सेंककी व्यवस्था कैसे हो? किसान उस बच्चेको एक पेड़के नीचे ले गये और बरसातके थमनेकी राह देखने लगे। बच्चेकी बेहोशी बढ़ती जा रही थी। विपत्तिमें प्रभु याद आते हैं। वे हताश होकर प्रभुसे प्रार्थना करने लगे कि इस निर्जन स्थानमें बच्चेका जीवन कैसे सुरक्षित हो सके। इसी ऊहापोहमें वे खड़े थे कि इतनेमें दूरसे किसी गाड़ीके बैलोंके गलेकी घंटीकी आवाज सुनायी दी। इनको कुछ आशा हुई। गाड़ीके पास आनेपर इन्होंने देखा कि उसमें उन्हींके गाँवके कपड़ेके व्यापारी दासभाई थे। सारी बातें सुनकर दासभाईने तुरंत ही बच्चेको गाड़ीपर ले लिया और किसानोंको भी बैठनेके लिये कहा। बच्चेका क्या होगा—इसी विचारमें चिन्ताग्रस्त हुए किसान म्लानमुख गाड़ीमें बैठ गये।

इसी बीच दासभाईने अपने पासका कपड़ेका बंडल खोला और उसमेंसे कपड़ेका एक नया थान निकाला, तथा जेबसे दियासलाईकी पेटी निकाली। थानमेंसे कुछ कपड़ा फाड़कर दियासलाई जलाकर कपड़ेमें लगा दी और उससे वे बच्चेको गरमी पहुँचाने लगे। किसान तो इस दृश्यको चकित-दृष्टिसे देखते ही रह गये। अग्नि मन्द न हो जाय, इसलिये बार-बार थानसे कपड़ा फाड़-फाड़कर उसे जलाने लगे।

गाड़ी चलती हुई गाँवके समीप पहुँची। बच्चेको गरमी पहुँचनेसे उसकी भीतरकी ठंडक दूर हो गयी। उसने करवट बदली और इतना ही कहा—‘बापू! बापू! बड़ी ठंड लग रही है।’ ‘अब ठंड नहीं लगेगी, देख तो, अपना घर आ गया।’ यों कहकर दासभाई कपड़ेके थानका बचा हुआ अन्तिम अंश जलाकर बच्चेको सेंक करने लगे।

गाँव पहुँचनेपर और भी अच्छे उपाय किये गये और दो दिनोंमें बच्चा बिलकुल ठीक हो गया। दासभाईको अपने कपड़ेकी कीमत कभी याद ही नहीं आयी। असली कीमत तो वे ले ही चुके थे। मौकेपर सेवा करनेसे जो नहीं चूकता वह भगवान्का परम प्रेमास्पद बन जाता है।

—इज्जतकुमार द्विवेदी

मनन करने योग्य [मानवता और अष्टावक्र]

राजा जनकके मनमें ज्ञान प्राप्त करनेकी कामना हुई। राजा जनक तो ज्ञानी थे ही, किंतु उन्हें किसी गुरुसे ज्ञानकी उपलब्धि नहीं हुई थी। ज्ञानी राजा जनक 'ज्ञानी गुरु' की खोजमें चकराने लगे, किंतु वे थे प्रख्यात राजा। उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने सर्वत्र यह डंका पिटवा दिया कि जो कोई मुझे 'ज्ञान' का उपदेश देगा, उसे मनमाना धन प्राप्त होगा और यदि वह ज्ञानी ज्ञानका उपदेश न दे सकेगा तो वह जनकके बंदीगृहमें बंद होकर रहेगा। हाँ, उसे बंदीगृहकी यातना नहीं भुगतनी पड़ेगी, प्रत्युत सुखके सभी साधन उसे बंदीगृहमें ही प्राप्त होंगे। जनककी तथोक्त घोषणाको सुन-सुनकर बहुतेरे ज्ञानी जनककी सभामें पहुँचे, परंतु ज्ञानी जनकको समुचित ज्ञानका उपदेश न कर सके, फलतः बहुतोंको जनकके बंदीगृहमें सुखभोगके लिये जाना पड़ा।

एक बार अष्टावक्रके पिता भी ज्ञान देनेके लोभमें या धन प्राप्त करनेके चक्करमें जनककी सभामें पहुँचे। उन्हें भी हार मानकर जनकके बंदीगृहमें बंद होना पड़ा। जब यह समाचार अष्टावक्रजीको अवगत हुआ, तब वे भी जनककी सभामें पहुँचे। राजदरबारमें सुन्दर-सुन्दर शरीरवाले दरबारी लोग सुन्दर-सुन्दर आभूषणोंसे सुसज्जित थे, राजा जनक स्वयं राजसी ठाट-बाटसे राजसभामें विराजमान थे। उसी समय अष्टावक्र महाराज पहुँचे। ऋषिकुमार अष्टावक्रजीके अङ्ग आठ स्थानोंपर टेढ़े थे। मानवकी यह दुर्बलता है कि वह ब्रह्माके विधानमें भी अपनी टाँग अड़ाता है। अष्टावक्रके शरीरको टेढ़ा-मेढ़ा देखकर सभासदोंको हँसी आ गयी। सबकी हँसीसे सभामें ठहाकेकी आवाज गूँज गयी। जहाँ 'ज्ञान' की चर्चाके लिये सभा जुड़ी हो, वहाँ शरीरकी बनावट देखकर हँसना मानवकी मानवता नहीं, प्रत्युत दुर्बलता कही जायगी। ऋषिकुमार अष्टावक्र सभासदोंके अनुचित व्यवहारसे विचलित नहीं हुए। ज्ञानियोंके लिये मान, अपमान सब समान ही होता है। अष्टावक्र आये थे ज्ञानकी चर्चा करने और विजय प्राप्त करने। अष्टावक्रने सभासदोंकी हँसीका उत्तर और अधिक ठहाकेकी हँसीसे दिया। अष्टावक्रको उतना जोरसे हँसते देख राजा जनकने ऋषिकुमारसे पूछा—'महाराज ! आप क्यों हँस

रहे हैं ?'

अष्टावक्रने कहा—'राजन् ! यह प्रश्न तो मुझे ही करना चाहिये था।'

राजा जनकने पूछा—'क्यों ?'

अष्टावक्रने कहा—'आपलोग मेरे पहुँचते ही हँसे थे।' उत्तरमें राजा जनकने कहा कि 'आपके टेढ़े-मेढ़े शरीरको देखकर हमलोगोंको हँसी आ गयी, आपको दुःख नहीं मानना चाहिये।'

ऋषिकुमारने कहा—'दुःखकी बात क्या है ? हाँ, मुझे तो आपलोगोंके आन्तरिक शरीरके ऊपर हँसी आयी। आप लोगोंके सुन्दर शरीरके भीतर कितनी कलुषता भरी पड़ी है, उसे देखकर मुझे इतनी जोरकी हँसी आयी। भला, मिथिला-नरेश, जिनकी सभामें 'ज्ञान' की चर्चा होती है, ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जिन नरेशने डंका पिटवाया है, उनके सभासद् तथा स्वयं वे भी शरीरके रूप, रंग, बनावटके प्रेमी हैं। उनके यहाँ 'ज्ञान' की बात कहाँ, नश्वर शरीरकी महत्ता है।' अष्टावक्रके इस कथनसे राजा जनक चुप हो गये और सभासदोंको काटो तो खून नहीं। सब मौन हो गये। सभी स्तब्ध रह गये।

× × ×

राजा जनकके अन्तःपुरमें ऋषिकुमारकी खूब सेवा-शुश्रूषा हुई। स्नान-ध्यानके बाद उन्हें भोजन कराया गया। शयन करनेके बाद राजा जनक भी शयन करने गये, किंतु उन्हें नींद कहाँ ? बालक अष्टावक्रकी टेढ़ी बात उनके मस्तिष्कमें झंझावात उत्पन्न कर रही थी। 'राजा जनकके यहाँ ज्ञानकी नहीं, नश्वर शरीरके रूप, रंग, बनावटकी महत्ता है' यह वाक्य उन्हें बेचैन किये हुए था। राजा जनक उठे और अष्टावक्रके पास पहुँचे। राजा जनकने हाथ जोड़कर कहा—'ऋषिकुमार ! मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि आप मुझे 'ज्ञान' प्रदान कर सकते हैं।' राजा जनकने पुनः कहा—'ब्रह्मचारिन् ! शीघ्रतासे मुझे 'ज्ञान' प्रदान कीजिये। मेरा चित्त उद्विग्न हो रहा है।' ऋषिकुमारने पुनः हँसकर कहा—'राजन् ! बिना कुछ गुरु-दक्षिणा दिये ही 'ज्ञान' प्राप्त करना चाहते हो ? जिस 'ज्ञान' की

उपलब्धि जंगलोंकी खाक सहस्रों वर्षोंतक छाननेपर कहीं होती है, उसे एक राजा सहजमें ही प्राप्त करना चाहता है ?'

राजा जनकने अनुनयके साथ कहा—'ऋषिकुमार ! मेरा खजाना आप ले लें और मुझे 'ज्ञान' का उपदेश करें।' ऋषिकुमारने पुनः हँसकर कहा—'राजन् ! कोष क्या आपका है ? कोष तो प्रजाका है तथा वह कोष राज्यके अधीन है।' राजा यह तर्क सुनकर लज्जित हो गये और पुनः उन्होंने कहा—'अच्छा महाराज ! राज्य ही आप ले लें।' अष्टावक्रने पुनः उत्तर दिया—'राजन् ! राज्य भी अनित्य है।' राजा जनकने पुनः अनुरोध किया—'यह मेरा शरीर ले लीजिये।' ऋषिकुमारने पुनः कहा—'शरीर तो मनके अधीन है।' राजा जनकने कहा—'तो आप मन ही ले लीजिये।' अष्टावक्र स्वीकृति देते हुए बोले—'हाँ, मन ले सकता हूँ। मन मुझे संकल्प कर दीजिये।' राजा जनकने वैसा ही किया।

अष्टावक्रने कहा—'राजन् ! एक सप्ताह पश्चात् पुनः आऊँगा, तब आपकी मनःकामना पूर्ण होगी।' यह कहकर अष्टावक्रजी अपने पिताको लेकर घर पहुँचा आये और जाते समय राजासे कहते गये कि 'आप यह समझ लें कि आपने अपना मन मुझे संकल्प कर दिया है।' राजा जनक प्रतिज्ञाबद्ध हो गये और उनकी दशा विचित्र हो गयी। चलते-फिरते उन्हें यही ध्यान रहता कि मन तो संकल्प हो गया है। इस चिन्तामें उनके मनकी सब क्रियाएँ शान्त हो गयीं। समयानुसार ऋषिकुमार लौटे, आते ही उन्होंने जनकसे कुशल पूछी। राजा जनकने कहा—'ब्रह्मचारिन् ! मेरी कुशलता आपके अधीन है, मन तो आपका हो चुका है। आपको मन देकर मैं जडवत् हो गया हूँ, किंतु मुझे इसीमें परम शान्ति मिल रही है और इस शान्तिसे कुशल है।' अष्टावक्रने कहा—'राजन् ! इस जडताको तुम समझ लो कि वह चेतनता (आत्मज्ञान) अथवा स्मृतिके समीपकी जडता है और अब तुम्हें वहाँतक पहुँचनेमें विलम्ब नहीं। तुम ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य हो गये।' अष्टावक्र कहते गये।

'राजन् ! सांसारिक विषय मनके अधीन हैं, आत्माके अधीन नहीं। मन ही देही है, आत्मा विदेह है। मन जबतक शरीरकी ओर लगा रहता है, तबतक मनकी गति आत्माकी

ओर नहीं हो पाती। मानव जब मनको ज्ञानके अधीन कर देता है, तब आत्माकी ओर उसकी गति बढ़ने लगती है। शनैः-शनैः प्राण कोशोंके बन्धनसे मुक्त होकर जीव सत्-चित्-आनन्द बन जाता है। जीवकी यही परमोन्नति है।' ऋषिकुमार कहते गये—'यह शरीर पञ्चकोशोंका बना थोथा होता है। अन्नसे इसकी उत्पत्ति होती है, इसीलिये इसे 'अन्नमय कोश' भी कहते हैं। इसके भीतर 'प्राणमय कोश' हैं, वह अधिक व्यापक और सशक्त होता है। उसके भीतर 'मनोमय कोश' होता है, वह प्राणमय कोशसे भी व्यापक और सशक्त होता है। हाँ, वही मनोमय कोश स्थूल शरीरको यत्र-तत्र संचालित करता रहता है। मनोमयके बाद 'विज्ञानमय कोश' है। यह मनोमय कोशसे भी प्रबल और सशक्त होता है। जब मानवका मन ज्ञानके अधीन हो जाता है, तब उसका इधर-उधर भटकना समाप्त हो जाता है। विज्ञानमय कोशके बाद 'आनन्दमय कोश' है। आनन्दमय कोशमें प्रवेश करते ही शरीरको सुख-दुःखके झंझटोंसे छुटकारा मिल जाता है। निद्रित अवस्थामें जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थाके सुख-दुःख समाप्त हो जाते हैं, वही स्थिति आनन्दमय कोशकी है। इसके ऊपर है सर्वव्यापक 'आत्मा'। शरीरपर विशुद्ध ज्ञानकी सत्ता स्थापित होनेपर 'आत्मा' की प्राप्ति होती है। मनको शुद्ध ज्ञानके अधीनस्थ करके—शरीरपर ज्ञानकी सत्ता स्थापित करके सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतमकी ओर अग्रसर होना ही जीवकी 'परमोन्नति' है। राजा जनक ! आपने मुझे अपना मन संकल्प कर दिया था, अतः मनके साथ इस 'ज्ञान' को वापस कर रहा हूँ। आप मेरे आदेशसे ज्ञानके अधीन होकर इस राज्यका संचालन कीजिये। समस्त जीवोंमें अपने आत्माका अनुभव कीजिये। सबसे परे होकर रहिये।' इतना कहकर अष्टावक्र उठकर चलने लगे। राजा जनकने आग्रहके साथ कहा—'ऋषिकुमार ! मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया, आप यहीं रहें।' अष्टावक्रने हँसते हुए कहा—'राजन् ! क्या अपने सुख-वैभवमें मुझे बाँधना चाहते हैं ?' राजा जनक नतमस्तक हो गये। अष्टावक्र अपने गन्तव्य स्थानपर चले गये। अष्टावक्रकी 'महान् मानवता' से अनेकों ज्ञानी बंदीगृहसे मुक्त हो गये—एक मानवने कई मानवोंका उद्धार किया।

भक्तिका रहस्य

हमें भक्ति प्राप्त हो गयी, ऐसा समझनेमें हमलोग प्रायः धोखा खा जाते हैं। कारण, यथार्थमें भक्तिको प्राप्त करना बड़ा ही कठिन है। अनेक जन्मोंके पुण्यबलसे ही हृदय इतना शुद्ध हो सकता है कि वह भक्तिप्रवण हो। लोग जो यह समझते हैं कि 'ज्ञानमार्ग कठिन और भक्तिमार्ग उसकी अपेक्षा सरल है और इसलिये हम दुर्बल-बुद्धि और चञ्चल मनवालोंको भक्तिमार्गका ही अनुसरण करना चाहिये, यही नहीं बल्कि यही हमारे लिये एकमात्र मोक्षसाधन है।' यह केवल नासमझी है जो प्रायः लोगोंमें फैली हुई देखनेमें आती है। यह ध्यान रहे कि मनका क्षणिक उद्रेक या भावुकता ही भक्ति नहीं है। भक्ति उस मनुष्यको नहीं प्राप्त हो सकती जिसकी इच्छाएँ पुण्यकर्मोंसे तथा सतत भगवत्स्मरणसे पवित्र नहीं हो गयी हैं। भक्ति उसको भी नहीं नसीब होती जो ज्ञानका प्रकाश न मिलनेसे बिना पतवारकी नावकी तरह इधर-उधर भटकता रहता है। परहित-साधनमें अपने स्वार्थका बलिदान करनेकी मधुरताके साथ जिसका स्वभाव मेल नहीं खाता उसे भी भक्ति नहीं मिला करती। जो कर्मसे भागता या किसी कठिनाईका सामना करते जिसका हृदय काँप उठता है, वह भी सच्ची भक्तिसे दूर ही रहता है। भक्तके जो लक्षण गीतामें भगवान् ने बतलाये हैं उन्हें पाना सुगम नहीं है। भक्तका मन पूर्ण संयत होता है—उसमें असंयमके लिये कोई अवकाश ही नहीं होता। वह सदा संतुष्ट, ईश्वरका दृढ़ विश्वासी और किसी प्राणीसे द्वेष न करनेवाला होता है। वह सबपर करुणा करनेवाला, सबका सुहृद् और मित्र होता है, पर किसीके प्रति उसकी आसक्ति नहीं होती और वह स्वयं निरहंकार होता है। उसका हृदय शुद्ध और सच्चा होता है और वह बड़ा दक्ष होता है। वह सदा सबको क्षमा करता है पर कभी कायर नहीं बनता। उसका हृदय अत्यन्त बलवान् होता है, इसके बिना वह सबका आश्रय बन भी कैसे सकता है ?

असुर-बालकोंके पूछनेपर परम भक्त प्रह्लादने भगवान् की भक्तिका यह स्वरूप बताया—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत

समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥

'दैत्यो ! तुमलोग समता प्राप्त करनेका यत्न करो अर्थात्

सबको सम दृष्टिसे देखना सीखो। किसीसे भी द्वेष मत करो, क्योंकि समत्व ही भगवान् की सच्ची उपासना है।'

इस समत्वकी प्राप्ति अर्थात् जगत्के इस नानात्वके मूलमें जो एकत्व है उसकी अनुभूति ही वह चीज है जिससे साधक समस्त विश्वका प्रेमी बन जाता है। इस विश्वको और इसमें रहनेवाले सब प्राणियोंको भगवद्भक्त, सेव्य और पूजनीय जानता है, क्योंकि भगवान् ही तो इन सब रूपोंमें प्रकट हुए हैं। भक्तको सबकी सेवा करनी है, सबका पोषण करना है। जो मनुष्य अपने आत्मभावको सम्पूर्ण रूपसे भूमाके अंदर विलीन नहीं कर सकता, सांसारिक भोगोंसे अलिंग नहीं हो सकता, सांसारिक मान-प्रतिष्ठा और प्रतिपत्तिका त्याग नहीं कर सकता, स्वार्थके त्यागका जिसे अभ्यास नहीं, जो जरासे दुःख या अभावसे चल-विचल हो जाता है, वह कभी भगवान् की सेवा नहीं कर सकता। जिसका हृदय दुर्बल है वह इस रास्तेके समीप भी नहीं आ सकता। श्रीचैतन्य महाप्रभु वैष्णवके जो लक्षण बता गये हैं वे किसी दुर्बल चञ्चल चित्तवाले पुरुषको कदापि नहीं प्राप्त हो सकते। श्रीचैतन्यदेव कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

'जो तृणसे भी नीचा हो जाय, वृक्षकी-सी सहिष्णुता प्राप्त कर ले, मानकी जरा भी इच्छा न करे पर दूसरोंको मान देनेमें सदा सावधान रहे, ऐसा पुरुष ही सदा हरिनाम-कीर्तन कर सकता है।'

जो कोई भक्त होना चाहता है उसे अपने परिवारवालोंके तथा बाहरी लोगोंके अत्याचार सह लेनेको तैयार रहना पड़ता है। ध्रुव, प्रह्लादादिसे लेकर युधिष्ठिरतक प्राचीन कालके और सुकरात, ईसा, यवन, हरिदास, कबीर, नानक, मीराबाई, रूप और सनातन आदि आधुनिक कालके किन-किन भक्तोंको अज्ञ जनताने नहीं सताया ? भगवान् का रास्ता सदासे ही कंटकाकीर्ण और विघ्नसंकुल रहा है और जो कोई इस रास्तेपर चलना चाहता है उसे पद-पदपर चोटें सहनी और अपना खून बहाना पड़ता है। यदि यह पूछा जाय कि तब हम इस रास्तेपर चलें ही क्यों ? तो इसका यही उत्तर है कि आपसे कहता ही कौन है कि आप इस रास्तेपर चलिये। आप तो भक्तिके

रास्तेपर चलनेकी चेष्टा तभी करेंगे जब अंदरसे ही इसके लिये कोई प्रेरित करेगा। यहाँ कोई बाहरी लाभ नहीं है, भक्ति आप ही अपना पुरस्कार है, भक्त जो कुछ पुरस्कार चाहता है वह भी भक्ति ही है। भक्त जब इस योग्य हो जाता है कि भगवान्को वह अपना प्रेम अर्पण कर सके और एक क्षणके लिये भी जब उसके चित्तमें ईश्वरसे इसका कोई बदला पानेका विचार नहीं उठे, तभी वह अपने जीवनको चरितार्थ समझता है। सच्ची पतिव्रता स्त्री अपने पतिके सब शौक और अत्याचार मौन होकर सह लेती है, परंतु जो स्त्री अपने ही सुखकी चेष्टामें व्यस्त रहती है वही अपने पतिसे अपने लिये यह वह सब कुछ चाहा करती है। सच्ची पतिव्रता स्त्री, कविके शब्दोंमें, बस यही कहा करती है—

उपपत्नी मैं नहीं, इसीसे कभी न मुझे बिसरते तुम ।
मिथ्या सुख-सम्मान दान कर कभी दूर नहि करते तुम ॥
पतिव्रता मैं सती, इसीसे निशिदिन नाथ ! तुम्हारे घर ।
दुख-दारिद्र्य सभी मिल मेरी सेवा नित करते मन भर ॥
नौकर नहीं, तुम्हारे सुखकी, नहीं चाहती सुखका दान ।
प्रेम तुम्हारेकी पत्नी हूँ मनमें सदा यही अभिमान ॥
खुले हाथ संतत सारे दुःखोंको तुम करते हो दान ।
वञ्चित कभी न रखते प्रभु ! यह ही तो है मेरा सम्मान ॥

भक्त किसीसे डरता नहीं, उसका हृदय किसी संकटसे पस्त नहीं हो जाता। विपत्-सम्पत्, रोग-शोक, सुख-दुःख सभी अवस्थाओंमें, जीवनमें और मृत्युमें भी वह अपने मनको स्थिर, शान्त, दान्त रख सकता है। उसमें इस असीम शक्तिके होनेका क्या रहस्य है ? रहस्य यही है कि जैसे कोई पद्म-सरोवर हो, जिसमें चारों ओर वायुके झकोरोंसे हिलते-डुलते हुए पद्म-ही-पद्म हों, वैसा ही उसका हृदय होता है, उस हृदयमें सर्वत्र श्रीभगवान्के चरणकमल ही विराजते हैं, निर्मल सुन्दर मधुर कमलदलोंपर झूलते रहते हैं। इसीलिये तो शोक, भय या किसी प्रकारके अहंभावजनित सम्मोहके लिये वहाँ कोई अवकाश नहीं होता। भक्तका आसन कितना ऊँचा होता है। यह कबीरसाहब बतलाते हैं—

भगति भेख बहु अंतरा जैसे धरनि अकास ।
भगत जो सुमरै रामको भेख जगतकी आस ॥
किसी प्रकारकी धूर्तविद्या, चाहे वह कितनी ही पटु हो,

किसीको यह अपार सम्पत्ति (भक्ति) नहीं दिला सकती। भक्तिका भेष बनाकर लोगोंको धोखा देना बहुत सुगम है, पर सच्ची भक्तिको पाना अत्यन्त दुर्लभ। स्वयं देवताओंको भी इसका मिलना बड़ा कठिन है। देवर्षि नारदतकको, इतने बड़े भक्त होते हुए भी, इसके लिये क्या-क्या कष्ट नहीं उठाते पड़े। अभी वे बालक ही थे जब उनपर ऋषि-मुनियोंकी कृपा हुई। उनके सत्संगके प्रभावसे उसी छोटी उम्रमें जगत्के भोगोंसे उन्हें वैराग्य हो गया। इसीसे तो, जब सर्पके डँसनेसे उनकी माताका देहान्त हुआ, तब वे किसी बच्चेकी तरह न रोये, न उन्हें कोई घबराहट हुई। इस घटनाको उन्होंने भगवत्कृपा समझा और वे हिमालयकी ओर चल दिये। रास्तेमें जब भूख-प्यास बहुत सताने लगी तब एक वृक्षके नीचे बैठ गये और ऋषियोंसे प्राप्त मन्त्रके अनुसार अपने हृदयमें भगवान् वासुदेवका ध्यान करने लगे।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥

(श्रीमद्भा० १।६।१७-१८)

ध्यान करते-करते उनका हृदय भक्तिसे भर गया। बाह्य जगत्से सर्वथा खिंच गया, भगवद्दर्शनकी आकुलता इतनी बढ़ी कि उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह चल पड़ा। तब भगवान् हृदयमें प्रकट हुए। प्रेमातिरेकसे नारदजी पुलकित हो उठे, पार्थिव भोगकी वासनाका लेश भी उनके हृदयमें न रहा और वे आनन्दसमुद्रमें निमज्जित हो गये। तब वे अपना सब कुछ भूल गये, केवल एक परम आनन्द उनके अंदर-बाहर परिपूर्ण हो गया और अबतक भगवान्का जो रूप वे देख रहे थे वह भी मिट गया। भक्त, भगवान् और जगत्के बीच तब कोई पार्थक्य भाव न रहा। उसी अनन्त परमानन्दमें सब कुछ निमज्जित हो गया। जब बाह्य जगत्का फिरसे भान हुआ तब भगवान्के उसी माधुर्यमय रूपको निहारनेके लिये वे अत्यन्त व्याकुल हो उठे, उसे फिरसे पानेके लिये छटपटाने लगे। जब दर्शन नहीं हुए तब नारदजी शोकमग्न हो गये। इस समय उनकी मनोव्यथाको दूर करनेके लिये यह आकाशवाणी हुई—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥

‘जिनके हृदयमें अभीतक काम-क्रोधादि विकार छिपे हुए हैं उन कुयोगियोंके लिये मेरा दर्शन होना बड़ा कठिन है।’

इससे यह पता चलता है कि सांसारिक भोगोंके सम्बन्धमें वासनाका किस हदतक क्षय होना चाहिये जिसके बाद ही कोई सच्चा भक्त बन सकता है। इसलिये इस संसारकी आसक्तिसे जिसका हृदय भरा हुआ है वह चाहे कितना ही स्वाँग करे, उसे वह इज्जत नहीं दी जा सकती जो एक सच्चे भक्तकी होती है।

भगवद्दर्शनकी आकुलता और अध्यवसायका न होना मनुष्य-जीवनके लिये सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(१६।२०)

‘हे कुन्तीपुत्र ! मूढलोग जन्म-जन्म आसुरी योनिमें गिरकर और मुझे न पाकर अधम गतिको प्राप्त होते हैं।’

इसलिये मनुष्यमात्रको उचित है कि वह अपने मनको भगवान्की ओर लगाये। हमलोग त्रितापसे दग्ध हो रहे हैं, रात-दिन रो रहे हैं, मृत्युका भय हमें प्रतिक्षण चिन्तातुर किये रखता है और हम अपने-आपको सर्वथा अनाथ—असहाय ही समझते हैं। यदि हमलोग सत्पुरुषोंके संगसे भगवान्की महामहिमाकी किंचित् भी कल्पना कर सकें और उनके शरणागत हो जायें, नित्य नियमपूर्वक विश्वास और श्रद्धाके साथ उनकी उपासना करें तो हमलोग भी अपने हृदयोंमें भगवान्को पाकर अपने जीवनको धन्य बनानेमें समर्थ हो सकते हैं।

साधुपुरुषोंमें जो शुद्धता और पवित्रता आती है वह उनके भगवत्संनिध्यसे ही आती है। भगवद्गुणकीर्तनके जादूसे कठोर-से-कठोर हृदय भी पिघल जाता है और हठी-से-हठी आदमी भी, सच्चे हृदयसे उपासना करे तो, उनकी कृपाका पात्र हो सकता है। इसके सहस्रों उदाहरण मौजूद हैं—

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम् ।

(ऋग्वेद १।२२।२१)

‘जैसे आँख खोलकर देखनेसे सर्वत्र अनन्त आकाश फैला हुआ दीख पड़ता है, वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्मको महर्षि लोग अपने अंदर अनुभव करते हैं।’

यदि हमारा यह दृढ़ निश्चय हो कि हम यहाँ इसी जीवनमें ब्रह्मानुभव-लाभ करेंगे तो उसका रास्ता भी हमें निश्चय ही दीख पड़ेगा। श्रुतिवचन है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

‘उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाओ और उनसे समझो।’

भगवत्प्राप्तिके लिये, देखिये श्रीचैतन्यदेव कितने व्याकुल होकर कहते हैं—

हा हा कृष्ण प्राणनाथ ब्रजेन्नन्दन ।

कहाँ जाउँ कहाँ पाउँ मुरलिवदन ॥

जब आपका चित्त भगवदुपासना और सत्पुरुषोंके संगसे विशुद्ध हो जायगा, तब उस चित्तमें उनसे मिलनेकी निरन्तर लालसा उत्पन्न होगी और उनके विरहके दुःखसे आपका चित्त सदा विलाप करता रहेगा, इससे आपके सब कर्म जल जायेंगे और आपको बन्धनसे छुटकारा मिल जायगा। अपनी सारी फाँसियोंको काटकर चित्त जब अपनी पहलेकी विशुद्धताको पुनः प्राप्त कर लेता है तब स्वभावतः ही वह भगवत्प्रवण हो जाता है और तब भगवान्को पानेके लिये वैसी ही छटपटाहट होती है जैसी भूखे-प्यासे आदमीको अन्न-जलके लिये होती है। पर सावधान, आपकी भक्ति सच्ची हो, उसमें कोई दूसरा भाव न हो। प्रह्लादके ये वचन याद रहें—

‘भगवान् सर्वत्र हैं, प्रत्येक प्राणीके अंदर हैं। इसलिये हम किसी प्राणीका तिरस्कार न करें, किसीको अपना शत्रु न समझें; कारण, जबतक प्रत्येक प्राणीका हम आदर नहीं करते तबतक उन भगवान्को कैसे पूज सकते हैं जो सब प्राणियोंके अंदर हैं?’

‘साधु’ कहनेसे हमलोग गेरुए वस्त्र धारण किये हुए किसी व्यक्ति-विशेषको ही समझते हैं, पर गृहस्थोंमें भी ऐसे लोग हो सकते हैं जो अच्छे-अच्छे संन्यासियोंसे किसी प्रकार कम चरित्रवान् और ज्ञान-वैराग्यवान् नहीं हैं। यहाँ हम एक ऐसे साधुका उदाहरण पाठकोंके सामने रखते हैं जो गृहस्थ थे और जिनका जीवन आदर्श जीवन था। आपने अनेक प्रसिद्ध साधुओंको देखा होगा, उनके कठोर तप, उनकी सिद्धियाँ तथा उनका संयम और चरित्रबल देखकर उनके सामने आप श्रद्धासे नत हुए होंगे। पर मैं जिनकी बात कह रहा हूँ वे कोई

प्रसिद्ध पुरुष नहीं थे, उनका नामतक कोई नहीं जानता। नाम था कृष्णाराम ब्रह्मचारी, गौड ब्राह्मण थे, मेरे निकटतम थे, काशीमें चौसट्टीघाटके समीप राणामहलमें रहते थे। थे तो बहुत सीधे-सादे, बहुत ही साधारण-से आदमी, पर उनका आचरण दिव्य था। उनका जीवन भगवान्‌में ऐसी जीती-जागती निष्ठासे परिपूर्ण था कि जो कोई उसके प्रभावके अंदर आ जाते उनपर आनन्द बरसने लगता था। संसारको उनके भक्त होनेका पता नहीं था, पर उनके जीवनकी छोटी-मोटी घटनाओंसे यह पता लगता है कि उन्होंने अपने-आपको पूर्णरूपसे भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया था।

विधुर होनेके कारण घरका सब काम-काज, रसोई-पानी, बच्चोंको खिलाना-पिलाना, उन्हें स्वयं ही करना पड़ता था, इसके सिवा नित्यका पूजा-पाठ भी था। एक दिन इन सब कृत्योंसे निवृत्त होनेके बाद, मध्याह्नमें वे भोजनके लिये बैठना ही चाहते थे कि एक भिखारी आ गया। वह रो-रोकर खानेको माँग रहा था और कह रहा था कि मैं दो रोजका भूखा हूँ। कृष्णारामजी तुरंत उठे और जो कुछ उन्होंने अपने लिये परोस रखा था सब उसे दे दिया और कहा—'क्या तुम जानते नहीं, भगवान्‌ने आज तुम्हारे लिये यहीं रसोई बनवायी थी ?'

कृष्णाराम प्रतिदिन संध्यासमय, सूर्यास्तके पूर्व, अपने गुरुके समीप जाया करते, उनकी चरणपादुकाकी पूजा करते, आरती उतारते और गीताके एक अध्यायका पाठ भी कर लिया करते थे। यह उनका प्रतिदिनका नियम था, केवल गुरुके जीवित-कालमें ही नहीं बल्कि उनके समाधिस्थ होनेके बाद भी अन्ततक यह नियम चलता रहा। आँधी-पानी या किसी प्रकारकी घरू विपत्तिसे उनका यह नियम एक दिन भी भंग नहीं हुआ।

एक बार काशीमें मेरे पास कुछ विशिष्ट व्यक्ति पधारे।

‘जिस मनुष्यकी भगवान्‌ या किसी महात्मामें पूर्ण श्रद्धा हो जाती है वह तो उनके परायण ही हो जाता है। परायणतामें जितनी कमी है, उतनी ही कमी विश्वासमें भी समझनी चाहिये।’

‘महापुरुषोंद्वारा किये गये उत्तम बर्तावको भगवान्‌का बर्ताव ही समझना चाहिये। क्योंकि महापुरुषके अंदरसे भगवान्‌ ही सब कुछ करते-कराते हैं।’

काशीके महात्माओंके पास ले चलनेके लिये उन्होंने मुझसे कहा। मैंने उनसे पूछा, आप प्रसिद्ध साधुओंके पास चलना चाहते हैं या ऐसे साधुओंके पास जो वास्तवमें साधु हैं ? वे हँस पड़े और कहने लगे—‘मैं सच्चे ही साधुओंके पास चलना चाहता हूँ। मैं उन्हें कृष्णाराम ब्रह्मचारीके पास ले गया। उनसे मिलकर वे बन्धु बहुत ही प्रसन्न हुए और कृष्णारामजीसे उनकी जो बातचीत हुई उसका उनपर, मैंने देखा कि बड़ा असर पड़ा।’

अन्तमें उद्धवके इन शब्दोंको हमलोग स्मरण रखें—

‘जो मनुष्य भागवतधर्मका अनुष्ठान करता है उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है, यदि वह इन गुणोंका ध्यान रखे और इन्हें अर्जन करे—सदा इस बातका ध्यान रखना कि भगवान्‌ घटघटवासी हैं, सब महात्माओंका आदर करना, दीनोंपर दया करना, बराबरीवालोंसे मैत्रीका भाव रखना, धैर्य रखना, सांसारिक विषयोंसे उदासीन रहना, यम-नियमका पालन करना, मोक्षमार्गदर्शक शास्त्रोंका श्रवण करना, भगवन्नामका कीर्तन करना, अन्तःकरणको सच्चा और सीधा रखना, शास्त्रनियत कर्मोंके करनेवालोंका संग करना और अहंभावकी वृत्तियोंसे मुक्त होना।’

इसी सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌ कहते हैं—

‘मैं सब प्राणियोंमें आत्मरूपसे निवास करता हूँ। जो कोई इन प्राणियोंका समुचित आदर न करके केवल मेरी मूर्तियोंको पूजता है उसकी पूजा व्यर्थ है।..... जो अहंमय मनुष्य इस जगत्‌की विषमताके भीतर आधारभूत एकताको नहीं देख पाता, अन्य प्राणियोंके अंदर रहनेवाले मुझसे वै करता है और दूसरोंके प्रति अपना हृदय द्वेषसे कलुषित करता है उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जो बहुमूल्य पदार्थोंके द्वारा मेरी मूर्तिकी पूजा करता है पर अन्य प्राणियोंका समुचित आदर नहीं करता वह मेरी दयाका पात्र नहीं हो सकता।’



॥ श्रीहरिः ॥

वर्तमान वर्ष—सन् १९९३ ई०का विशेषाङ्क

शिवोपासनाङ्क

[इच्छुक जन कृपया शीघ्रता करें]

अत्यधिक माँग, बहुमूल्य सामग्री, पुनर्मुद्रणके बाद भी अब थोड़ी प्रतियाँ ही शेष

‘शिवोपासनाङ्क’ की अत्यधिक माँगके कारण इसका १,९०,००० का प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र समाप्त हो गया; पुनः १०,०००का द्वितीय संस्करण छापनेपर भी इसकी माँग अब भी निरन्तर बनी हुई है। फलस्वरूप बहुत थोड़ी प्रतियाँ ही अब उपलब्ध हैं। अतएव जो सज्जन इसे अबतक न मँगा सके हों, वे (पुराने और नये ग्राहक) सभी इच्छुक महानुभाव वार्षिक शुल्क रु० ५५.०० अथवा सजिल्द विशेषाङ्कका रु० ६०.०० शीघ्रातिशीघ्र भेजकर मँगा लें। विलम्ब करनेपर इन सीमित अङ्कोंके भी समाप्त हो जानेसे सम्भवतः उन्हें निराश होना पड़ सकता है।

इस अङ्कके शिव-तत्त्व एवं शिवोपासनापर प्रामाणिक विस्तृत विवेचन, विशेष आकर्षणके रूपमें अनेक शिव-भक्तों और शिवोपासकोंके रोचक आदर्श और प्रेरक चरित्र एवं सुप्रसिद्ध शैव-तीर्थ, द्वादश ज्योतिर्लिंग और विश्व-विख्यात शिव-मन्दिरोंका सुरुचिपूर्ण वर्णन आदि उल्लेखनीय विषय हैं। पृष्ठ-संख्या ४२४, बहुरंगे चित्र ९, सादे चित्र १२, रंग-बिरंगा सचित्र आकर्षक आवरण। पंद्रह वर्षीय ग्राहक-शुल्क रु० ५००.०० तथा सजिल्दका रु० ६००.०० (डाकखर्चसहित) है।

पुराने विशेषाङ्कोंमें एकमात्र उपलब्ध

‘योगतत्त्वाङ्क’

योग-जैसे गम्भीर और कल्याण-साधनोपयोगी विषयको सर्वसुलभ और सहजरूपमें सार्वजनिक करानेकी दृष्टिसे इस अङ्कमें योगको परिभाषित करनेके साथ, योगके महत्त्व, स्वरूप-तत्त्व एवं साधनोंके सभी अङ्ग-उपाङ्गोंपर सरल सुबोध शैलीमें प्रकाश डाला गया है। साथ ही अनेक योग-सिद्ध महात्माओं और योग-साधकोंके जीवन-चरित्र एवं साधना-पद्धतियोंका रोचक वर्णन भी इसमें उपादेय सामग्रीके रूपमें प्रस्तुत है। पृष्ठ-संख्या ४०८, बहुरंगे चित्र ९ एवं अनेक सादे चित्र। मूल्य रु० ५५.०० (डाकखर्चसहित)। सीमित संख्यामें ही बचा होनेसे इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

‘श्रीहनुमान-अङ्क’का दूसरा संस्करण

पाठकोंकी अत्यधिक माँगके कारण, अभी हालमें ही पुनर्मुद्रित हुए ‘श्रीहनुमान-अङ्क’का दस हजारका प्रथम संस्करण हाथों-हाथ बिक जानेपर दस हजारका ही अब दूसरा संस्करण पुनः उपलब्ध कराया गया है। इसकी निरन्तर बनी माँग ही अङ्ककी उपादेयता और लोकप्रियता स्वतःसिद्ध करती है।

श्रीहनुमान्जीके आद्योपान्त जीवन-चरित्रसहित, उनके दिव्य क्रिया-कलापों और अलौकिक लीला-कथाओंका इसमें प्रामाणिक और रोचक वर्णन है। साथ ही श्रीहनुमान्जीकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये विविध स्तोत्र, यन्त्र, मन्त्र, ध्यान और पूजन-विधि आदि साधनोपयोगी प्रचुर सामग्रीका भी इसमें बहुमूल्य समायोजन हुआ है। पृष्ठ-संख्या ५२०, बहुरंगे चित्र ८, मूल्य रु० ४०.००, डाकखर्च रु० ८.०० अतिरिक्त। जिज्ञासु और प्रेमीजनोंको इसे मँगाकर अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिये।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

॥ श्रीहरिः ॥

प्रौढावस्थामें पढ़नेयोग्य गीताप्रेसके कुछ बृहदाकार प्रकाशन

१. गीता-तत्त्वविवेचनी—(लेखक श्रीजयदयालजी गोयन्दका) बहुत बड़े आकार एवं मोटे टाइपोंमें, प्रश्नोत्तर-शैलीमें (२५१५ प्रश्न एवं उनके उत्तर) गीताका व्याख्यात्मक विवेचन, गीताके गूढ़ भावोंका सरल, सुबोध भाषामें स्पष्टीकरण। ऑफसेटकी स्वच्छ, सुन्दर आकर्षक छपाई, पृष्ठ-सं० १०००, भावपूर्ण चित्र-१८, मूल रु० ६०.०० मात्र डाकखर्च रु० २५.०० अतिरिक्त।

२. साधक-संजीवनी—(लेखक स्वामी रामसुखदासजी महाराज) गीताके मर्मको समझने-हेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल, सुबोध भाषामें उपलब्ध यह ग्रन्थ—साधकोंके लिये अत्यन्त उपादेय एवं सहायक है। ऑफसेटकी नवीन प्राविधिद्वारा मुद्रित पृष्ठ-सं० ११८६, भावपूर्ण रंगीन चित्र १८, मूल्य रु० ८०.००, डाकव्यय रु० २८.०० अतिरिक्त।

३. श्रीरामचरितमानस—(गोस्वामी तुलसीदासकृत) सचित्र—(मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी दिव्य लीला-कथाओंका वर्णन एवं लोक-शिक्षण) साहित्यके सभी पक्षों एवं काव्य-कलाकी दृष्टिसे सर्वोच्च शिक्षाप्रद ग्रन्थ। आदर्श गृहस्थ-राजधर्म कर्तव्यबोध, पारिवारिक, सामाजिक आदर्शसहित पातिव्रत-धर्म, भ्रातृप्रेम-सेवाका उच्चादर्श उपस्थित करनेवाला भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, त्याग तथा सदाचारकी शिक्षा देनेवाला सर्वोच्च ग्रन्थ एवं स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, युवा सभीके लिये उत्कृष्ट मार्ग-दर्शन करानेवाला विश्वका अन्यतम ग्रन्थ, भारतीय संस्कृति और धर्म-दर्शनसे परिचित होनेके लिये अन्यतम। ऑफसेटकी नवीनतम प्राविधिसे युक्त अधिक स्वच्छ सुन्दर मुद्रण—पृष्ठ-संख्या ९८४, भावपूर्ण बहुरंगे चित्र-८, आकर्षक सुदृढ़ जिल्दके साथ बहुरंगा आवरण, मूल्य रु० १३०.०० डाकखर्च रु० २५.०० अतिरिक्त।

४. श्रीशुकसुधासागर—(भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य मधुर-लीलाओंका नित्य पठनीय, सुरुचिपूर्ण वर्णन एवं लीला-कथाओंमें आध्यात्मिक सन्देश) सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका सरल भाषामें भाषान्तरण। भगवान्की दिव्य मधुर-लीलाओंके रसास्वादन, एवं लीला-रहस्योंको समझने हेतु इसमें अनेक टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं, जिससे इस ग्रन्थकी उपादेयता बढ़ गयी है। स्वच्छ सुन्दर छपाईसे युक्त, पृष्ठ-सं० १३६२, भावपूर्ण रंगीन चित्र १०, मूल्य रु० १३५.००, डाकखर्च रु० ३१.०० अतिरिक्त।

उपर्युक्त ग्रन्थोंके अन्य संस्करण

गीता-तत्त्वविवेचनी—(१) ग्रन्थाकार राजसंस्करण (सचित्र, सजिल्द) मूल्य रु० ३०.००, डाकखर्च रु० १५.०० अतिरिक्त, (२) ग्रन्थाकार साधारण संस्करण—मूल्य रु० २०.००, डाकखर्च रु० १४.०० अतिरिक्त, (३) अंग्रेजी भाषानुवाद सचित्र, सजिल्द मूल्य रु० २५.००, डाकखर्च रु० १४.०० अतिरिक्त।

साधक-संजीवनी—(१) ग्रन्थाकार राजसंस्करण (सचित्र, सजिल्द) मूल्य रु० ५०.००, डाकखर्च रु० १८.००, (२) ग्रन्थाकार साधारण संस्करण मूल्य रु० ३५.००, डाकखर्च रु० १७.०० अतिरिक्त, (३) पाकेट साइज दो खण्डोंमें, सचित्र, सजिल्द मूल्य रु० ५०.००, डाकखर्च रु० ११.००, (४) ग्रन्थाकार (मराठी अनुवाद) मूल्य रु० ६०.००, डाकखर्च रु० १६.०० अतिरिक्त, (५) ग्रन्थाकार (गुजराती अनुवाद) मूल्य रु० ६०.००, डाकखर्च रु० १६.०० अतिरिक्त।

रामचरितमानस सचित्र, सजिल्द—(१) सटीक मोटे अक्षरोंमें मूल्य रु० ५०.००, डाकखर्च रु० १६.००, (२) मझला साइज (सटीक) मूल्य रु० २५.००, डाकखर्च रु० ११.००, (३) बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ, मूल्य रु० ३०.००, डाकखर्च रु० १२.००, (४) मूल मझला साइज, मूल्य रु० १६.००, डाकखर्च रु० १०.००, (५) मूल गुटका, मूल्य रु० १०.००, डाकखर्च रु० ८.००, प्रत्येक काण्डके सटीक संस्करण तथा सुन्दरकाण्डका मूल पाठ भी उपलब्ध है।

श्रीमद्भागवत सटीक—ग्रन्थाकार सचित्र सटीक दो खण्डोंमें, सजिल्द मूल्य रु० १२०.००, डाकखर्च रु० २५.००, श्रीमद्भागवत-सुधासागर भाषानुवाद मूल्य रु० ५५.००, डाकखर्च रु० १५.००, श्रीमद्भागवत मूल मोटे टाइपोंमें मूल्य रु० ४०.००, डाकखर्च रु० १२.०० अतिरिक्त।

ॐ श्रीगणेशाय नमः



वर्ष
६७

संख्या
१२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण २,०५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, वि०-सं० २०५०, श्रीकृष्ण-सं० ५२१९, दिसम्बर १९९३ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-गौरी-वन्दना	८०९	१०-साधकोंके प्रति— (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	८२४
२-कल्याण (शिव)	८१०	११-रामकृष्ण परमहंसका जीवन— स्वयंमें एक शिक्षा (श्रीशरदचन्द्रजी श्रोत्रिय)	८२६
३-वासुदेवः सर्वमिति (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	८११	१२-भज ले रे मन ! राम !	८२९
४-यमराजका अपने दूतोंके प्रति आदेश	८१३	१३-दुःख इसी क्षण मिट सकता है (एक साधक)	८३३
५-कलिकालमें कल्याणका एकमात्र साधन— श्रीगङ्गा-स्नान (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु, शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके सदुपदेश) [गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी]	८१४	१४-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	८३५
६-गङ्गा ! तेरी जय हो ! (डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी) [कविता]	८१५	१५-आइये गोपालनका संकल्प करें (श्रीअर्जुनलालजी बन्सल)	८३६
७-एक उपाय (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	८१६	१६-साधनोपयोगी पत्र	८३७
८-भगवत्स्मरणसे दुःखनिवृत्ति (महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी)	८१९	१७-पढ़ो, समझो और करो	८४०
९-एक महात्माका प्रसाद	८२१	१८-मनुष्यके धर्म	८४३
		१९-मनन करने योग्य	८४४
		२०-संख्या २ से १२ तक प्रकाशित लेखादिकी वार्षिक विषय-सूची	८४५

चित्र-सूची

- १-हृषीकेशका पाञ्चजन्य-नाद
२-श्रीसीताजीका गौरी-पूजन

(इकरंगा)
(रंगीन)

आवरण-पृष्ठ
मुख-पृष्ठ

प्रत्येक	साधारण	{ जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनंद भूमा जय जय ॥ जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥ जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥	{ कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ५५.०० रु० विदेशमें ९ डालर (अमेरिकन)
अङ्कका	मूल्य		
भारतमें	२.५० रु०		
विदेशमें	२० पेंस		

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

३ ई०

संख्या

८२४

८२६

८२९

८३३

८३५

८३६

८३७

८४०

८४३

८४४

८४५

पृष्ठ

पृष्ठ

वार्षिक

सहित)

.००रु०

१ डालर

रेकन)



श्रीसीताजीका गौरी-पूजन



आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

वर्ष ६७ } गोरखपुर, सौर पौष, वि०सं० २०५०, श्रीकृष्ण-सं० ५२१९, दिसम्बर १९९३ ई० { संख्या १२
पूर्ण संख्या ८०५

गौरी-वन्दना

जय जय गिरिबरराज किसोरी । जय महेस मुख चंद चकोरी ॥
जय गजबदन षडानन माता । जगत जननि दामिनि दुति गाता ॥
नहि तव आदि मध्य अवसाना । अमित प्रभाउ बेदु नहि जाना ॥
भव भव बिभव पराभव कारिनि । बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि ॥
पतिदेवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख ।
महिमा अमित न सकहि कहि सहस सारदा सेष ॥
सेवत तोहि सुलभ फल चारी । बरदायनी पुरारि पिआरी ॥
देबि पूजि पद कमल तुम्हारे । सुर नर मुनि सब होहि सुखारे ॥

कल्याण

याद रखो—अकर्मण्यता न तो भगवान्पर निर्भरता है और न वैराग्य ही है। भगवान्पर निर्भरतामें तो जीवन भगवान्की सेवासे भरा होता है। भगवान्का सेवक आलसी नहीं होता, वह तो नित्य नये उत्साह और उल्लाससे भगवान्की सेवामें लगा रहता है।

याद रखो—आलसी और कर्मसे जी चुरानेवाले मनुष्य कई बार निर्भरता या वैराग्यके नामपर अपने आलस्य और अकर्मण्यताको छिपाना या युक्तियुक्त सिद्ध करना चाहते हैं; परंतु वस्तुतः यह उनका प्रमाद है।

याद रखो—जो पुरुष भगवान्पर निर्भर होगा, वह अपने एक-एक क्षणको भगवत्प्रीतिके लिये भगवान्के अनुकूल कार्यमें लगायेगा। उसे कभी भगवत्सेवासे अवकाश ही नहीं मिलेगा। वह अपने मनको, बुद्धिको और इन्द्रियोंको निरन्तर भगवान्की सेवामें नियुक्त रखेगा।

याद रखो—जो लोग भगवान्की निर्भरताका नाम लेकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना, सोना या प्रमादमें लगे रहना चाहते हैं, वे अपने-आपको धोखा देते हैं। अकर्मण्यता तमोगुणका मूर्तिमान् रूप है और भगवान्पर निर्भरता सत्त्वगुणका फल है। इन दोनोंमें कभी मेल नहीं हो सकता।

याद रखो—जो वैराग्यवान् पुरुष हैं, उनको जगत्के किसी विषयमें, किसी भी इस लोक या परलोकके भोग-पदार्थमें आसक्ति नहीं है, न वे किसी पदार्थकी कामना करते हैं, परंतु अपने परमार्थ-साधनमें वे अत्यन्त तत्पर रहते हैं। संसारमें जबतक राग रहता है, तबतक परमार्थमें पूरी प्रवृत्ति नहीं होती। संसारकी आसक्ति बार-बार मनको खींचकर भोगोंकी ओर ले जाती है, परंतु जब संसारासक्ति छूटकर विराग प्राप्त हो जाता है, तब तो पूर्णतया परमार्थ-साधनमें संलग्नता हो जाती है। ऐसी स्थितिमें अकर्मण्यता कैसे रह सकती है ?

याद रखो—पहले विचार होता है—कौन वस्तु त्याज्य है, कौन ग्राह्य है; कौन दुःखरूप है, कौन सुखस्वरूप है; कौन अनित्य है, कौन नित्य है; कौन असत् है, कौन सत् है; किससे

जीवनमें छूटना है और किसको पाना है। विवेकके द्वारा जब यह भलीभाँति निश्चय हो जाता है कि एकमात्र परमात्मा ही ग्राह्य हैं—आत्यन्तिक सुखस्वरूप हैं। वे ही नित्य हैं, सत् हैं और उन्हींको प्राप्त करना है। उनके अतिरिक्त इहलोक और परलोकके सभी भोग त्याज्य, दुःखरूप, अनित्य, असत् हैं और उनसे भलीभाँति छूटना है। तब परमात्माके प्रति चित्तका अनुराग होता है और भोगोंके प्रति अपने-आप ही वैराग्य हो जाता है। इस वैराग्यसे छः प्रकारकी सम्पत्ति (धन) मिलती है—उनके नाम हैं—शम (मनका वशमें होना), दम (इन्द्रियोंका वशमें होना), तितिक्षा (सहनशीलता), उपरति (भोगोंके सामने रहनेपर भी उनपर मन न चलना), श्रद्धा (परमात्मामें, उनकी प्राप्तिमें और प्राप्तिके साधन बतलानेवाले शास्त्र तथा संतोंके वाक्योंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास) और समाधान (सारी शंकाओंका मिट जाना)।

याद रखो—जब ये छः सम्पत्तियाँ मिल जाती हैं, तब मोक्षकी—परमात्माको प्राप्त करनेकी तीव्र लालसा जाग उठती है। ऐसी अवस्थामें साधक सब कुछ भूलकर प्राणपणसे परमार्थ-साधनमें लग जाता है। उसका मन, चित्त, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सभी अन्तर्मुखी होकर परमात्माकी प्राप्तिके पथपर अनवरत चलने लगते हैं। अतएव जो लोग वैराग्यके नामपर अकर्मण्यताको आश्रय देते हैं, वे सर्वथा भ्रममें हैं।

याद रखो—भगवान्की निर्भरतामें भक्तका जीवन सर्वदा और सर्वथा भगवत्सेवा-परायण बन जाता है और वैराग्य उत्पन्न होनेपर वह परात्मसाधनमें घुल-मिलकर साधनरूप हो जाता है। इन दोनोंमें ही अकर्मण्यता या आलस्यको स्थान नहीं है।

याद रखो—ऐसे साधकोंके द्वारा होनेवाले 'कर्म' अवश्य ही विषयी पुरुषोंके कर्मोंसे भिन्न प्रकारके होते हैं। विषयी पुरुषोंके कर्म बाँधनेवाले होते हैं—और इन साधकोंके कर्म कर्मबन्धनसे मुक्ति दिलानेवाले। इसीलिये इन कर्मोंके नाम 'कर्म' न होकर 'निष्कामसेवा', 'भक्ति' या 'ज्ञान' होता है। —'शिव'



वासुदेवः सर्वमिति

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो भाई भगवान्से मिलनेकी जितनी अवधि बनाता है उतने ही समयमें भगवान् मिल जाते हैं, किंतु अवधि इस जीवनके अन्ततक तो बना सकते हैं, पर इसके बादकी नहीं बनानी चाहिये। हम संसार मान रहे हैं, भगवान् कहते हैं कि मैं ही अनेक रूपसे हो रहा हूँ। अतः यह जन्म शेषका जन्म समझना चाहिये—

कबहुँकर करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।

भगवान् करुणा करके बिना ही कारण मानव-शरीर देते हैं हमारे आचरणोंकी तरफ वे नहीं देखते। हम भगवान्को सुहृद् मान लें तो हमारा कल्याण हो जाय। भगवान्ने आहार, निद्रा, मैथुनके लिये यह शरीर नहीं दिया है, मनुष्य-शरीरमें ही यह समझमें आता है कि सब वासुदेव है। मनुष्य बना दिया तो पूर्ण दया हो गयी। मनुष्य-शरीर दिया तो अपनी प्राप्तिका मौका दिया, यह भगवान्की सुहृदता है, यह भी मालूम करा दिया, 'वासुदेवः सर्वमिति' यह घोषणा भी करा दी, अतः विश्वास करके समझ लेना चाहिये कि भगवान्ने ही ऐसा रूप धारण किया है, यह समझकर भगवान्के दर्शन करते हुए अपनेको भगवान् प्राप्त हो गये, ऐसा मान ले, एक बात तो यह है।

दूसरे आज भगवान् मिलनेके लिये तैयार हैं, विश्वास करना चाहिये साथ ही प्रतीक्षा भी करनी चाहिये, बार-बार बाट देखता रहे, जैसे कोई अपना मित्र आनेवाला हो और गाड़ीका समय सूचित न करे तो वह सब गाड़ियोंको देखता है और कभी आता है तो मिल ही जाता है। एक मिनटमें सबको देख जाता है क्या यह है—नहीं यह नहीं—इस तरह कोई भी दीखे, खटका हो, सबमें भगवान्के आनेकी बाट देखे, इस प्रकार उड़ीकना (आतुरतासे प्रतीक्षा करना) सच्चा भजन है। गाड़ीमें आनेवाले अपने मित्रका तो विचार भी बदल सकता है, किंतु भगवान्का आना तो हमारेपर निर्भर है।

भरोसा करके उड़ीकना चाहिये। भगवान् आ गये। वे भगवान् आये, इस तरह उड़ीकना चाहिये। सारा अवध भगवान्के विमानको देखकर उछलने लगा। सबको उड़ीकना लगी हुई थी। सब बहुत उत्साहित हो रहे थे। भगवान् देखते हैं कि इनका तो वैकुण्ठवासियोंसे भी अधिक प्रेम है, जैसे

चकोरोंके झुंड चन्द्रमाको देखते हैं, वैसे सब देखते थे, कष्टको एकदम भूल गये, भगवान्ने भी उनके अनुसार कार्य किया एक क्षणमें सबसे मिल गये—

छन महि सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥

क्षणमें भगवान् सबसे मिल गये, अनन्त रूप हो गये—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला ॥

जिससे मिलते हैं वही आनन्दित होता है। भगवान् दोषोंकी तरफ ख्याल नहीं करते। फिर हम दोषोंकी तरफ देखकर अनुत्साहित क्यों हों।

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥

भगवान् बड़े ही दयालु हैं। उद्धार करनेके लिये तैयार रहते हैं। धूलिके कण गिने जा सकते हैं, पर हमारे जन्म कितने हो गये, यह गिनना कठिन है। यह अन्तका जन्म, मनुष्यका जन्म दे दिया बड़ी भारी दया कर दी।

भगवान्की इस दयाको यदि हम स्वीकार नहीं करें तो हमारी बड़ी ही मूर्खता है। जब भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

तब हम अज्ञानी क्यों बनें, 'सब परमात्मा हैं' यह माननेमें क्या लगता है। इस प्रकार जो भजता है वही महात्मा है। जब ऐसी बात है तो हम सबको परमात्मा ही क्यों न समझें। यह बात मनुष्य-जन्ममें ही मानी जा सकती है, पशु-पक्षी योनियोंमें इसके समझनेका कोई साधन नहीं है। हनुमान् आदिकी-जैसी बात तो असंख्य कोटि जीवोंमें किसीमें ही घटती है। उस प्रकारकी आशा नहीं रखकर हमें तो इसी जन्ममें—इस जन्मके थोड़ेसे हिस्सेमें ही भगवान्को प्राप्त कर लेना चाहिये।

भगवान्का स्वरूप निराकार बतलाया है, उसके अनुसार यह युक्ति समझनी चाहिये।

बादलके भीतर-बाहर सर्वत्र आकाश है, बादलकी-ज्यों दृश्य शरीरमें सर्वत्र आकाश यानी विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे—सब जगह परिपूर्ण हो रहे हैं। हम परमात्माके संकल्पके आधार हैं। हम नेत्रोंको बंद कर लें तो अपने भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण

है। ऐसा समझ लें। हम आनन्द-ही-आनन्दसे परिपूर्ण हैं। यह शरीर ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, उसीमें स्थित है और उसीमें लीन हो जाता है।

परमात्मा आनन्दरूपसे हमारे बाहर-भीतर परिपूर्ण है। आनन्दके सिवा कोई वस्तु नहीं। वही आनन्द, आमोद-प्रमोद, सुखके रूपमें आता है। आनन्द अत्यन्त सुख-रूप है, उस सुखकी कोई सीमा नहीं। आनन्द-ही-आनन्द है, आनन्दको ब्रह्म समझकर उपासना करनी चाहिये, बुद्धिमें निश्चय करना, मनसे मनन करना। उस आनन्दका नाम ही नारायण है।

नारायण, नारायण, नारायण ! आनन्दमयका उच्चारण करनेसे आनन्दमय मालूम होता है, जैसे कोई आनन्दका समुद्र उमड़ आया हो। वह आनन्द अपार है, उसमें कोई दूसरी वस्तु नहीं, अतः वह पूर्ण आनन्द है, वह शान्त आनन्द है—सम है, वह इतना गहरा है कि उसमें सिवा उसके दूसरी वस्तु ही नहीं—वह जड़ नहीं है—चेतन-स्वरूप है, वह अनन्त है। उसकी सीमा नहीं है, वह सब जगह समभावसे परिपूर्ण है। वह नित्य है अचल है ऐसा वह आनन्द है। अव्यक्त है, शुद्ध है निर्विकार है।

ऐसा आनन्द शरीरके बाहर-भीतर सब जगह परिपूर्ण है। शरीर चलता है तो आनन्दमें ही चलता है। आकाशकी तरह आनन्द सब जगह है, साधन-कालमें भी आनन्द, सिद्धावस्थामें भी आनन्द। शब्द, अर्थ, ज्ञान—सब आनन्द-ही-आनन्द, आनन्दके सिवा दूसरी वस्तु ही नहीं, हृदयमें आनन्दका ही अनुभव करे। प्रत्यक्षमें भी आनन्द, साधनमें भी आनन्द, फलमें भी आनन्द। सारे भूत-शरीर आखिरमें आनन्दमें ही विलीन हो जाते हैं और एक आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है, जैसे सब बादल जब आकाशमें विलीन हो जाते हैं तब एक आकाश ही रह जाता है, वैसे ही एक आनन्द ही रह जाता है। ऐसे ही ध्यानमें मस्त होकर ही चलें।

सगुणके विषयमें दूसरी बात कही जाती है, हमलोगोंको यह समझना चाहिये कि वे साक्षात् परमात्मा ही हमारे साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। जैसे राम-रूपमें प्रकट होकर भाइयोंके साथ की थी, कृष्ण-रूपमें गोपियोंके साथ की थी, वैसे ही हमारे साथ-साथ क्रीड़ा कर रहे हैं—ऐसे देखें। रमण कहो, क्रीड़ा कहो; एक ही बात है। जैसे अत्यन्त प्रिय मित्रके साथ खेलते

हैं, हँस-हँसके बोलते हैं, वैसे ही—उन्हींके साथ चलें। सोते हैं तो पास-पासमें सोते हैं, हँसते हैं तो हँसते हैं। सारी क्रियामें एक दूसरेकी नकल करते हैं, उनकी वाणी बड़ी आनन्ददायिनी है, दयालु है, सुनकर शरीरमें कम्प होता है। हृदयमें क्षण-क्षणमें सिहरन आने लगती है। हृदयरूपी सागरमें भगवान्के भावकी लहरें उठती हैं। मनमें दर्शन अन्तर-नेत्रोंसे हो रहे हैं। बड़ा ही मधुर रूप है, मानो नेत्रोंद्वारा रसास्वाद मिलता है, नेत्रोंद्वारा मानो अमृतका ही पान कर रहा हूँ। स्पर्श करता हूँ तो देखता हूँ कैसा दिव्य स्पर्श है, स्पर्शके द्वारा अमृतका आस्वाद ले रहा हूँ। दिव्य गन्ध स्वाभाविक ही हमारी नासिकाके भीतर जा रही है, वे भगवान् हमें देख रहे हैं। अपनी प्रेममयी दृष्टिके द्वारा प्रेमसे भिगो रहे हैं। उस आनन्दसे हम पूर्ण हो रहे हैं। भगवान् जिसको कृपा-दृष्टिसे विलोकते हैं फिर उसे चिन्ता, भय, शोक कहाँ।

प्रेमकी दृष्टिसे देखते हुए हमें प्रेमसे पूर्ण कर रहे हैं। ऐसे प्रभुको हर समय देखता रहे। चन्द्रमा जैसे चाँदनी छिटका कर शीतल करता है, वैसे भगवान् प्रेमरस बरसाते हैं। सारे रोम-रोम—मन-बुद्धि सब भगवान्के प्रेमसे परिपूर्ण हो गये। जैसे कोई जादू करके अपने वशीभूत करता हो। प्रेमकी रस्सीसे ऐसा बाँध लिया कि हम उसे छोड़ ही नहीं सकते। बस हमारी वह अवस्था सदा ही बनी रहे, हमें कोई आवश्यकता नहीं, बस सदा प्रेम-रस पीते ही रहें। श्रीमन्नारायण, नारायण, नारायण। आनन्दमय, आनन्दमय, आनन्दमय। पूर्ण आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द। अब एक बात और सुनायी जाती है। उपनिषदोंमें यह बात दिखायी है जहाँ तत्त्व कहा गया है, वहाँ कहा गया है कि यह ऐसा विषय है कि यदि सूखी लकड़ीको सुनाया जाय तो वह भी सजीव हो जाय। हमलोगोंमें, जो मुर्देकी माफिक हैं, उनमें भी रस आ जाना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण जब प्रेमसे वंशी बजाते तो लकड़ी गीली हो जाती, हरी हो जाती तो उनसे धुआँ निकलने लगता—तो रसोई ठीक नहीं होती। भगवान् कहते जब हमको यहाँ बुलाना है तब रसोई न हो तो क्या।

ये बातें श्रीकृष्णकी हैं। अपने घरकी तो हैं नहीं, अपने तो फोनोग्राफकी-ज्यों बोल देते हैं। सब भगवान्के ही वचन हैं। कई सीधे आये हैं, कई कुछ मिलकर आये हैं। भगवान्के

वचन आकाशवाणीसे भी उतरते हैं, महात्माओंके वचनोंसे उतरते हैं, शास्त्रोंसे उतरते हैं। अपने तो यह समझना चाहिये कि ये हैं तो भगवान्‌के वचन न, पर रंग क्यों नहीं चढ़ता, वस्त्र जितना साफ होता है उतना ही रंग आता है। जरूर थोड़ा रंग हमारेपर भी आता है, किंतु इसीसे संतोष नहीं कर लेना चाहिये। रंग ऐसा होना चाहिये कि चमकने लग जाय। इस भगवद्विषयके रंगमें साबुन भी है। मैला हो तो साबुन बारंबार रगड़नेसे मैलको काट-काटकर कपड़ेको साफ कर देता है और एकदम रंग चढ़ जाता है। फिर यदि कहें इतना विलम्ब क्यों ? तो यही बात है कि कपड़ा मैला है। भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यकी बातें ही रंग हैं, बार-बार उनमें डुबकी लगानी चाहिये, समय-समयपर नामका उच्चारण करना साबुनकी रगड़ है। इससे एकदम साफ हो जाता है तो तुरंत रंग चढ़ जाता है।

लोहचुगा (चुंबक) हो तो जमीनपर लगनेसे लोहेके परमाणु उसके साथ आ जाते हैं, पर उसका मसाला घिस करके साफ कर दो तो लोहेको नहीं पकड़ सकता। हमारे हृदयमें मैल है तभी तो विषयोंकी तरफ जाता है, उसको घिसकर साफ कर दें तो फिर उसकी तरफ नहीं जा सकता। प्रेम या ज्ञानके साबुनसे घिसकर साफ कर दें तो फिर मैलको छूता ही नहीं, छोटे बच्चेको ज्ञान नहीं होता, तभी तो मैलेकी तरफ जाता है, घृणा हो जाती है तो फिर नहीं जाता, बार-बार घृणा करानेसे ऐसी घृणा हो गयी कि घृणा करानेवालोंसे भी ज्यादा घृणा हो गयी, इसी तरह जब विषयोंमें घृणा हो जाती है तो उसमें दुर्गन्ध आती है। पासमें भी नहीं जा सकता। वैराग्यका नशा चढ़

जाता है तो फिर अंतर-फुलेल पेशाबके समान हो जाते हैं, जितनी भी स्त्री आदि हैं सभी विष्टा-मूत्रमय हैं। विष्टा-मूत्रमें और उसमें फरक ही क्या है, पाखानेके समान हैं। उस साक्षात् आनन्दको छोड़कर घृणित पदार्थकी तरफ दृष्टि करना मूर्खता है, थोड़ा भी ज्ञान हो जाय तो फिर पासमें भी नहीं जाता।

जब प्रभुमें प्रेम हो जाता है, तो वह उसे छोड़कर कहीं जा ही नहीं सकता, आनन्दका ही प्रेमके रूपमें प्रादुर्भाव होता है। रस, आनन्द, प्रेम उसके ही मोटे रूप हैं। जैसे आकाशमें बादल ही बूँद, ओले, बरफके रूपमें होते हैं, वैसे ही वही आनन्दमय परमात्मा ही रस, आनन्द, सुखके रूपमें परिणत होते हैं, उस आनन्दमें डूब जानेपर फिर उसे छोड़ ही कैसे सकता है। उस भगवान्‌का वियोग उसे तड़पाता है, जैसे मछलीका जब जलसे वियोग होता है तब फिर उसे जलमें डाले तो उसमें प्राण आ जाते हैं। भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभावमें हम डूब रहे हैं। ऐसे डूबे हुए हैं, जैसे रंगकी हौदमें कपड़े डूबो दे। सर्वत्र रंग-ही-रंग हो जाय, चेतनत्वरूप जलमें घुले हुए रंगमें ऐसे रंग गये हैं कि बस उसके सिवाय कुछ नहीं। सब तन्मय होकर आनन्दरूप हो रहे हैं।

जहाँ चलते हैं, वह इष्टरूप साथ-साथ चलता है। उसके दर्शन, भाषण, स्पर्शसे उत्तरोत्तर इतने मुग्ध हो रहे हैं कि अपनेको ही भूल गये हैं, उसके सिवाय न कोई दूसरी चीज देखती है और न अनुभव ही होता है।

॥ सियावर रामचन्द्रकी जय ॥



यमराजका अपने दूतोंके प्रति आदेश

यमराज कहते हैं—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२९)

‘जिनकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान्‌ श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्सेवा-विमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो।’



कलिकालमें कल्याणका एकमात्र साधन—श्रीगङ्गा-स्नान

(अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके सदुपदेश)

एक बार पतितपावनी कलिमलहारिणी भगवती भागीरथी श्रीगङ्गाजी महारानीके परम पवित्र तटपर सुप्रसिद्ध तीर्थ गङ्गमुक्तेश्वरमें एक विराट् सनातनधर्म-सम्मेलन हुआ था, जिसमें अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज कृपाकर पधारे थे। वहाँ श्रीमहाराजजीने जो महत्त्वपूर्ण सदुपदेश दिये थे, उनका सारांश यहाँपर दिया जा रहा है। आशा है, पाठक इसे बड़े ध्यानसे पढ़कर लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

श्रीगङ्गाजीकी अद्भुत विलक्षण महिमा

पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराजने सम्बोधित किया—
हिन्दुओं एवं सनातनधर्मियों ! याद रखो कि यह तुम्हारा बड़ा ही परम सौभाग्य है और महान् भाग्योदय हुआ है कि जो तुम्हारा इस धर्मप्राण भारतमें जन्म हुआ तथा तुम्हें परम पवित्र हिन्दू-जातिमें जन्म मिला और तुम सनातनधर्मी घरानोंमें उत्पन्न हुए। इसीसे आज तुम्हें यहाँ श्रीगङ्गमुक्तेश्वर-तीर्थपर आकर पतितपावनी, कलिमलहारिणी भगवती भागीरथी श्रीगङ्गाजी महारानीके दर्शन करने, स्नान करनेका परम सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। श्रीगङ्गाजी महारानीका दर्शन होना और श्रीगङ्गाजीमें स्नान करनेका अवसर मिलना—यह कोई मामूली बात नहीं है। जबतक मनुष्यके पूर्वजन्मोंके महान् पुण्योदय नहीं होते, तबतक उसे कभी भी श्रीगङ्गा-स्नान करनेके लिये शुभ अवसर प्राप्त नहीं होता। श्रीगङ्गा-स्नान करनेसे और श्रीगङ्गाजीका नाम-स्मरण करनेमात्रसे तथा श्रीगङ्गाकी वायुके स्पर्श करनेमात्रसे अथवा श्रीगङ्गाकी परम पवित्र रज्जके स्पर्श करनेमात्रसे प्राणीके अनन्त जन्मोंके पाप-ताप भस्मीभूत हो जाते हैं। जिस समय सनातनधर्मी अपने मनमें श्रीगङ्गा-स्नान करनेका विचार करता है और जिस समय श्रीगङ्गा-स्नान करनेके लिये घरसे चलता है तो उस समय यही समझना चाहिये कि हमारे किसी जन्मान्तरीय पुण्यकर्मका आज उदय हुआ है, जो हमें मुक्तिदायिनी गङ्गास्नानकी प्रेरणा मिल रही है। श्रीगङ्गाके बिना भारत देशकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है। प्रातःस्मरणीय महर्षि श्रीवाल्मीकिजी महाराजने भी

श्रीगङ्गाजीसे अपनी मनःकामना इस प्रकार प्रकट की थी—

काकैर्निष्कृषितं श्वभिः कवलितं गोमायुर्भिलुण्ठितं
स्रोतोभिश्चलितं तटाम्बुलुलितं वीथीभिरान्दोलितम् ।

दिव्यस्त्रीकरचारुचामरमहत्संवीज्यमानाः कदा
द्रक्ष्येऽहं परमेश्वरि त्रिपथगे भागीरथी स्वं वपुः ॥

‘हे परमपावनी श्रीगङ्गे ! हमारा ऐसा परम सौभाग्य कब होगा जब कि हम अपनी देहको तुम्हारे तटपर कौओंसे नुचता हुआ, कुत्तों-सियारोंसे खाया जाता हुआ और तुम्हारे प्रवाहमें बहता हुआ अथवा तुम्हारी तरंगोंमें झूलता हुआ तथा चैवर झलती जा रही अप्सराओं—देवाङ्गनाओंके साथ स्वर्गारोहण प्राप्त करता हुआ देखेंगे।’

साक्षात् जगत्पिता अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीरामचन्द्र राघवेन्द्र प्रभु जब लंका-विजय करनेके पश्चात् लंकासे पुष्पकविमानमें बैठकर अपनी श्रीअयोध्या-पुरीको चलने लगे तो जिस समय रास्तेमें भगवती भागीरथी श्रीगङ्गाजी महारानी आयीं तो झटसे भगवान् श्रीरामने पासमें विराजमान जगदम्बा भगवती श्रीसीताजी महारानीसे देवद्वी गङ्गाजीको प्रणाम करनेके लिये कहा—

पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम कर सीता ॥

साक्षात् जगत्पिता भगवान् श्रीरामने और साक्षात् जगन्माता श्रीसीता—दोनोंने मिलकर हाथ जोड़कर श्रीगङ्गाजी महारानीको बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम किया। ऐसी है श्रीगङ्गाजी महारानीकी अद्भुत विलक्षण महिमा, जो साक्षात् परब्रह्म भी श्रीगङ्गाजी महारानीको देखते ही प्रणाम करते हैं। इन अमित महिमामयी भगवती गङ्गा माताके माहात्म्यका भला कौन वर्णन कर सकता है ? महान् तत्त्ववेत्ता अद्वैतवादी जगद्गुरु भगवान् ‘श्रीशंकराचार्यजी महाराजने श्रीगङ्गा महारानीकी अद्भुत महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

‘गङ्गाजललवकणिका पीता’

वह प्राणी वास्तवमें धन्य है जो कि परमपवित्र श्रीगङ्गाजलका एक कण भी पान कर लेता है, कृतकृत्य हो जाता है और भवसागरसे पार हो जाता है। हिन्दूके लिये तो

श्रीगङ्गा मैया प्राणाधार हैं। हिन्दू जब भी नित्यप्रति स्नान करता है तो वह सबसे पहले अपनी श्रीगङ्गा मैयाको बुलाता है और श्रीगङ्गा मैयाका स्मरण करते हुए कहता है—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।

नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु ॥

श्रद्धापूर्वक इतना उच्चारण करते ही बस, वहाँ तत्काल श्रीगङ्गा मैया उपस्थित हो जाती हैं और उसे श्रीगङ्गा-स्नानका फल अनायास घर बैठे प्राप्त हो जाता है। भारतके पहलेके सभी बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् अपने समस्त वैभवको और अपने समस्त राजपाटको त्यागकर पापतापहारिणी भगवती भागीरथी श्रीगङ्गाजी महारानीके परम पवित्र तटपर अपनी फूसकी झोंपड़ी बनाकर उसमें रहनेमें ही स्वर्गसे भी बढ़कर आनन्दकी अनुभूति करते थे और अपना महान् परम सौभाग्य माना करते थे तथा पूज्या श्रीगङ्गा मैयाकी तरंगोंको देखकर ही परम सुख-शान्तिका अनुभव किया करते थे। श्रीगङ्गाजी साक्षात् भगवान्का स्वरूप हैं। श्रीगङ्गाजीपर आकर सबको

अपने केश—बाल कटवाने चाहिये और अपना मुण्डन कराना चाहिये। मनुष्य जब श्रीगङ्गा-स्नान करने जाता है तो उसके शरीरमें विराजमान उसके पाप बहुत घबराते हैं और डरते हैं कि यदि इसने श्रीगङ्गा-स्नान किया तो हमें इसके शरीरसे भागना पड़ेगा, सो इसलिये उसके वालोंमें आकर बैठ जाते हैं। मुण्डन करा देनेसे फिर पापोंको रहनेका स्थान नहीं मिलता, इसलिये तुरंत भाग जाते हैं और फिर वह श्रीगङ्गा-स्नान करनेवाला प्राणी निष्पाप हो जाता है। श्रीगङ्गाजी महारानीकी यह भी एक विशेषता है कि श्रीगङ्गाजीका स्नान और श्रीगङ्गाजीका जलपान किया हुआ अपना प्रभाव एक वर्षतक बराबर बनाये रखता है। जिसने श्रीगङ्गाजलपान किया है यदि वह प्राणी श्रीगङ्गाजल पीनेके दिनसे एक वर्षके अंदर अपना शरीर छोड़ देता है अथवा किसी कारणवश उसकी मृत्यु हो जाती है, तो श्रीगङ्गाजलके प्रभावसे उसे अनायास मुक्ति मिल जाती है और उसका यमदूतोंसे पाला नहीं पड़ता तथा उसकी मुक्ति भी हो जाती है। (गोलोकवासी भक्त श्रीगुमशरणदासजी)

गङ्गा ! तेरी जय हो !

(डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

भारतके जन-जनकी माता, गङ्गा तेरी जय हो !

तू धरतीकी सुख-समृद्धि है, भाग्य और सौभाग्य अचल है ।

महैश्वर्य तू मूर्त प्रकृतिका, मधुर सुधामय सलिल अतल है ॥

पुण्योंका तू कोष सनातन, कल्मषहर प्रातः अवगाहन ।

धार अपार प्रवाहित प्रतिपल, लहरोंका नित नूतन नर्तन ॥

दीनों-दलितोंकी तू त्राता, गङ्गा तेरी जय हो !

एक बार जो तुझको देखे, तप्त हृदय शीतल हो जाये ।

एक बार जो तुझको छूए, रोम-रोम निर्मल हो जाये ॥

एक बार जो डुबकी मारे, अङ्ग-अङ्ग पावन हो जाये ।

एक बार जो करे आचमन, धन्य-धन्य जीवन हो जाये ॥

दुरितहारिणी मोक्षप्रदाता, गङ्गा ! तेरी जय हो !

विष्णुदेवके नखसे निकली, देवन्दी जगमें कहलाती ।

शंकरके सिरपर लहराती, जटा-जालमें सौ बलखाती ॥

शैलसुताके कुटिल कटाक्षसे आहत होकर भी इठलाती ।

शिव-ताण्डवके ताल-तालपर तरल लास्य करती, मँडराती ॥

ललितकलाकी तू उद्गाता, गङ्गा ! तेरी जय हो !

'गङ्गा' शुभ सुखदायक संज्ञा, अमृत घोलती कर्ण-कुहरमें ।

स्मरण-मात्रसे ही रच देती ऋचा शान्तिकी अन्तस्तलमें ॥

गङ्गाके तटकी महिमासे मरण-महोत्सव हो जाता है ।

'गङ्गा' कहते ही रौरव, सुरपुरका गौरव हो जाता है ॥

तुझसे सबका माँका नाता, गङ्गा ! तेरी जय हो !

मुखरित वेद, पुराण, शास्त्र, सब गङ्गाकी महती महिमासे ।

अम्बर-अवनी है अनुनादित, गङ्गा-लहरीकी गरिमासे ॥

गङ्गाजल औषध कलियुगमें, गङ्गा करती शमन शोकका ।

दरस-परससे, स्नान-पानसे मङ्गल करती सकल लोकका ॥

तुझसे सब माँका सुख पाता, गङ्गा ! तेरी जय हो !

एक उपाय

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

(गीता ७।१९)

श्रीभगवान् कहते हैं—हे अर्जुन ! बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें ज्ञानवान् भक्त यह 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा बहुत दुर्लभ है।

भगवान्के इन वचनोंसे यह सिद्ध है कि जो पुरुष सबको भगवान् समझकर भगवान्का भजन करता है, उसका फिर जन्म नहीं होता, क्योंकि ऐसा साधन जिस जन्ममें होता है, वही बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है। गीताका अध्ययन करनेवाले इस सिद्धान्तसे भलीभाँति परिचित हैं कि भगवान् ही इस विश्वके रूपमें प्रकट हो रहे हैं; सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदिमें तेज और जीवन ही नहीं, प्रत्युत सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवताओंसहित समस्त विश्वप्रपञ्च ही उनका स्वरूप है, वे ही जगत्के भिन्न-भिन्न रूपोंमें अपनेको प्रकट कर रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(गीता ७।७)

हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त किञ्चित् भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सारा जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंकी भाँति केवल मुझमें ही गुँथा हुआ है। इसी परम तत्त्वको जाननेकी और जाननेवालेकी महिमा गीतामें स्थान-स्थानपर गायी गयी है। कुछ स्थल देखिये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

(४।२४)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्रपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(५।१८-१९)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(६।२९ से ३२)

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि × × × ॥

(७।१२)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

(९।१४)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

(१०।८)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

(१८।२०)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८।४६)

'अर्पण ब्रह्म है, हवि (हवन-सामग्री) ब्रह्म है, अग्निरूप ब्रह्ममें कर्तारूप ब्रह्मके द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है। अतः कर्मरूप ब्रह्ममें समाधिस्थ पुरुषरूप ब्रह्मको प्राप्त होनेयोग्य वस्तु भी ब्रह्म ही है। विद्या और विनयसे युक्त (पूजनीय) ब्राह्मणमें, (पवित्र दूध देनेवाली मातारूप) गौमें, (राजाओंके वाहन) हाथीमें, (न छूने लायक तामसी पशु) कुत्तेमें और (पापदेह) चाण्डालमें (इतने व्यावहारिक भेद होनेपर भी) जो (आत्मरूपसे) समभावसे देखनेवाले हैं वही पण्डित हैं। जिनका मन (इस प्रकार) समत्वमें स्थित है, वे जीते हुए ही सम्पूर्ण संसारको जीत लेते हैं (वे ही जीवन्मुक्त हैं) क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है और वे ब्रह्ममें स्थित हैं।

परमात्मारूपी योगमें युक्त सर्वत्र समभावसे देखनेवाला योगी पुरुष आत्माको (बर्फमें जलकी भाँति) समस्त भूतोंमें व्यापक और सम्पूर्ण भूतोंको (स्वप्नसे जागे हुए पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्नके संसारकी भाँति अपने संकल्पके आधारपर) आत्मामें देखता है। (आत्मा परमात्मा ही है अतएव) जो पुरुष सर्वत्र मुझको (आत्मरूप भगवान्को व्यापक) देखता है और सब भूतोंको मुझ भगवान्में (आकाशमें वायुकी भाँति) देखता है उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता। इस प्रकार जो पुरुष एक परमात्माके भावमें स्थित होकर सर्व भूतोंमें स्थित मुझ भगवान्को भजता है वह योगी सब कुछ करता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है। हे अर्जुन ! ऐसा जो योगी अपनी ही सदृशतासे सब भूतोंमें (आत्मरूप भगवान्को) सम देखता है और सुख-दुःखको भी (सम देखता है) वही योगी परमोत्तम माना गया है। (अधिक क्या) सात्त्विक, राजस और तामस सभी भाव मुझसे ही होते हैं तू ऐसा जान। (यह सारा जगत्) मुझ निराकार परमात्मासे परिपूर्ण है। मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सारे जगत्में प्रवृत्ति—चेष्टा हो रही है, इस प्रकार समझकर ही बुद्धिमान् पुरुष प्रेमसे मुझ परमात्माको भजते हैं। अतएव तू उसी ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान समझ कि जिससे (यह मनुष्य) अलग-अलग देखनेवाले सब भूतोंमें एक ही अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित (सम) देखता है। जिस परमात्मासे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस (सर्वत्र स्थित एक) परमात्माको अपने कर्तव्य-कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

गीताके उपर्युक्त थोड़े-से अवतरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है, भगवान् ही विश्वरूपसे प्रकट हैं और इस बातको समझकर उनकी सेवा-पूजा करनेसे बहुत ही शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होती है। विभिन्नतामें एकता देखना, नाना प्रकारके रंग-रूपवाले जगत्में एक ही परमात्माके स्वरूपको देखना ही तो आर्य-ऋषियोंका परम आदर्श है। श्रीगोसाईजी महाराज इसी आदर्शको लक्ष्य करके सब जगत्को 'सीय राममय' जानकर,

'जुग पानी' दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। यही परमोच्च साधना है। परंतु पद-पदपर विविधताका खेल देखनेवाले हम-लोग इस साधनाको कैसे करें ? सिद्धान्तसे यह बात मान ली जाती है, बुद्धि स्वीकार भी कर लेती है, परंतु जबतक वस्तुतः ऐसी स्थिति नहीं हो जाती, तबतक कुछ भी नहीं है। व्यवहारमें हजार भेद होनेपर भी यह स्थिति हो सकती है और सारा बाहरी व्यवहार समान करनेकी व्यर्थ चेष्टा करनेपर भी यह स्थिति नहीं होती। इसका सम्बन्ध तो मनसे है। जबतक चित्तकी वृत्तिमें परमात्मासे भिन्न जगत्की सत्ता बनी है, तबतक ऊपरसे कितना ही समताका ढकोसला क्यों न किया जाय, सब व्यर्थ होता है। जगत्की भिन्न सत्ताको भगवान्की एक अखण्ड सत्तामें मिला देना होगा, जो यथार्थ सत्य है। इसके लिये उपाय है बार-बार चित्तवृत्तिसे इस दृश्य जगत्की सत्ताको हटाना और उसके स्थानपर परमात्माकी सत्ताको स्थापित करना। यह अभ्यास इसमें बड़ा सहायक होगा। इसीलिये भगवान्ने कहा है—यह अस्थिर और चञ्चल चित्त ज्यों-ज्यों संसारकी ओर जाय त्यों-ही-त्यों इसे रोककर परमात्मामें लगाये*। जिस दिन चित्तसे जगत् उठ जायगा, उस दिन जगत् रहेगा नहीं। हमलोगोंका सबका यह अनुभव है कि जिस समय हम किसी महान् दुःखप्रद घटनाको चित्तसे भूल जाते हैं, उस समय वह घटना हमारे लिये नहीं रहती, इसीलिये उस समय उस दुःखका हमें कुछ भी अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जब हम कुछ देरके लिये चित्तसे किसी बातको दूर कर सकते हैं तब अभ्याससे सदाके लिये भी इस सारे प्रपञ्चको हटा सकते हैं। दृढ़तासे लगकर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। अभ्यास न होनेके कारण ही बुद्धिमें युक्तिसे सर्वथा ठीक जँचनेवाला यह सिद्धान्त वस्तुतः कार्यरूपमें परिणत नहीं हो पाता।

यह सिद्धान्त केवल युक्तिसंगत ही नहीं है, वास्तवमें सर्वथा सत्य है। कोई यह न समझे कि 'बुद्धिमें युक्तिसे ऐसे जँचता है या हमारे दीर्घकालके अभ्याससे वृत्तियाँ ही परमात्मा-के स्वरूपमें हमें दिखायी देती हैं, इसके अतिरिक्त परमात्मा और कुछ नहीं है।' यह समझकर परमात्माको सबमें देखनेका

* यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (गीता० ६।२६)

अभ्यास करना तो फलमें व्यर्थ ही होगा, क्योंकि जब परमात्मा असलमें हैं नहीं, परमात्माका आधार हमारी युक्तियाँ, भावनाएँ और वृत्तियाँ ही हैं, तब ऐसे परमात्माका गहरा अस्तित्व ही क्या है, हमारी युक्तियों, भावनाओं और वृत्तियोंके बदलते ही या उनके मिटते ही उनके आधारपर टिका हुआ परमात्मा भी बदल जायगा या नहीं रहेगा। परंतु यह बात नहीं है, हम मानें या न मानें, परमात्मा हैं ही, हमारे न माननेसे उनके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं पहुँचती। हमें यही समझकर अभ्यास करना चाहिये कि आज जो अज्ञानवश हम परमात्माको नहीं देख पाते, अभ्याससे—सब परमात्मा हैं, इस भावसे सर्वत्र भगवद्दर्शनके अभ्याससे, हमें यथार्थ ही सर्वत्र व्याप्त सभी रूपोंमें व्यक्त एक परमात्माका साक्षात्कार हो जायगा। जबतक ऐसा दृढ़ और व्यापक अभ्यास न हो जाय तबतक शिथिलता न आने देकर लगातार अभ्यास करते ही रहना चाहिये। बार-बार चित्तकी वृत्तियोंसे प्रपञ्चको, दृश्य जगत्के बाह्य रूपको हटाकर परमात्माकी भावना करनी चाहिये। पुनः-पुनः यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि श्रीपरमात्मादेव ही अनेक रूपोंमें प्रकट होकर अनेक प्रकारकी लीलाएँ कर रहे हैं। प्रातःकाल नींद खुलनेसे लेकर रातको सोनेतक हमें, जिनसे बोलना पड़े, व्यवहार करना पड़े, उन सबमें यही भावना करनी चाहिये कि इन सारे भेषोंमें श्रीपरमात्मा ही हमारे साथ खेल रहे हैं। जो कोई सामने आवे, जिससे भी बोलने या मिलनेका काम पड़े, सबसे पहले इस सिद्धान्तको स्मरण कर लिया जाय कि इस स्वाँगको धारण किये श्रीपरमात्मा ही हमारे सामने खड़े हैं, यह स्मरणकर और समझकर इस बातको याद रखते हुए भी उसके साथ मिलना, बोलना और उसके तथा अपने स्वाँगके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। नौकरके साथ मालिकका-सा, स्त्रीके साथ पतिका-सा, पिता-माताके साथ पुत्रका-सा, गुरुके साथ शिष्यका-सा, शिष्यके साथ गुरुका-सा, प्रजाके साथ राजाका-सा, राजाके साथ प्रजाका-सा, मित्रके साथ मित्रका-सा, यहाँतक कि वैरीके साथ कर्तव्यवश वैरीका-सा व्यवहार भी सब प्रकारसे दोषरहित, कल्याणका कारण और परम शुद्ध हो सकता है, यदि वह परमात्माको पहचानकर उनकी

आज्ञानुसार राग-द्वेषरहित हो लीलावत् किया जाय। कम-से-कम बुरा बर्ताव तो उसी समय मिट जायगा, जब कि हम परमात्मा समझकर किसीसे बर्ताव करेंगे। भेष बदले हुए प्रिय बन्धुको पहचान लेनेपर उसके साथ बुरा बर्ताव कैसे किया जा सकता है। परमात्मा भी भेष बदलकर नाना रूपोंमें प्रतिक्षण हमारे सामने आते हैं, हम उन्हें पहचानते नहीं, इसीलिये धोखा खाते और पाप करते हैं, पहचान लें तो फिर व्यवहारमें दोष नहीं आ सकता।

व्यवहारमें चाहे लाख भेद रहें, मनमें राग-द्वेष और अपना-पराया नहीं रहनेसे दोष या पापकी सम्भावना नहीं है। परंतु यह सिद्धान्त केवल कहने-सुनने या लिखने-पढ़नेका ही नहीं रहना चाहिये, जीवनमें यह कार्यरूपमें परिणत होना चाहिये, तभी हम इससे वास्तविक लाभ उठा सकते हैं। इसमें पहले-पहले तो केवल स्मरण ही रखनेकी बात है। कम-से-कम जिस किसीसे भी मिलने-बोलनेका काम पड़े, उसी क्षण पहले उस रूपमें भगवान् समझकर मन-ही-मन भक्तिभावसे उसे प्रणाम कर ले और फिर इस बातको याद रखते हुए ही उससे यथायोग्य व्यवहार करे। ऐसा प्रयोग घर और बाहरमें सबके साथ किया जा सकता है। कुछ दिन करके देखिये, कितना आनन्द मिलता है, पाप-ताप कैसे हमसे दूर भागने लगते हैं, आसुरी सम्पत्ति छिपने लगती है और स्वयमेव ही दैवी सम्पत्तिका प्रादुर्भाव होकर शान्ति हमारे समीप कितनी तेजीसे आना चाहती है !

जब हमारा अपने घरके लोगोंमें और व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्योंमें भगवद्भाव हो जायगा, तब आगे बढ़ते देर नहीं लगेगी। फिर सभी चराचर उसीका स्वरूप दीखेगा, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और जीवन-मरण उसी नाटकके परदे होंगे। उस प्यारेके सिवा कुछ रह ही नहीं जायगा ! फिर न द्रष्टा रहेगा, न दृश्य; जो कुछ रहेगा, सो अनिर्वचनीय ही है।

अतएव परमानन्दकी प्राप्तिके इस एक ही महान् साधनमें सबको लगनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस एक ही उपायसे मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है।

अधिक जनसमुदायमें बसनेकी रुचि ही बाँधनेवाली रस्सी है, पुण्यात्मा लोग इस रस्सीको तोड़कर एकान्तमें तप करते हैं, पापी लोग इसी रस्सीमें दिनों-दिन दृढ़ताके साथ बँधते जाते हैं।—देवर्षि नारद

भगवत्स्मरणसे दुःखनिवृत्ति

(महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी)

स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते

हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥

(श्रीमद्भा० ८।१०।५५)

देवासुर-संग्रामका प्रसंग है। असुरोंने अपनी आसुरी माया फैला दी और इस मायाके प्रभावसे उन्होंने अपने-आपको अदृश्य कर लिया। असुरोंके अदृश्य हो जानेके कारण उनपर कोई भी किसी भी प्रकारका प्रहार नहीं किया जा सकता था। इस कारणसे देवता बहुत दुःखी हो गये। तब इन्द्रादि देवताओंने इस आसुरी मायाका निवारण करनेके लिये बहुत सोच-विचार किया, परंतु उनको इसका कोई उपाय नहीं सूझा। विवश हो उन्होंने विश्वके जीवनदाता भगवान्का ध्यान लगाकर स्मरण किया तो भगवान् तत्काल उनके सामने प्रकट हो गये। परम पुरुष परमात्माके प्रकट होते ही उनके प्रभावसे असुरोंकी माया तत्काल ही विलीन हो गयी।

जैसे स्वप्नमें दिखायी देनेवाली सभी विपत्तियाँ जगनेपर दिखलायी नहीं देतीं, वैसे ही भगवान् श्रीहरिका स्मरण समस्त विपत्तियोंसे मुक्त कर देता है (श्रीमद्भा० ८।१०।५२—५५)। भगवान्के स्वरूपके सामने माया वैसे ही टिक नहीं सकती जैसे कि प्रकाशके सामने अन्धकार नहीं टिकता।

ब्रह्माजी महर्षि नारदको भगवान्का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं

शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ।

शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो

माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥

(श्रीमद्भा० २।७।४७)

परमात्माका वास्तविक स्वरूप एकरस, शान्त, अभय एवं केवल ज्ञानस्वरूप है। न तो उसमें मायाका मल है और न ही उसमें मायाद्वारा रची हुई विषमता ही। वह सत् और असत् दोनोंसे परे है। किसी भी वैदिक या लौकिक शब्दकी वहाँतक पहुँच नहीं है। अनेक प्रकारके साधनोंसे सम्पन्न होनेवाला कर्मोंका फल भी वहाँतक नहीं पहुँच सकता। और तो क्या स्वयं माया भी उनके सामने नहीं जा सकती। भगवान्के

सामनेसे माया भी लज्जित होकर भाग जाती है।

जानी कहते हैं कि जीवको कोई भी दुःख, विपत्ति और अभाव नहीं है। अज्ञानके कारण उसने स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंमें अर्थात् देह और मनसे तादात्म्य कर लिया है, उनको अपना मान लिया है, उनमें अभिनिवेश कर लिया है अर्थात् 'ये मेरे हैं' ऐसा मिथ्या आग्रह कर लिया है, यही उसके सब दुःख तथा विपत्तियोंका कारण है।

यह सभीका अनुभव है कि स्वप्नावस्थामें कुछ भी न होनेपर भी बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ और दुःख दिखायी पड़ते हैं और स्वप्नसे जगनेपर कुछ भी (स्वप्नावस्थाका दुःख और विपत्ति) दिखायी नहीं पड़ता।

इसी प्रकार भगवत्स्मरणद्वारा भगवान्का साक्षात्कार हो जानेपर तथा इस संसाररूपी महास्वप्नसे जग जानेपर कोई भी दुःख या विपत्ति दिखायी नहीं देते।

कोई पूछे कि देवता और असुर दोनों ही भगवान्की ही सृष्टि होनेसे उनके ही रूप हैं फिर भगवान् देवताओंका ही पक्ष क्यों लेते हैं? उनको तो देवों और असुरोंको समानभावसे देखना चाहिये।

—इस बातको यों समझिये कि एक पिताके दो पुत्र हैं, उनमेंसे एक पुत्र सत्यनिष्ठ, धर्माचरण करनेवाला और शान्तरूप है तथा दूसरा अन्यायी, क्रूर, अत्याचारी और अधर्मी है, केवल इतना ही नहीं वह अपने शान्तरूप भाईपर अत्याचार करता है और उसे महान् कष्ट देता है तो क्या पिताको अपने धर्मनिष्ठ पुत्रकी अधर्मी और अत्याचारीसे रक्षा नहीं करनी चाहिये?

उद्धवजी विदुरजीसे भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

स्वशान्तरूपेष्वितरैः

स्वरूपै-

रथ्यर्थां मानेष्वनुकम्पितात्मा ।

परावरेणो

महदंशयुक्तो

ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः ॥

(श्रीमद्भा० ३।२।१५)

चराचर जगत् और प्रकृतिके स्वामी भगवान्ने जब अपने

शान्तरूप महात्माओंको अपने ही घोररूप असुरोंसे सताये जाते देखा, तब वे करुणाभावसे द्रवित हो गये और अजन्मा होते हुए भी अपने अंश बलरामजीके साथ काष्ठमें छिपी हुई अग्निके समान प्रकट हो गये। भगवान् स्वयं कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

(गीता ४।८)

साधु महात्माओंकी रक्षा तथा दुष्ट पापी पुरुषोंका नाश एवं धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं प्रत्येक युगमें अवतार लेता हूँ। शतपथब्राह्मणमें कहा गया है—

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्रजापत्याः पस्पृधिरे
ततोऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति स्वेष्टेवास्येषु
जुह्वतश्चेरुस्तेऽतिमानेनैव पराबभूवुस्तस्मान्नातिमन्येत
पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः अथ देवा अन्योऽन्यस्मिन्नेव
जुह्वतश्चेरुस्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो हैषामास यज्ञो
हि देवानामन्नम् ।

(५।१।१।१।१-२)

‘प्रजापतिके दोनों पुत्र देवता और असुर आपसमें लड़ पड़े। उन दोनोंमें असुर अति अभिमानी थे। वे कहने लगे—‘हमें दूसरोंकी क्या परवाह है’ इसलिये वे अपने ही मुँहमें यज्ञकी आहुतियाँ डालने लगे और इस अभिमानके कारण उनको पराजयका मुँह देखना पड़ा। अतः अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह पराजयका मूल है।

देवता अपने मुँहमें आहुतियाँ न डालकर एक-दूसरेके मुँहमें डालने लगे। प्रजापति (परमात्मा) उनसे प्रसन्न हो गये और अपने-आपको ही देवोंके भेंट कर दिया। देवोंका यज्ञ सफल हो गया। यज्ञ ही देवोंका अन्न है।’

देवता वे हैं जो दूसरोंको खिलाकर प्रसन्न होते हैं। इसी कारण वे सब पापोंसे मुक्त हैं। और असुर वे हैं जो दूसरोंकी कुछ भी परवाह न करके केवल अपने ही मुँहमें आहुति देते हैं अर्थात् केवल अपना ही पेट भरते हैं—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

(गीता ३।१३)

इसलिये सभी विपत्तियोंका, सभी दुःखोंका एकमात्र कारण मायाजन्य अज्ञान है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिये।

भगवान् कहते हैं—

मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।

(श्रीमद्भा० ११।१३।३३)

—जाग्रदादि तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा पैदा की हुई मेरे अंशस्वरूप जीवमें मेरी मायासे कल्पित की गयी हैं। ये अवस्थाएँ आत्मामें नहीं हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय करके सभी संशयोंके आधार अहंकारका छेदन करके हृदयस्थित मुझ परमात्माका भजन करना चाहिये।

अहंकार मरना नहीं चाहता, इसलिये वह साधन-भजनमें धोखा देकर देरी करना चाहता है, अतः कहता है मुझे मालूम हो गया कि यह सब दुःख और ये विपत्तियाँ मायाने पैदा की हैं, अतः मैं दुःखोंकी जड़ मायाको ही मार डालूँगा और वह मायाका नाश करनेके लिये नाना प्रकारके प्रयास प्रारम्भ कर देता है। बस, यही धोखा है; साधक यहींपर भटक जाता है और अहंकारके चक्करमें फँसकर जन्म-जन्मान्तरतक भटकता रहता है।

थोड़ा विचार करें, अहंकारको मायाका पुत्र माना जाता है अर्थात् मायाद्वारा अहंकार पैदा हुआ है, वह मायानिर्मित है। जब इसका अस्तित्व ही मायापर निर्भर है तब भला वह मायाका नाश कैसे कर सकता है ?

फिर क्या करें ? घबरानेकी, डरनेकी आवश्यकता नहीं है। जीवोंके कल्याणके हेतु भगवान् श्रीकृष्णने जो उद्घोष किया है, वह आज भी अन्तरिक्षमें गूँज रहा है, थोड़ा शान्त होकर सुनें तो आज भी आपको सुनायी देगा। वह उद्घोष है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७।१४)

‘मेरी यह त्रिगुणात्मिका माया दैवी माया है। साधारण माया नहीं है। इसको पार करना व्यक्तिकी शक्तिके बाहरकी बात है, इसीलिये यह दुरत्यया है। जो केवल मेरी शरणमें आ जाते हैं वे इस मायासे पार हो जाते हैं।’

भक्त तो इस दैवी मायाकी भी इस प्रकार उपासना-प्रार्थना करता है—

त्वं वैष्णवी शक्तिरन्तर्वीर्या

विश्वस्य बीजं परमासि माया ।

सम्प्राप्तं देवि समस्तमेतत्

त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ॥

(दुर्गासप्तशती ११।५)

‘तुम अनन्त बलसम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो। इस विश्वकी कारणभूता परा माया हो। देवि ! तुमने इस समस्त जगत्को मोहित कर रखा है। तुम्हीं प्रसन्न होनेपर इस पृथिवीपर मोक्षकी प्राप्ति कराती हो।’

ब्रह्माजी महर्षि नारदको भगवान्की लीलावतारोंकी कथा सुनाते हुए कहते हैं—

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः

सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।

ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां

नैषां ममाहमिति धीः श्वश्रुगालभक्ष्ये ॥

(श्रीमद्भा० २।७।४२)

‘जो निष्कपटभावसे अपना सर्वस्व और अपने-आपको भी भगवान्के चरण-कमलोंपर निछावर कर देते हैं, उनपर वे अनन्त भगवान् स्वयं ही अपनी ओरसे दया करते हैं और उनकी दयाके पात्र ही उनकी दुस्तर मायाका स्वरूप जानते हैं तथा उसके पार जा सकते हैं। जो पुरुष कुतों और सियारोंके कलेवारूप अपने और अपने पुत्रादिके शरीरोंमें अहंता-ममता रखते हैं वे न तो इस देवमायाका स्वरूप जान सकते हैं और न इसके पार जा सकते हैं।’

उपर्युक्त विमर्शसे यह निश्चित हो जाता है कि भगवान्का स्मरण ही सम्पूर्ण दुःखों और विपत्तियोंके निवारणका एकमात्र उपाय है।

एक महात्माका प्रसाद

[हमारी वास्तविक आवश्यकता]

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनमें प्रथम प्रश्न यही है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है ? जिस प्रकार पथिक अपने निर्दिष्ट स्थानको बिना माने अथवा बिना जाने मार्गका निर्णय नहीं कर सकता और न निश्चिततापूर्वक चल ही सकता है, उसी प्रकार हम अपनी आवश्यकताको बिना जाने अथवा बिना माने उसकी पूर्तिके लिये न तो निःसंदेहतापूर्वक साधनका निर्माण ही कर सकते हैं और न निर्णीत साधनका अनुसरण ही कर सकते हैं।

अतः साधनपरायण होनेके लिये अपने साध्यका जानना अथवा मानना अनिवार्य हो जाता है।

यह नियम है कि जो जिस स्थितिमें आबद्ध होता है, वह उसीके अनुरूप अपनी चाहको जानता अथवा मानता है। परिवर्तनशील स्थितिसे उत्पन्न होनेवाली चाह वास्तविक आवश्यकता नहीं हो सकती; क्योंकि स्थिति बदलनेसे चाह बदल जायगी और चाह बदलनेसे उसकी पूर्तिका साधन भी बदल जायगा।

आवश्यकताका निर्णय होनेपर ही साधनका निर्णय हो सकेगा। साधनका निर्णय होनेपर ही साधनपरायणता सम्भव होगी। अतः वास्तवमें हमारी आवश्यकता है क्या, इसका

निर्णय वर्तमानमें ही करना होगा। उसके लिये अपनी वर्तमान दशाका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

रुचि, योग्यता और आवश्यकताका ज्ञान ही वर्तमान दशाका अध्ययन है। व्यक्तित्वके अभिमानमें आबद्ध प्राणी अप्राप्त परिस्थितियोंका ही आवाहन करता रहता है और उसीको अपनी आवश्यकता मान लेता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति सतत परिवर्तनशील है; परंतु व्यक्तित्वका मोह हमें परिस्थितियोंकी दासतासे मुक्त नहीं होने देता। परिस्थितियोंकी दासता वियोग, हानि तथा अपमान आदिका भय उत्पन्न करती है। यह सभीको मान्य होगा कि भय किसीको भी स्वभावसे प्रिय नहीं है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता सभी परिस्थितियोंसे अतीतकी है। परिस्थितियोंसे अतीतका जीवन ही हमारा जीवन है। उसीमें प्रवेश करनेके लिये योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचिके अनुरूप साधन-निर्माण करना है। आवश्यकताके ज्ञानकी दृढ़ता साधन-निर्माणमें समर्थ है और साधनपरायणता आवश्यकता-पूर्तिका हेतु है।

इस दृष्टिसे साधन-निर्माण और साधनपरायणता वर्तमान जीवनकी वस्तु है। इस समस्याको भविष्यपर छोड़ना प्रमादके

सिवा और कुछ नहीं है। प्रमादका साधनयुक्त जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

प्रमादके रहते हुए व्यक्तित्वका मोह सुरक्षित रहता है और व्यक्तित्वका महत्व बढ़ाने तथा उसको विभु बनानेके लिये हम अपनेको स्वावलम्बन, सदाचार तथा परोपकार आदि सद्गुणोंके अभिमानोंमें बाँध लेते हैं। यद्यपि समाजमें इन गुणोंका बड़ा आदर है, परंतु गुणोंका अभिमान व्यक्तित्वके मोहको ही पुष्ट करता है।

स्वावलम्बी होनेके लिये सदाचार तथा शिक्षा अपेक्षित है और व्यक्तित्वको विभु बनानेके लिये परोपकारी होना आवश्यक है। व्यक्तित्वका मोह रहते हुए हमारा स्वावलम्बन भी परावलम्बन ही है। जैसे, हम विद्वत्ताका उपयोग करनेके लिये विद्यार्थियोंका और सामर्थ्यका उपयोग करनेके लिये असमर्थोंका आश्रय लेते हैं तथा उसके परिणाममें जो आदर, प्यार और वस्तुएँ मिलती हैं, उन्हें ही अपना जीवन मान लेते हैं। इस प्रकार हम ऊपरसे स्वावलम्बी और भीतरसे परतन्त्र ही बने रहते हैं।

उस परतन्त्रताकी सुदृढ़ शृङ्खलाको तोड़नेके लिये हमें सद्गुणोंके रहते हुए भी उनके अभिमानसे मुक्त होना ही पड़ेगा, तभी हम निर्दोषतापूर्वक वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकेंगे, जो हमारी आवश्यकता है।

आवश्यकता-पूर्तिके लिये अनिवार्य हो जाता है कि जिन इच्छाओंने उसे ढक लिया है, उनका अन्त कर दिया जाय। कोई भी इच्छा आवश्यकताको मिटा नहीं पाती, क्योंकि आवश्यकता उसकी है, जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है और इच्छा उसकी है, जिससे केवल मानी हुई एकता है। जिस प्रकार बादलोंका समूह सूर्यको मिटा नहीं पाता, अपितु नेत्र और सूर्यके बीच एक प्रतिबन्ध-मात्र ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार इच्छाओंका समूह आवश्यकताको मिटा नहीं पाता, केवल उसकी पूर्तिमें प्रतिबन्ध-मात्र ही सिद्ध होता है।

जिस प्रकार सूर्य बादलोंके समूहको छिन्न-भिन्न कर अपनेको प्रकाशित करनेमें समर्थ है, उसी प्रकार आवश्यकताकी जागृति इच्छाओंके समूहको निवृत्त करनेमें समर्थ है। अतः आवश्यकताकी जागृति ही इच्छाओंके अन्त करनेका मुख्य साधन है।

आवश्यकताके ज्ञानको सबल तथा स्थायी बनानेके लिये हमें वर्तमानका सदुपयोग और जिनसे हमारी जातीय एवं स्वरूपकी एकता है, उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, जो नित्य-योग तथा नित-नव प्यार प्राप्त करानेमें समर्थ है। नित्य-योगसे चिर-शान्ति और शान्तिसे आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है।

नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करनेके लिये हमें माने हुए सम्बन्धका त्याग करना होगा। अब विचार यह करना है कि हमारा माना हुआ सम्बन्ध किससे है? अपनेको देह मान लेनेपर हमारा सम्बन्ध वस्तु, अवस्था, व्यक्ति आदिसे हो जाता है। वस्तुओंकी दासता लोभ और व्यक्तियोंकी दासता मोह एवं अवस्थाकी तद्रूपता जड़ता उत्पन्न करती है। लोभ, मोह तथा जड़तामें आबद्ध प्राणी परिस्थितियोंका दास बन जाता है।

अपनेको देह मान लेने अथवा देहको अपना मान लेनेसे परिस्थितियोंकी दासता उत्पन्न होती है। परिस्थितियोंकी दासता देहभावको पुष्ट करती है।

यदि विवेकपूर्वक देहभावका त्याग कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक माना हुआ 'मैं' और 'मैं' हुआ 'मेरा' मिट जाता है, जिसके मिटते ही असंगततापूर्वक नित्ययोग स्वतः प्राप्त होता है; उससे माना हुआ सम्बन्ध सदाके लिये मिट जाता है। फिर शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभीसे अपनी भिन्नताका अनुभव हो जाता है। तब वस्तु, व्यक्ति आदिकी कामनाएँ ही मिट जाती हैं। उनके मिटते ही वास्तविक आवश्यकता जाग्रत होती है, जो अपनी पूर्तिमें आप समर्थ है।

वास्तविक आवश्यकताकी पूर्तिसे पूर्व हम संसारको चाहते हैं, पर संसार हमें नहीं चाहता और आवश्यकताकी पूर्ति होनेपर संसार हमें चाहता है, किंतु हम संसारको नहीं चाहते। यह बात भी तभीतक कही जा सकती है, जबतक सर्वांशमें व्यक्तित्वका मोह गल नहीं जाता।

व्यक्तित्वका मोह गल जानेपर तो यह पता ही नहीं चलता कि संसार हमें चाहता है या हम संसारको नहीं चाहते हैं अथवा यों कहो कि हम और संसारका भेद मिट जाता है। फिर अपने पास मन, बुद्धि आदि भी नहीं रहते, वे सब उस अनन्तसे अभिन्न हो जाते हैं, जिसके किसी अंशमात्रमें समस्त विश्व है।

वास्तविक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये हमें सर्वप्रथम प्राप्त वस्तु, योग्यता आदिका सद्व्यय करना होगा और उसके बदलेमें मान, बड़ाई आदिको स्वीकार न करना होगा; कारण कि संग्रहका सद्व्यय विद्यमान रागकी निवृत्तिका हेतु है और उसके बदलेमें कुछ न लेनेसे नवीन रागकी उत्पत्ति न होगी।

वर्तमान रागकी निवृत्ति तथा नवीन रागकी उत्पत्ति न होनेपर बड़ी ही सुगमतापूर्वक हमारा उस जीवनमें प्रवेश हो जायगा, जो दिव्य, चिन्मय एवं नित्य है।

प्राप्त वस्तु, योग्यता आदिको अपना मान लेना ईमानदारी नहीं है; क्योंकि जिस किसीको जो कुछ मिला है, वह उस अनन्तहीकी देन है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें जो कुछ मिला है, वह तो हमारे ही कर्मोंका फल है। तो यह कहना होगा कि आरम्भमें कर्म आपने किस सामर्थ्यके द्वारा किया? तब विवश होकर यह मानना ही पड़ेगा कि जो कुछ मिला है, वह किसीकी देन है; कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है।

हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्तका उपयोग करनेमें व्यक्तिगत अधिकार है और उसमें ममता करना भूल है। मिले हुए अधिकारका उपयोग साधन है और उसपर स्वत्व स्थापित करना असाधन है।

अब विचार यह करना है कि उस अनन्तकी ओरसे जो कुछ मिला है, उसका सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि प्राप्त बलसे निर्बल्लोके अधिकारकी रक्षा और प्राप्त विवेकसे अविवेककी निवृत्ति करना अथवा अपने कर्तव्य और दूसरोंके अधिकारका ज्ञान ही मिले हुए बल और विवेकका सदुपयोग है।

बलका दुरुपयोग और विवेकका अनादर सभी दोषोंका मूल है, जिसका साधनयुक्त जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। बलके सदुपयोगसे बलका अभिमान गल जाता है और निर्बल्लोंकी सेवा हो जाती है। अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं।

विवेकके आदरसे दीनता मिट जाती है और कर्तव्य-निष्ठताकी सामर्थ्य प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान मिट

जानेपर अहंरूपी अणु टूट जाता है और फिर अनन्तसे अभिन्नता प्राप्त होती है, जो वास्तविक आवश्यकता है।

विवेक और प्रीतिसे ही वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। विवेक और प्रीतिमें श्रम नहीं है, अपितु स्वाभाविक विभूतियाँ हैं, जो उस अनन्तकी अहेतुकी कृपासे मिली हैं। हम उनकी दी हुई विभूतिसे ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

‘वे’ हमसे देश-कालकी दूरीपर नहीं हैं। उन्होंने हमारा त्याग नहीं किया है, हमों उनसे विमुख हुए हैं। उस विमुखताको मिटानेके लिये ही उन्होंने हमें प्रीति और विवेक प्रदान किया है। विवेकसे अस्वाभाविक चाहकी निवृत्ति और प्रीतिसे स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। अतः जीवनमें असफलताके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

हमारे जीवनमें जो श्रम दिखायी देता है, वह तो केवल अस्वाभाविक चाहकी प्रवृत्तियोंमें है, स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिमें नहीं। यह नियम है कि प्रवृत्ति निवृत्तिमें विलीन होती है, पूर्तिमें नहीं। इस दृष्टिसे अस्वाभाविक चाहकी पूर्ति सम्भव नहीं है; उसे तो निवृत्त ही करना होगा। अस्वाभाविक चाहकी निवृत्तिमें ही स्वाभाविक आवश्यकतापूर्ति की सामर्थ्य निहित है।

अस्वाभाविक चाहकी निवृत्तिमें विवेक अपेक्षित है, श्रम नहीं; कारण कि अस्वाभाविक चाहकी उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है। जब विवेकरूपी सूर्य अविवेकरूपी अन्धकारको खा लेता है, तब अस्वाभाविक चाह मिट जाती है, जिसके मिटते ही प्रीति स्वतः उदय होती है, जो प्रीतमसे अभिन्न कर देती है।

हमारा प्रीतम हमसे दूर नहीं है, हमीमें छिपा है। उसे उत्पन्न नहीं करना है, अपितु उसकी खोज करनी है। खोज वर्तमान जीवनकी वस्तु है, भविष्यकी नहीं। अपने खोये हुए प्रीतमको कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना है, प्रत्युत अपनेहीमें अपने द्वारा उन्हें पाना है; कारण कि वे अपनेहीमें अन्तर्निहित हैं। अतः अस्वाभाविक चाहके मिटानेमें और स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिमें प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है।

(जीवन-दर्शन)

प्रसन्नता, आत्मानुभव, परम शान्ति, तृप्ति, आनन्द और परमात्मा में स्थिति—ये विशुद्ध सतो गुणके धर्म हैं, इनसे मुमुक्षु पुरुष नित्यानन्द-रसको प्राप्त करता है।—श्रीशंकराचार्य

साधकोंके प्रति—

प्रार्थना और शरणागति

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भगवान्से प्रार्थना करना और उनके शरण होना—ये दो बातें तत्काल सिद्धि देनेवाली हैं। कोई आफत आ जाय, दुःख आ जाय, संताप हो जाय, उलझन हो जाय तो आर्तभावसे 'हे नाथ ! हे प्रभो !' कहकर भगवान्को पुकारे, उनसे प्रार्थना करे तो तत्काल लाभ होता है। जैसे गजेन्द्र, द्रौपदी, उत्तरा आदिने विपत्तिके समय भगवान्को याद किया, उनको पुकारा तो उनकी तत्काल रक्षा हो गयी। कारण यह है कि जब अपना बल कोई काम नहीं देता, अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, उस समय भगवान्की शरण लेनेसे भगवान्की कृपा काम करती है। जब गजेन्द्र ग्राहसे अपनेको न छुड़ा सकनेके कारण अपने बलसे और अपने साथियोंसे निराश हो गया, तब वह भगवान्की शरणमें गया और भगवान्ने उसको ग्राहसे मुक्ति दिलायी। चौर-हरणके समय जब द्रौपदी सब तरफसे निराश हो गयी, किसीने भी उसकी प्रार्थना नहीं सुनी, तब उसने भगवान्को पुकारा और भगवान्ने उसकी रक्षा की। जब अश्वत्थामाके द्वारा छोड़ा गया अस्त्र उत्तराके गर्भको नष्ट करनेके लिये आने लगा, तब उत्तराने सर्वथा भगवान्के शरण होकर उनको पुकारा और भगवान्ने उसके गर्भकी रक्षा की। जब अर्जुन कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय न कर सकनेके कारण अपनी बुद्धिसे निराश हो गये, तब वे भगवान्की शरणमें गये और भगवान्ने संसारका उद्धार करनेवाले गीतोपदेशके द्वारा उनके मोहका नाश कर दिया।

भगवान्की कृपासे जो काम होता है, वह अपने बल-बुद्धिसे कभी नहीं होता। परंतु जबतक अपना बल पूरा न लगा दें, तबतक भीतरसे असली प्रार्थना नहीं होती। कारण कि अपना बल पूरा लगानेसे जब अपनेमें निर्बलताका अनुभव होने लगता है, तब अपने बलका भरोसा छूट जाता है और अपने बलका भरोसा छूटनेसे ही असली प्रार्थना होती है।

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः ।

अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाय, अपनी युक्तियाँ, अपना उद्योग सब फेल हो जायँ, ऐसे समयमें असली प्रार्थना होती है, नहीं तो अपने बल आदिके अभिमानका अंश रहनेसे

नकली प्रार्थना होती है। नकली प्रार्थनासे काम नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि हमने प्रार्थना की, पर कुछ नहीं हुआ तो वास्तवमें उनसे असली प्रार्थना नहीं हुई। प्रार्थना की नहीं जाती, प्रत्युत भीतरसे निकलती है। अगर भीतरसे असली प्रार्थना हो तो तत्काल काम होता है।

जब अपने बलका, योग्यताका, पदका, विद्याका, बुद्धिका, वर्णका, आश्रमका, सम्प्रदायका कोई-न-कोई सहारा रहता है, तब न तो असली प्रार्थना होती है और न असली शरणागति ही होती है। कारण कि अपने बल, योग्यता आदिका सहारा रहनेसे अहम् बना रहता है। जबतक अहम् है, तबतक असली प्रार्थना और असली शरणागति नहीं होती। असली प्रार्थना और असली शरणागतिके बिना काम नहीं होता।

अपनेमें सर्वथा निर्बलताका अनुभव हो जाय, तब असली प्रार्थना और असली शरणागति होती है—'सुने री मैंने निरबलके बल राम।' निर्बलताका अर्थ यह नहीं है कि हमारा शरीर निर्बल हो जाय, शरीरमें शक्ति न रहे, हम बीमार हो जायँ। निर्बलताका अर्थ है—अपने बलसे निराश हो जाना, अपने बलका किंचिन्मात्र भी सहारा, भरोसा या अभिमान न होना। बुद्धिबल, मनोबल, धनबल, तनबल, बाहुबल, विद्याबल आदि सबसे निराशा हो जाय और भगवत्प्राप्तिकी तीव्र आशा हो जाय, तब प्रार्थना तत्काल काम करती है। अपने बलकी आशा रहे और भगवत्प्राप्तिसे निराश हो जायँ, तब प्रार्थना काम नहीं करती।

ऐसा कोई भी असम्भव काम नहीं है, जो भगवान्की प्रार्थनासे सम्भव न हो जाय। कारण कि भगवान्का बल अपार है, असीम है, अनन्त है। भगवान्के बलका वर्णन शब्दोंसे कोई भी नहीं कर सकता। हम उनको जितना अपार, असीम, अनन्त समझते हैं, उससे भी वे विलक्षण अपार हैं, विलक्षण असीम हैं, विलक्षण अनन्त हैं। अपार, असीम और अनन्त शब्द तो सापेक्ष हैं अर्थात् पारकी अपेक्षा अपार है, सीमाकी अपेक्षा असीम है, अन्तकी अपेक्षा अनन्त है, पर

भगवान् निरपेक्ष हैं। उनकी प्रार्थना और शरणागति निर्बल होनेसे होती है—

जब लगि गज बल अपनो बरख्यो, नेक सरख्यो नहिं काम ।

निर्बल है बलराम पुकार्यो, आये आधे नाम ॥

एक भगवान्के सिवाय किसीका आश्रय न रहे—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास ।

एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास ॥

जबतक बल, बुद्धि, योग्यता, वर्ण, आश्रम आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय है, तबतक अनन्य पुकार नहीं होती। अपने बल, बुद्धि आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न हो और ऐसा अनुभव हो कि मैं अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिसे भगवान्को प्राप्त कर ही नहीं सकता, अपने दुःखको दूर कर ही नहीं सकता, तब भगवान्का बल काम करता है।

साधकको चाहिये कि वह अपनेमें निर्बलताका अनुभव करके भगवान्पर ही निर्भर हो जाय, उनके ही परायण हो जाय कि 'हे नाथ ! आपके सिवाय मेरा कोई आश्रय नहीं है, कोई शक्ति नहीं है।' ऐसा होकर निश्चिन्त हो जाय तो तत्काल काम होता है, जबकि अपनी साधनाके बलसे वर्षोंतक काम नहीं होता। इसमें एक मार्मिक बात है कि अपनी शक्ति तो पूरी लगानी चाहिये, पर आश्रय भगवान्का ही रखना चाहिये। इसलिये गीताने कहा है—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

(७।२९)

'जरा और मरणसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं; वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको भी जान जाते हैं।'।

साधक यत्न तो करे, पर भरोसा यत्नपर न रखकर भगवान्पर रखे। जैसे भगवान्ने बायें हाथकी छोटी अँगुलीके नखपर गोवर्धन पर्वतको उठा लिया और ग्वालबालोंसे कहा कि सब अपनी-अपनी लाठी लगाओ। सबने अपनी लाठियाँ लगा दीं, पर उनके मनमें यह भाव आया कि हम सब ग्वालबालोंने अपनी लाठियोंसे सहारा लगाया है, तभी पर्वत ठहरा है। उनके मनमें ऐसा भाव आनेपर भगवान्ने उनके बलका अभिमान दूर करनेके लिये अपनी अँगुलीको थोड़ा-सा

नीचे किया तो सब चिल्लाने लगे कि अरे दादा, मेरे-मेरे ! भगवान्के द्वारा ऐसा करनेका तात्पर्य था कि तुम अपना बल तो लगाओ, पर आश्रय अपने बलका मत रखो। तत्परता तो पूरी हो, पर अपने बलका अभिमान न हो। इसलिये भगवान्ने अर्जुनसे कहा—

'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' (गीता ११।३३)

'हे सव्यसाची ! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।'।

निमित्तमात्र बननेका अर्थ है कि अपनी शक्ति तो पूरी लगाओ, पर अपनी शक्तिका भरोसा मत रखो। थोड़ा-सा काम कर देना निमित्तमात्र बनना नहीं है। अर्जुन दोनों हाथोंसे बाण चलाते थे। वे दायें हाथसे बाण चलाकर जैसा निशाना मारते थे, वैसा ही निशाना बायें हाथसे बाण चलाकर मारते थे। इसलिये अर्जुनका काम 'सव्यसाची' था। भगवान् अर्जुनको 'सव्यसाची' सम्बोधन देकर यह कहते हैं कि तुम अपनी पूरी शक्ति लगाओ, पर मनमें यह बात मत रखो कि मेरे बलसे, मेरी विद्यासे काम हो जायगा। जो कुछ होगा, मेरी कृपाके बलसे होगा। इसलिये भगवान्की कृपाका आश्रय लेकर प्रार्थना की जाय तो भगवान्की अपार विलक्षण शक्ति तत्काल काम करती है। रामचरितमानसमें आया है—

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन ।

(उत्तर० १२२ ख)

जो चेतन कहैं जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य ।

(उत्तर० ११९ ख)

तुन ते कुलिस कुलिस तुन करइ ।

(लंका० ३५।४)

तात्पर्य है कि भगवान् असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव बनानेमें सर्वथा समर्थ हैं—'कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः।' उनमें किसी तरहकी असामर्थ्य नहीं है। वे सब तरहसे पूर्ण हैं। बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदि किसी भी विषयमें उनमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं है। ऐसे सर्वथा परिपूर्ण, सर्वसमर्थ भगवान्के साथ हमारा सम्बन्ध हो जायगा, तो उनकी सब शक्ति हमारेमें आ जायगी। जैसे बिजलीका तारके साथ सम्बन्ध होनेपर पंखा भी चलता है, अँगीठी भी जलती है, बर्फ भी जमती है, प्रकाश भी होता है। एक ही शक्तिसे अनेक परस्पर-विरुद्ध कार्य हो जाते हैं। ऐसे

ही संसारकी उत्पत्ति करनेमें, पालन करनेमें और संहार करनेमें एक ही शक्ति काम करती है। जब प्रार्थनाके द्वारा भक्त ऐसे सर्वसमर्थ भगवान्के सम्मुख हो जाता है, तब उसमें किसी तरहकी कमी कैसे रह सकती है ? कमी रहनेकी सम्भावना ही नहीं है। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्भूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(गीता १५।१९)

‘हे भारत ! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्ववित् मनुष्य सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।’

जो भगवान्को पुरुषोत्तम जानता है, वही सर्ववित् (सर्वज्ञ) होता है। संसारकी बहुत बातें जाननेसे मनुष्य सर्ववित् नहीं होता। भगवान्की शक्ति अपार, असीम, अनन्त, अगाध है—ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास है, वह सब प्रकारसे भगवान्का ही भजन करता है। उसकी दृष्टि भगवान्के सिवाय दूसरी तरफ जाती ही नहीं। भगवान्के सिवाय और किसीका कोई सहारा नहीं रहता, और किसीका कोई मूल्य नहीं रहता, और किसीसे कोई आशा नहीं रहती। वह सब तरफसे निराश

हो जाता है। मैं अपने बलसे कर लूँगा—यह बात उसके हृदयसे ही उठ जाती है। ऐसी स्थितिमें असली शरणागति होती है, असली प्रार्थना होती है। भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८।६६)

‘सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।’

अपने बल, बुद्धि, विद्या आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय या अभिमान न रखकर भगवान्की अनन्य शरण होना हमारा काम है और सम्पूर्ण पापोंसे सदाके लिये मुक्त करना भगवान्का काम है। कारण कि हम ही भगवान्से विमुख हुए हैं, भगवान् हमारेसे कभी विमुख नहीं हुए। अगर हम अनन्यभावसे भगवान्के शरण हो जायँ तो फिर भगवान्की शक्तिसे बहुत जल्दी तथा सुगमतासे कल्याण हो जायगा। इसलिये भगवान् आश्वासन देते हैं कि मेरी शरणमें आनेसे मैं सम्पूर्ण पापोंसे, दुःखोंसे, बन्धनोंसे मुक्त कर दूँगा, फिर तुम चिन्ता क्यों करते हो ?

रामकृष्ण परमहंसका जीवन—स्वयंमें एक शिक्षा

(श्रीशारदचन्द्रजी श्रोत्रिय)

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे—शास्त्रोंको सरलतासे समझनेके लिये जिनके जीवनमें शास्त्र सजीव हो उठा हो, उनके जीवनके प्रकाशमें शास्त्रोंको देखें।

समाधिमें—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

(गीता २।५३)

भगवान् कहते हैं—‘अर्जुन ! विभिन्न शास्त्रोंके भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित-सी तुम्हारी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और सुस्थिर हो जायगी, तब तुम योग या समाधिको प्राप्त हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा।’

बुद्धिका परमात्मामें अचल-भावसे ठहर जाना समाधि है।

श्रीमहेन्द्रनाथ गुप्त (मास्टर) ने श्रीरामकृष्ण-वचनामृतमें परमहंसकी समाधिकी स्थितिका वर्णन अनेक बार किया है। श्रीरामकृष्ण स्थिर-भावसे खड़े हैं और नरेन्द्र (जो बादमें जाकर स्वामी विवेकानन्दके नामसे प्रसिद्ध हुए) गा रहे हैं। श्रीरामकृष्णके गानेको छोड़कर ऐसा मधुर भजन उन्होंने कभी नहीं सुना था। महेन्द्रनाथ अकस्मात् श्रीरामकृष्णकी ओर देखकर स्तब्ध हो गये। श्रीरामकृष्णकी देह निःस्पन्द हो गयी थी और नेत्र निर्निमेष। श्वासोच्छ्वास चल रहा था या नहीं, बताना कठिन था। पूछनेपर एक भक्तने कहा—यह ‘समाधि’ है। मास्टरने ऐसा न कभी देखा था, न सुना था। वे विस्मित होकर सोचने लगे—भगवच्चिन्तन करते हुए मनुष्योंका बाह्यज्ञान क्या यहाँतक चला जाता है ? न जाने कितनी भक्ति और विश्वास होनेपर मनुष्य इस अवस्थामें पहुँचता होगा।

श्रीरामकृष्णकी देह पुलकायमान हुई। आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। बीच-बीचमें कुछ देखकर इस प्रकार मुस्कराने लगे, मानो कोटि चन्द्रमाओंको लजानेवाले किसी अनुपम रूपका वे दर्शन कर रहे हों। क्या यही ईश्वर-दर्शन है? न जाने कितनी साधना, कितनी तपस्या, कितनी भक्ति और विश्वाससे ईश्वरका ऐसा दर्शन होता है।

सर्वात्मभाव—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

(गीता १३।३०)

‘जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक्-भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस क्षण वह सच्चिदानन्दधन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।’

सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने-आपको समभावसे देखना अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है। जिस प्रकार अपने सारे अङ्गोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण मनुष्य उसमें होनेवाले सुख-दुःखको समानभावसे देखता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर संसारमें आत्मभाव समान हो जाने तथा सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उसका स्वरूप बन जाता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६।३२)

एक बारकी बात है, वर्षा ऋतुमें कालीमन्दिरके अहातेमें एक ओर हरी-हरी घास उगी थी। उस सुन्दर दृश्यको देखते-देखते रामकृष्ण इतने तन्मय हो गये कि वे उस स्थानसे एकरूप होकर उसे अपने शरीरका ही एक भाग समझने लगे। इतनेमें ही एक मनुष्य उस जगहकी घासपर चलकर दूसरी ओर गया। छातीपर किसीके चलनेसे जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा रामकृष्णको हुई और उनकी छाती कुछ समयतक लाल हो गयी।

इसी तरह एक दिन काली-मन्दिरके घाटपर खड़े हुए रामकृष्ण भावावेशमें गङ्गाकी ओर देख रहे थे। वहाँ दो केवटोंके बीच मारपीट होने लगी। भावावेशमें तन्मय होकर

इस दृश्यको देखते-देखते रामकृष्ण जोर-जोरसे चिल्लाने लगे। रामकृष्णकी पीठ लाल हो गयी। उसमें लकड़ीकी मारके निशान हो गये।

श्रीमहेन्द्रनाथ गुप्त (जो बादमें परमहंसके प्रमुख पार्षदोंमेंसे एक हुए) ठाकुरके प्रथम दर्शनके लिये गये तो पहले उनकी बात वृन्दा नामकी नौकरानीसे हुई। उन्होंने पूछा—क्या यह खूब किताबें पढ़ते हैं? वृन्दा बोली—‘अरे बाबा, किताबें किताबें! सब तो उनके मुँहमें हैं।’ श्रीमहेन्द्रनाथ-ने सोचा कि बिना पढ़े-लिखे इतना ज्ञान कैसे होता है?

श्रीरामकृष्णदेवने धर्मके गूढ़ तत्त्वोंको सरल कहानियोंमें समझाया है।

उपाय-विश्वास—

यो मामजमनादि च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

(गीता १०।३)

विश्वास हुआ कि सफलता मिली। विश्वाससे बढ़कर और कुछ नहीं है।

विश्वासमें कितना बल है, यह तो तुमने सुना है न? पुराणोंमें लिखा है कि रामचन्द्रको, जो साक्षात् पूर्णब्रह्म नारायण हैं, लंका जानेके लिये सेतु बाँधना पड़ा था, परंतु हनुमान् ‘राम’-नामके विश्वासहीसे कूदकर समुद्रके पार चले गये, उन्होंने सेतुकी परवाह नहीं की।

खूब व्याकुल होकर रोनेसे प्रभुके दर्शन होते हैं। धन-सम्पत्ति, स्त्री या लड़केके लिये लोग आँसुओंकी धारा बहाते हैं, पर ईश्वरके लिये कोई कब रोता है? ईश्वरको व्याकुल होकर पुकारना चाहिये।

व्याकुलता हुई कि मानो आसमानपर सुबहकी ललाई छा गयी। शीघ्र ही सूर्य भगवान् निकलते हैं, व्याकुलताके बाद ही भगवद्दर्शन होते हैं।

विषयपर विषयीकी, पुत्रपर माताकी और पतिपर सतीकी—यह तीन प्रकारकी चाह एकत्रित होकर जब ईश्वरकी ओर मुड़ती है तभी ईश्वर मिलते हैं।

बिल्लीका बच्चा ‘मिऊँ-मिऊँ’ करके माँको पुकारता भर है। उसकी माँ जहाँ उसे रखती, वहीं वह रहता है—कभी राखकी ढेरीपर, कभी जमीनपर तो कभी बिछौनेपर। यदि उसे

कष्ट होता है तो बस वह 'मिऊँ-मिऊँ' करता है और कुछ नहीं जानता। माँ चाहे जहाँ रहे 'मिऊँ-मिऊँ' सुनकर आ जाती है। इसी प्रकार जीव भी परमात्माके सर्वविध शरणापन्न हो जाय तो भगवान् स्वतः उसकी चिन्ता करेंगे।

संसारमें रहकर ईश्वर-प्राप्ति—

संसारमें रहकर भगवान्को अवश्य प्राप्त किया जा सकता है, परंतु उसके लिये साधुसंग और सदा प्रार्थना करनी पड़ती है। उनके पास रोना चाहिये। मन मानो मिट्टीसे लिपटी हुई एक लोहेकी सुई है और ईश्वर है चुम्बक। मिट्टी रहते चुम्बकके साथ संयोग नहीं होता। रोते-रोते सुईकी मिट्टी धुल जाती है। सुईकी मिट्टी क्या है? काम, क्रोध, लोभ, पाप-बुद्धि, विषय-बुद्धि आदि। मिट्टी धुल जानेपर सुईको चुम्बक खींच लेगा, अर्थात् ईश्वर-दर्शन होगा। चित्तशुद्धि होनेपर ही उनकी प्राप्ति होती है।

‘ईश्वरका चिन्तन करनेसे यह मन भक्ति, ज्ञान और वैराग्यका अधिकारी होता है। इस मनको यदि संसारमें डाले रखोगे तो यह नीच हो जायगा। संसारमें राग-द्वेषयुक्त विषय आदिके चिन्तनके सिवा और है ही क्या?’

संसार जल है और मन मानो दूध। दूध यदि पानीमें डाल दोगे तो वह पानीमें मिल जायगा। पर उसी दूधका मक्खन बनाकर यदि पानीमें छोड़ोगे तो मक्खन पानीमें उतराता रहेगा। इस प्रकार साधनाद्वारा ज्ञान-भक्ति प्राप्त करके यदि संसारमें रहोगे तो संसारसे निर्लिप्त रहोगे—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६।२२)

‘जिस परमतत्त्वको प्राप्तकर साधक किसी दूसरे पदार्थके लाभको उससे अधिक नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता।’

हनुमान्जीका एक चित्र श्रीरामकृष्णके कमरेकी दीवारपर टंगा था। श्रीरामकृष्णने कहा—‘देखो तो हनुमान्जीका भाव कैसा है। धन, मान, शरीर-सुख कुछ भी नहीं चाहते, केवल

भगवान्को चाहते हैं। जब स्फटिक-स्तम्भसे बँधे हुए हनुमान्जी ब्रह्मास्त्रसे मुक्त होकर उसे लिये हुए भागे, तब उन्हें मन्दोदरी नाना प्रकारके फल लेकर लोभ दिखाने लगी। उसने सोचा कि फलके लोभसे उतरकर शायद ये ब्रह्मास्त्र फेंक दें, पर हनुमान्जी इस लोभमें कब पड़नेवाले थे? उन्होंने कहा—मुझे फलोंका अभाव नहीं है। मुझे जो फल मिला है, उससे मेरा जन्म सफल हो गया है। मेरे हृदयमें मोक्षफलके वृक्ष श्रीरामचन्द्रजी हैं। मैं श्रीरामरूपी कल्पतरुके नीचे बैठा रहता हूँ, जब जिस फलकी इच्छा होती है, वही फल खाता हूँ।’

ब्रह्म अनिर्वचनीय अव्यपदेश्य है—

ब्रह्म क्या है सो मुँहसे नहीं कहा जा सकता। वेद, पुराण, तन्त्र, दर्शन सब परमात्माके लिये नेति-नेति कहकर ही थक जाते हैं।

समाधिस्थ होनेसे ब्रह्मज्ञान होता है—ब्रह्मदर्शन होता है। उस दशामें विचार बिलकुल बंद हो जाता है, आदमी चुप हो जाता है। ब्रह्म कैसी वस्तु है, यह मुँहसे बतानेकी सामर्थ्य नहीं रहती।

जीवको उसके बारेमें किसी औरके द्वारा जाननेकी इच्छा रखनेके स्थानपर उसे स्वयं अनुभव करनेकी इच्छा रखनी चाहिये और उसके लिये ही सतत प्रयास करते रहना चाहिये।

भिन्न-भिन्न स्वभाव—

‘जीव तीन प्रकारके होते हैं—बद्ध (विषयी), मुमुक्षु (साधक) और मुक्त (सिद्ध) —

विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने ॥

(रा० च० मा० २।२७।३)

बद्ध जीव विषयमें फँसा रहता है। वह ईश्वरको भूल जाता है और भगवच्चिन्तन नहीं करता। मुमुक्षु जीव धीरे-धीरे मुक्त हो जाते हैं।

मुक्त जीव संसारके कामिनी काञ्चनमें नहीं फँसते। इनके मनमें विषय-बुद्धि नहीं रहती, ये सदा ईश्वरके ही पादपद्मोंका चिन्तन करते हैं। नारदादि नित्यजीवन्मुक्त हैं। ऐसे जीव औरोंके हितके लिये, उन्हें शिक्षा देनेके लिये संसारमें आते हैं।



भज ले रे मन ! राम !

श्यामा—बहिन कोकिला ! तेरी कहानियाँ सुननेसे मनको बहुत शान्ति होती है, पहले मेरा मन बहुत ही चञ्चल रहा करता था, एक क्षण भी नहीं ठहरता था, भजन करने बैठती तो भजनमें मन लगता ही नहीं था, जहाँ-तहाँ भागा-भागा फिरता था, अब कुछ-कुछ एकाग्र होने लगा है, भजन करनेमें आनन्दका अनुभव भी होता है, फिर भी बहुत देरतक मन एकाग्र नहीं रहता। बहिन ! आज कोई ऐसी सुहावनी कहानी सुना कि मन पानी-पानी हो जाय और संसारकी ओरका प्रवाह छोड़कर मुकुन्दभगवान्‌के चरणोंमें चिपक जाय। बड़ी-बूढ़ियोंसे मैंने सुना है कि जब गङ्गा-यमुना पूर्व-दिशाका बहना छोड़कर पश्चिम-दिशाको बहने लगेंगी, तब सब प्राणी जन्म-मरणसे छूटकर सुखस्वरूप भगवान्‌में लीन होकर सदाके लिये सुखी और स्वतन्त्र हो जायेंगे। गङ्गा-यमुनाका पूर्वकी ओरसे पश्चिमको बहना असम्भव-सा जँचता है और मान लिया कि पश्चिमकी ओर बहने भी लगें, तो सब जीव मुक्त कैसे हो जायेंगे। क्या इसमें कोई रहस्य है ? बहिन ! यह भी समझा।

कोकिला—बहिन ! मन बड़ा चतुर है, जिस वस्तुको मन अपनी हित करनेवाली मानता है, वह उसीमें जाता है और जिस वस्तुको मन अहित करनेवाली जानता है, उसमें वह कभी नहीं जाता। जबतक मनको यह निश्चय दृढ़ रहता है कि संसारमें सुख है, तबतक वह भगवद्भजनमें नहीं लगता और जब मनको यह निश्चय हो जाता है कि संसारके पदार्थ मेरे सुखके साधन नहीं हैं, उलटे दुःखके कारण हैं और केवल भगवद्भजन ही सुखका हेतु है, तब मन संसारके विषय-भोगोंमें नहीं जाता, वह भगवद्भक्तोंका ही अनुसंधान यानी ध्यान किया करता है, यह बात भगवद्भक्तोंके अनुभवसे सिद्ध है। इसलिये श्रेयोऽभिलाषी भाई-बहनोंको विषयभोगोंमें दोष-दृष्टि करनी चाहिये यानी मनको विषय-भोगोंके दोष दिखाने चाहिये। हे बहिन ! एक मुकुन्दभगवान् ही सच्चे और सुखरूप हैं, उनके सिवा समस्त जगत् मिथ्या और दुःखरूप है। भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे ही प्राणी सुखी हो सकता है। भगवद्भक्तोंके सिवा अन्य कहीं किंचित् भी सुख नहीं है, इसलिये मनको सर्वदा समझाना चाहिये—भज ले रे मन ! राम !

मनोरमा नामकी एक बहिन अपने मनको इस प्रकार समझाया करती थी—

भाई मन ! इतनी भूल, इतना प्रमाद ? क्या तुझे याद नहीं है ? क्या भूल गया ? भाई ! गर्भको याद कर ! नीचे सिर था, ऊपर टाँगें थीं, उलटा लटक रहा था, प्रत्यक्ष नरकका अनुभव करता था। अथवा नरकसे भी अधिक भयंकर कष्टका अनुभव होता था। नरकमें दुःख होता है, लोहू-पीबकी नदीमें पापी जीव डाले जाते हैं, दुर्गन्धकी अँधेरी कोठरीमें बंद किये जाते हैं, नंगे पैरों तपती हुई रेतपर चलाये जाते हैं अथवा अग्निमें जलाये जाते हैं, नरकमें यही तो होता है। माताके उदरमें भी यही सब कष्ट बालकको होते हैं, लोहू-पीब, विष्टा-मूत्रसे माताका उदर भरा होता है, उसीमें बालकको रहना होता है। दुर्गन्धयुक्त अँधेरी कोठरी माताका उदर है ही, माताकी जठराग्निसे बालक तपता रहता है, परवश होता है, मांसकी झिल्लीमें लिपटा होता है, इस प्रकार वह नरकसे भी अधिक कष्ट पाता है ! यह सब अनुभव हे मन ! तू स्वयं कर चुका है, वहाँ तूने प्रतिज्ञा की थी कि इस काल-कोठरीमेंसे निकलकर रामका भजन करूँगा, वैष्णवी वायुसे प्रेरा हुआ पेटसे निकलते ही, राम-राम भजना भूल गया और चाम-चाम भजने लगा। भाई ! गर्भको याद कर, भजना छोड़ दे चाम, भज ले रे मन ! राम !

भाई मन ! यदि तू कहे कि मुझे तो गर्भकी याद नहीं है तो दयालु, ब्रह्मवेत्ता, भगवद्भक्त संत-महात्मा तैरे ऊपर करुणा करके तुझे गर्भके दुःखोंकी याद दिलाते हैं, उनके हितोपदेशको ध्यान देकर सुन ! जो मूढ़ बालक अपने सच्चे सुहृद्, स्नेही माता-पिताकी सीख नहीं मानता, वह अन्तमें दुःख पाता है, इसी प्रकार जो अपने हितकारक गुरु भगवद्भक्तोंकी और हितकारिणी श्रुति-माताकी श्रेयस्कारिणी वाणी नहीं सुनता अथवा सुनकर भी उसके अनुसार आचरण नहीं करता, वह जन्म-जन्म दुःख ही पाता है। इसलिये गुरु-शास्त्रके वचनोंको ध्यान देकर सुन और सुनकर उसके अनुसार आचरण कर, तभी तू सुखी होगा, नहीं तो जहाँ जायगा, दुःख ही उठायेगा। चामका भजन करके चमार मत बन, रामका भजन करके आत्माराम हो जा, विषय-भोगोंसे हो जा निष्काम, भज ले रे

मन ! राम !

भाई मंसाराम ! करुणाकर भगवद्भक्तोंकी बात भी यदि तेरी समझमें नहीं आती, तो स्वयं ही विचार कर कि यह देह हड्डी, मज्जा, मेद, मांस, रुधिर आदिका बना हुआ है। मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है। भूख-प्यास, आधि-व्याधि आदि अनेक रोगोंका स्थान है, दिन-रात घटता-बढ़ता रहता है, विशेष करके तो घटता ही है। बालकपनमें परवश रखकर, गूंगा-लैंगड़ा बनाकर अनेक कष्ट देता है, जवानीमें कामरूपी भूतका इसमें आवेश होता है, जिस कामके वश होकर यह अन्धा हो जाता है, हित-अहित भूल जाता है, धर्म-अधर्मका जीवको ज्ञान नहीं रहता, किसीसे राग करता है, किसीसे द्वेष करता है, जिनके पैर पूजने चाहिये, उनको कटु वचनोंके बाण मारता है और जिनका मुख भी नहीं देखना चाहिये, उनके पैर पूजता है। इस प्रकार काम-पिशाचके वश हुआ जीव ऊट-पटाँग किया करता है, अपने हितकारी ईश्वरका भजन नहीं करता। बुढ़ापेमें यह शरीर दुर्बल हो जाता है, केश श्वेत हो जाते हैं, झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, कमर झुक जाती है, इन्द्रियाँ काम नहीं देती, सब प्रकारसे असमर्थ हो जाता है, बेटे-पोते, बहू आदि निरादर करते हैं, कहनी-अनकहनी कहते हैं, कोई बेटे-बहू सुपात्र होते हैं, तो सेवा करते हैं, समयपर भोजन दे देते हैं, परंतु भोजन भी जठराग्नि मन्द हो जानेसे नहीं पचता, इच्छा बढ़ जाती है, चाही हुई वस्तु नहीं मिलती, मिलती भी है तो उसका उपयोग नहीं हो सकता, इस प्रकार वृद्ध स्त्री-पुरुष महान् कष्ट पाते हैं, कुपात्र संतान होती है तो समयपर भोजन भी नहीं मिलता। कहा भी है—

‘दाँत गिरे अरु खुर घिसे, पीठ बोझ नहि लेय।

ऐसे बूढ़े बैल कूँ कौन बाँध भुस देय ॥’

इस प्रकार बुढ़ापेमें सब प्रकारसे मिट्टी-पलीद ही होती है, इसलिये इस चामकी आसक्तिसे पा विराम, भज ले रे मन ! राम !

‘मैं देह हूँ’ ऐसा मानना बन्धन है, ‘मैं देह हूँ’ यह ज्ञान ही अज्ञान है, ‘मैं देह हूँ’ यह बुद्धि कुबुद्धि है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा अभिमान नरकका सामान है, ‘मैं देह हूँ’ यह मति ही मोह है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा चिन्तन शोकका कारण है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा विचार चमार है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा गुमान बीमारियोंका घर है,

‘मैं देह हूँ’ ऐसी समझ संसार-सागरमें डुबानेवाली है, ‘मैं देह हूँ’ इस मतिका नाम ही अध्यास है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा जाननेका नाम ही चिज्जड-ग्रन्थि है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा समझना अविद्या है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा सोचना पापका मूल है, ‘मैं देह हूँ’ ऐसा मानना ही संसार है, इसीका नाम भय है, इसीका नाम चिन्ता है, इसीका नाम मृत्यु है, यही सब अनर्थोंका उत्पन्न करनेवाला है, इसीका नाम धोखा है, यही भ्रान्ति है, इसलिये अब भी समझ जा, सबेरेका भूला शामको घर आ जाय तो भूला हुआ नहीं है, इस चामका मत बन गुलाम, भज ले रे मन ! राम !

हे मनीलाल ! इस देहमें अभिमान करनेसे ही सब अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है, यह देह-अभिमान ही अपने-परायेका भेद करता है, ‘तू-तू’, ‘मैं-मैं’, ‘मेरा-तेरा’ ‘राग-द्वेष’—ये सब देहाभिमानसे उत्पन्न होते हैं। इस देहाभिमानके कारण ही सास-बहुओंमें झगड़ा होता है। सास बड़ी है, बहू छोटी है यह ठीक है, बड़ेको छोटेपर प्यार करना चाहिये और छोटेको बड़ेकी सेवा करनी चाहिये, यह नीति है, परंतु देहाभिमानके कारण सास बड़ी बनना तो चाहती है, परंतु बहूको प्यार नहीं करती, यदि सास बहूको प्यार करे, तो अवश्य ही बहू सासकी सेवा करे, परंतु सास सेवा तो चाहती ही है, बहूको प्यार नहीं करती। भला, यह कैसे हो सकता है ? दोनों हाथोंसे ताली बजती है, एकसे नहीं बज सकती ! इस देहाभिमानके कारण ही बहू सासकी सेवा तो नहीं करती और सासका प्यार चाहती है, यह भी सम्भव नहीं है कि सेवा तो की न जाय और मेवा मिल ही जाय। देवरानी-जेठानी, ननद-भौजाई आदि भी अपना-अपना धर्म न जानने और न करनेसे परस्पर कलह करती हैं, यह सब देहाभिमानका किया हुआ अनर्थ है। देह अनर्थका कारण नहीं है, किंतु देहमें अभिमान करना ही अनर्थका कारण है, इसलिये इस मरी देहका भजना छोड़ दे। इस देहके भजनेको पैसे-रुपयेकी आवश्यकता है, रामके भजनेमें कुछ नहीं लगते हैं दाम, भज ले रे मन ! राम !

हे मनसुखलाल ! यदि तू कहे कि मैं अधम स्त्री-जातिका मन हुआ, जो सर्व प्रकारसे पराधीन है। न कहीं आ सकती है, न जा सकती, घरमेंसे निकल नहीं सकती, साधु-महात्माओंका संग नहीं कर सकती, थोड़ी समझवाली है, फिर मुझे सदुपेक्ष

कहाँसे मिले और मेरी बुद्धि कैसे सुधरे ? यदि मैं पुरुषका मन होता, तो स्वतन्त्र होता, चाहे जहाँ घूमता, घूमनेमें मुझे कोई दोष न देता, साधु-महात्माओंसे मिलता, उनसे भगवच्चर्चा करता, भगवान्का तत्त्व पूछता, सत्य-असत्यका विवेक करता, योगी लोगोंसे मिलता, योग सीखता, मोक्षके उपाय पूछता । मैं पुरुषार्थी पुरुषका मन न हुआ, एक अबलाका मन हुआ, फिर क्या करूँ ? कुछ नहीं कर सकता । सो हे मनबालक ! यह तेरी भूल है, जैसी स्त्री स्वतन्त्र है, वैसा पुरुष स्वतन्त्र कहाँ है ? स्त्री तो एक पतिकी ही पत्नी होती है, परंतु पुरुषके तो अनेक पति होते हैं । यदि पुरुष ढोर चरानेवाला हुआ, तो उसे बहुत ढोरोंके पीछे दौड़ना पड़ता है, सब ढोर उसके पति ही हैं, क्योंकि ढोरोंके पीछे-पीछे उसे दौड़ना पड़ता है । यदि पुरुष खेती करनेवाला हुआ तो हल, चरस, बैल, बर्त, खुरपी, फावड़ा—ये सब उसके पति होते हैं, सबको उसे सँभालना पड़ता है, छः महीने पीछे कर देनेकी चिन्ता लगती है, बोहरेको ढूँढ़ता फिरता है, जमींदारको कर दे देता है तो भली-भला, नहीं दी, तो कचहरी दरबारमें भागना पड़ता है ! यदि पुरुष मास्टर हुआ, तो सब लड़के उसके पति होते हैं, उसका माथा चाट जाते हैं, इन्स्पेक्टर आदि तो प्रत्यक्ष पति हैं ही, उनके भयसे बेचारा मास्टर रातभर नहीं सोता ! यदि पुरुष दूकानदार हुआ, तो नये-नये ग्राहक उसे पति बनाने पड़ते हैं । पुरुष राजा हुआ, तो समस्त प्रजा उसकी पति है, क्योंकि सबका उसके सिरपर भार है, यदि पति ब्राह्मण हुआ, तो यजमानोंकी खुशामद करते-कराते उसका मुख सूखता है अथवा यजमानोंके लिये देवताओंको मनाता रहता है । बहुत क्या कहूँ, विचार कर देखा जाय, तो पुरुषके पति अनेक हैं और स्त्रीका पति एक है, गरीब हो या अमीर । पतिकी आज्ञानुसार कर देना मात्र ही उसकी परतन्त्रता है, नहीं तो सब प्रकारसे स्वतन्त्र ही है, ऐसी स्त्रीका मन होकर भी तूने न भजा राम, तो तू है, बड़ा नमकहराम ! इसीलिये कहती हूँ, भज ले रे मन ! राम !

हे मन ! तूने जो यह कहा कि स्त्री अधम जाति है, कहीं आ-जा नहीं सकती, यह तेरा कहना ठीक है, परंतु अधम जाति होनेसे ही वैराग्य होता है, हड्डी आदिका बना हुआ यह शरीर अधम है ही, अधम शरीर ही वैराग्यकी शिक्षा देता है,

यह अधम शरीर भी तुझे तेरी इच्छासे ही मिला है, यदि तू पूर्वजन्ममें रामका भजन करता और इस अधम शरीरको न भजता, तो यह शरीर ही न पाता । स्त्री कहीं आ-जा नहीं सकती, यह जो कहा, सो कहीं आने-जानेकी क्या आवश्यकता है, जिनको राममें प्रेम होता है, उनको घर बैठे ही गुरु मिल जाते हैं । देवहूतिको भगवान्ने स्वयं पुत्ररूप होकर उपदेश दिया था, गार्गीको उसके पिता वाचकुसे उपदेश मिला था, मैत्रेयीको उसके पति याज्ञवल्क्यने ब्रह्मविद्या पढ़ायी थी, इत्यादि अनेक दृष्टान्त इतिहासोंमें मिलते हैं कि स्त्रियोंको कहीं बाहर जाना नहीं पड़ा है । प्रत्यक्षमें देख, तेरे पड़ोसमें श्रीरामकलीको स्वयं गुरु घर आकर प्रतिदिन शिक्षा दिया करते हैं । विषयासक्त स्त्री-पुरुषोंको ही गुरु नहीं मिलते । और मिल भी जायँ, तो वे उन्हें पहचान नहीं सकते, गुरुका उपदेश भी विषयासक्तोंके समझमें नहीं आ सकता, क्योंकि धन-पुत्रादिमें आसक्तिवालोंकी बुद्धि मलिन होती है, वह दुःखको सुख और अशुचिको शुचि और अनित्यको नित्य मानती है, ऐसी बुद्धि सदुपदेश समझ ही कैसे सकती है ? बाहर फिरनेसे बुद्धि विक्षिप्त होती है, एकान्तमें बुद्धि स्थिर रहती है, योगीजन एकान्त पसंद करते हैं, स्त्रियोंको एकान्त स्वाभाविक ही प्राप्त है, इसलिये स्त्री-शरीरमें भजन करना सहज है । स्त्रीमें प्रेम और श्रद्धा पुरुषोंसे विशेष होती है, यह बात सब शास्त्रकारोंको मान्य है । जो स्त्री अपने प्रेम और अपनी श्रद्धाको संसारमें लगाती है वह संसारका विशेष ज्ञान प्राप्त करके संसारमें फँसती चली जाती है और जो स्त्री उसी प्रेम और श्रद्धाको ईश्वरमें लगाती है, तो उसे शीघ्र ही ईश्वरकी प्राप्ति हो जाती है, इसलिये भाई ! स्त्री होनेका सोच मत कर, आलस्य छोड़कर संसारसे मुख मोड़कर रामभजनमें लग जा, रामभजनमें ही तुझे मिलेगा आराम, भज ले रे मन ! राम !

भाई मन ! यदि तू कहे कि अभी तो कुछ दिन भोग भोग लेने चाहिये, जब भोगोंसे तृप्ति हो जायगी, तब रामभजन कर लूँगा, तो यह तेरा भ्रम है, भोगोंसे अनेक जन्मोंमें भी तृप्ति होनेवाली नहीं है, उनसे तो उलटी तृष्णा बढ़ेगी, तृष्णा महाराक्षसी है, इसीने सुखरूप आत्माको दुःख-सागरमें डुबो रखा है, भोग भोगनेसे न आजतक किसीकी तृप्ति हुई है, न होगी । देवहूतिका वृत्तान्त स्मरण कर, देवहूतिने अपने पति—

कर्म ऋषिकी चिरकालतक सेवा की। जब ऋषिने प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा, तो देवहूतिने गृहस्थ-सुखकी प्राप्ति का वर माँगा। कर्म ऋषिने उसकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये एक दिव्य विमान अपनी योगविद्यासे रचा, जिसमें सब प्रकारकी भोगकी सामग्री थी, देवता भी इस विमानको देखकर चकित होते थे। कई हजार अप्सराएँ देवहूतिकी दासियाँ थीं। देवहूतिने उस विमानमें बैठकर कर्म ऋषिके साथ बहुत दिनोंतक गृहस्थका सुख भोगा और देवताओंके दिव्य-दिव्य स्थानोंकी सैर की। देवहूतिके कर्म ऋषिसे नौ कन्याएँ उत्पन्न हुई और अन्तमें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब कर्म ऋषि परम धामको जाने लगे तो देवहूति पश्चात्ताप करती हुई कहने लगी—

‘हे प्राणपते ! मैंने आपको नहीं पहचाना, मुझे ईश्वरकी मायाने मोहित कर दिया, आप-सरीखे समर्थ पतिका संग करके भी मैंने अपना कल्याण नहीं किया, आपसे भोगके लिये ही प्रार्थना की। जैसे कोई दरिद्री पारस-पत्थरको पाकर भी उसका प्रभाव न जानकर उसे फेंक दे, इसी प्रकार आप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् मर्त्यको अमर बनानेवाले स्वामीको पाकर भी मैं अमर होकर सदाके लिये सुखी नहीं हुई, किंतु तुच्छ भोगोंमें फँसकर जन्म-मरणके चक्रमें ही पड़ी रही, न मालूम कबतक इस भयानक जगत्-जंगलमें भटकती रहूँगी। हे नाथ ! मेरी भूलको क्षमा कीजिये और मुझे भवसागरसे पार कीजिये, पीछे आप परमधाम जाइये।’

देवहूतिके वचन सुनकर कर्म ऋषि कहने लगे—

‘हे प्रिये ! ईश्वरकी माया ऐसी ही है, यह बड़े-बड़े विद्वानोंको मोहित कर देती है, तुझे मोहित कर दिया, तो कुछ आश्चर्य नहीं है, अब क्या हो सकता है, मैं तो अब ठहर नहीं सकता, तेरे पुत्र कपिलदेव साक्षात् भगवान्के अवतार हैं, इनके उपदेशसे तू कृतार्थ हो जायगी।’

इतना कहकर कर्म ऋषि परमधामको चले गये, पश्चात् कपिलदेवके उपदेशसे देवहूति भगवद्भजन करके भगवान्को प्राप्त हुई। हे मन ! भोगोंसे तू कभी नहीं पायेगा विश्राम, अब भोगोंमें मत दौड़, मेरे हाथमें दे दे अपनी लगाम, भज ले रे

मन ! राम !

हे प्यारे मन ! रामके भजनमें कुछ आयास भी नहीं है, क्योंकि राम सबके आत्मा हैं, अव्यय हैं, अविनाशी हैं, सुखरूप हैं, स्वयंज्योति हैं, समस्त विश्व रामके सुखसे ही सुखी-सा भासता है, रामका ही सबमें उजाला है, सर्वत्र राम व्यापक है, सारा जगत् उनसे व्याप्य है, राम पाससे भी पास हैं, तेरी चञ्चलताने ऐसे प्रत्यक्षसे भी प्रत्यक्ष, उजालेके भी उजाले, सुखके भी सुख रामको छिपा रखा है, एकाग्र होकर राम-भजनमें लग जा, फिर तुझे ऐसे सुखका अनुभव होगा कि तू सब सुखोंको भूल जायगा, मिश्री सीठी हो जायगी, धी रूखा हो जायगा, दूध पानी जँचने लगेगा, अपूर्व स्वाद पायेगा और तो क्या कहूँ कि अमृत भी तुझे तुच्छ भासने लगेगा। राम तेरे आत्मा ही हैं, सब अपने-आप हैं, संसारकी तरफ जो तू देखता है, तब अपने आत्मारामसे हट जाता है, यदि तू संसारको न देखे, तो राम फिर तेरे स्वरूप ही हैं, तुझसे अन्य नहीं हैं, ऐसे सुहृद्, सच्चे सुखरूप अपने आत्मारामके भजनेमें प्रयास ही क्या है ? भज ले रे मन ! राम ! हो जायगा तू आप्तकाम, पूर्णकाम, निष्काम, आत्मकाम, आत्माराम।

हे बहिन ! इस प्रकार मनको समझाकर मनोरमा राम-भजनमें लगकर सुखी हुई। हे बहिन ! वाम नाकके छिद्रसे जो श्वास चलता है, वह गङ्गा है और दक्षिण-छिद्रसे जो श्वास चलता है, वह यमुना है, ये गङ्गा-यमुना दोनों स्वभावसे संसारकी तरफ चलती हैं, इसीका नाम पूर्वकी तरफ बहना है। राम-भजन करनेसे ये दोनों संसारका प्रवाह छोड़कर आत्माकी तरफ चलने लगती हैं, यही इनका पश्चिमका प्रवाह है, ऐसा होनेसे जीव संसारसे मुक्त होकर परम पदको प्राप्त हो जाता है, बाहरकी गङ्गा-यमुना सृष्टिकालमें भगवान्के चरणोंमेंसे निकलकर संसारमें बहती रहती हैं और प्रलयकालमें फिर भगवान्में मिल जाती हैं। भीतरकी गङ्गा-यमुना भगवद्भजन न करनेवालोंकी संसारमें बहती रहती हैं और भजन करनेसे भगवान्में जा मिलती हैं। तेरे प्रश्नका यह उत्तर है और यही रहस्य है। हे बहिन ! सार यह है कि रामका भजन करनेवाले को मोक्षरूप परम पद दूर नहीं है, पास ही है।



दुःख इसी क्षण मिट सकता है

(एक साधक)

मूल समस्या—मानव-जीवनकी मूल समस्या है दुःख। चिन्ता, भय, अभाव, निराशा, पीड़ा, क्रोध, मानसिक तनाव, वेदना आदि दुःखके ही दूसरे रूप हैं। यदि आपको अपने जीवनमें किसी भी कारणसे किसी भी परिस्थितिमें कभी भी किंचित्मात्र भी चिन्ता, भय, तनाव, अभाव आदिकी अनुभूति होती है तो यह समझना चाहिये कि आप दुःखकी समस्यासे ग्रसित हैं।

मूल लक्ष्य—प्रभुकी अहैतुकी कृपासे प्राप्त इस अनमोल, देव-दुर्लभ मानव-जीवनका मूल लक्ष्य है परम शान्ति, जीवन्मुक्ति एवं भगवद्भक्ति प्राप्त कर लेना। परम शान्ति अर्थात् दुःखका सदैवके लिये सर्वांशमें मिट जाना, जीवन्मुक्ति अर्थात् अपने लिये किसी भी नाशवान् वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितिकी आवश्यकताकी अनुभूति न होना, भगवद्भक्ति अर्थात् प्रभुकी अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रेमका उदित हो जाना।

आप अधिक परेशान किससे हैं ?—विचार करनेपर आपको अनुभव होगा कि जीवनमें प्रतिकूलता एवं दुःख आनेपर आप जितने चिन्तित तथा परेशान होते हैं, उतनी परेशानी इस बातको लेकर नहीं होती कि मेरा जीवन जा रहा है, और अभीतक मुझे जीवनका लक्ष्य नहीं मिला। यदि आपके जीवनमें जीवनका लक्ष्य न मिलनेकी तीव्र व्याकुलता जाग्रत् हो जाती तो स्वतः ही जीवनका लक्ष्य प्राप्त हो जाता।

दुःखका दब जाना, मिट जाना—स्मरण रहे कि जिस प्रकार उपयुक्त उपचार करते रहनेसे अनेक शारीरिक रोग (रक्तचाप, हार्ट अटेक, सूगर (मधुमेह), दमा आदि दब जाते हैं, परंतु जड़-मूलसे मिटते नहीं हैं, उसी प्रकार अनुकूलताके सुखसे दुःख कुछ समयके लिये दब जाता है, लेकिन उसका जड़-मूलसे नाश नहीं होता। अनुकूलता जाते ही मानव दुःखमें आबद्ध हो जाता है। आप भलीभाँति जानते हैं कि अनुकूलता सदैव नहीं रहेगी। दुःख मिट जानेका आशय

है—भयंकर-से-भयंकर प्रतिकूल परिस्थिति, जैसे खतरनाक शारीरिक रोग, मृत्यु, प्रियतम-प्रियजनका चिर वियोग, विशाल आर्थिक हानि आदिमें भी लेशमात्र भी चिन्तित न होना और एकदम शान्त तथा प्रसन्न रहना, उसी स्थितिमें भी स्वभावसे स्वतः प्रभु-स्मृति एवं प्रभु-प्रेमका बना रहना, उसमें प्रभुकी विशेष कृपाकी अनुभूतिका होना, कृपापूरित प्रेममें डूब जाना।

क्या आपका दुःख मिट गया ?—आपने शिक्षा प्राप्त की, योग्यताका सम्पादन किया, परिवार बनाया, अतुल्य धन-सम्पत्तिका संग्रह किया, समाज-संसारमें यश, कीर्ति, सम्मान अर्जित किया। जप, तप, भजन, कीर्तन, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, दान, सत्-चर्चा, सच्चिन्तन आदि पारमार्थिक कार्य^१ भी किये, अब भी कर रहे हैं। अच्छी बात है। परंतु क्या इन सबसे आपका दुःख मिट गया ? यदि नहीं तो कहीं-न-कहीं इनके सम्पादनमें आपकी भूल रही है।

क्या दुःख मिट सकता है ?—हाँ, निःसंदेह आपके जीवनका दुःख अभी-अभी इसी पल, इसी क्षण जड़-मूलसे सदैवके लिये मिट सकता है। संत, भक्त एवं सद्ग्रन्थ हमें इसका विश्वास दिलाते हैं—

बिगड़ी जनम अनेक की सुधरे अब ही आज।
सनमुख होइ जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासहि तबही॥

(रा० च० मा० ५।४४।२)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

(गीता ९।३१)

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है। और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है।

ऊपर आये 'अब ही', 'तबही', 'शीघ्र ही' शब्द इसी तथ्यका संकेत करते हैं कि दुःख इसी क्षण मिट सकता है।

बुरे कर्मोंके फलस्वरूप मानवके सामने प्रतिकूल परिस्थिति ही आती है, दुःख नहीं आता। प्रतिकूल परिस्थितिमें दुःखका अनुभव करने अथवा न करनेमें मानव सर्वथा

१-असत्के संगका त्याग करके प्रभु-प्राप्तिके ध्येयसे पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक अल्प-से-अल्पमात्रामें किये गये किसी भी पारमार्थिक कार्यसे दुःख मिट जाता है, प्रभु मिल जाते हैं, इसलिये ये सब करणीय हैं।

स्वाधीन है। सजग साधक प्रतिकूलतामें भी शान्त एवं प्रसन्न रह सकता है।

किसी भी दूसरे व्यक्तिको अपने दुःखका कारण मानना बहुत बड़ी भूल है। जबतक आप ऐसा समझेंगे कि मेरे पति, पत्नी, बन्धु, पिता, पुत्र, सास, बहू आदि परिवारजनों, मित्रों एवं सम्बन्धियोंके कारण मुझे दुःख हो रहा है, तबतक आप दुःखसे मुक्त नहीं हो सकेंगे। आपको यह सत्य स्वीकार करना होगा कि मेरे दुःखका कारण केवल मेरी अपनी भूल है, अन्य कोई नहीं।

दुःख-निवृत्तिकी साधना—यदि आप इसी क्षण अपना दुःख मिटाना चाहते हैं तो आप अपनी उस भूलको मिटा लीजिये, जिसके कारण आप दुःखी हैं। आपकी भूल क्या है? भूल है—विवेकका अनादर, विश्वासमें विकल्प और बलका दुरुपयोग।

विवेकका अनादर—दुःखका एकमात्र आधारभूत कारण है—कामनाकी अपूर्ति। जब आप अपने शरीर, परिवारजन, समाज-संसारसे किसी भी प्रकारकी कोई कामना कर लेते हैं और वह पूरी नहीं होती, तब आपको दुःख होता है। यहाँतक कि भगवान्‌से भी किसी नाशवान्‌ वस्तुकी कामना कर लेते हैं। और भगवान्‌ उसे पूरी नहीं करते तो आपको दुःख होता है।

आप प्रभु-प्रदत्त विवेकके प्रकाशमें इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि कामना करना तो मेरे वशकी बात है, लेकिन उसे पूरी कर लेना मेरे वशकी बात नहीं है, कामना-पूर्तिमें मैं पूर्णतया पराधीन हूँ—इस बातका अनुभव एवं ज्ञान होनेपर भी आप अपने जीवनमें कामना कर लेते हैं—इसीका नाम है विवेकका अनादर अर्थात् जानते हुए भी किसी बातको न मानना।

‘ऐसा होना ही चाहिये, यह तो किसी भी कीमतपर नहीं होना चाहिये; मेरा शरीर इसी प्रकारका रहना चाहिये; पति, पत्नी, पुत्र आदि परिवारजनोंको मेरे साथ ऐसा करना ही चाहिये, ऐसा नहीं करना चाहिये’—ये सब कामनाके ही रूप

हैं। क्या होना चाहिये, अमुकको क्या करना चाहिये—इसमें आप पूर्ण पराधीन हैं। अपने ही विवेकका अनादर करके यदि आप पराधीन बन गये तो आपको आराम नहीं मिलेगा—

पराधीन सपनेहूँ सुखु नाहीं ॥

विश्वासमें विकल्प—प्रभु समर्थ हैं, सर्वत्र हैं, सर्वज्ञ हैं, परम सुहृद् हैं, करुणासागर हैं, कृपानिधान हैं। मेरे प्रभु मेरे साथ जो भी करते हैं, चाहे वह बाह्य-दृष्टिसे कितना ही प्रतिकूल, दुःखदायी, हानिकारक, अपमानजनक, अमङ्गलकारी एवं अत्यन्त खतरनाक क्यों न दिखायी दे, मेरा उसमें परम मङ्गल है, परम हित है—ऐसा मान लेना कहलाता है प्रभु-विश्वास। प्रभुके प्रतिकूल विधानमें विश्वास न करके यदि आप दुःखी एवं चिन्तित हो जाते हैं, सोचने लगते हैं कि पता नहीं, उसमें मेरा हित है या नहीं तो आप विश्वासमें विकल्प करते हैं। यह आपकी ही भूल है। इस भूलसे प्रतिकूल होनेमें आप अपना अहित मानकर दुःखी हो जाते हैं, प्रभु-विश्वासी प्रतिकूल होनेमें भी अपना परम हित ही मानता है।

बलका दुरुपयोग—शरीर, सामर्थ्य, योग्यता, धन, सम्पत्ति आदिके रूपमें आपको जो कुछ मिला है, उसका नाम है—बल। बल निर्बलोंकी धरोहर है। बल दूसरोंके लिये है। बलका सदुपयोग है—‘पर’-सेवा। शरीर, परिवार, समाज, संसार आदि सभी ‘पर’ हैं। जब आप बलका दुरुपयोग करते हैं, बलसे सुखका भोग करना चाहते हैं तब दुःखी होते हैं। यह नियम है कि सुखके भोगीको अभी या कभी विवश होकर दुःख भोगना ही पड़ता है।

यदि आप इसी क्षण यह निश्चय-निर्णय कर लें कि इस क्षणके बादमें बलसे केवल सेवा करूँगा, प्रभुके प्रत्येक विधानमें अपने परम हितका दर्शन करूँगा, विवेकका आदर करके किसी भी प्रकारकी कोई कामना अपने जीवनमें नहीं रखूँगा तो आप इसी क्षण दुःखसे सर्वाशमें मुक्त होकर शान्ति, मुक्ति और भक्तिको पा सकते हैं। यही मानव-जीवनकी सफलता है।

चित्तको पवित्र करने-जैसा कल्याणकारक साधन और कोई नहीं है; क्योंकि चित्त ही चिन्तामणिकी भाँति सब पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाली भूमि है। जिसके विचार और चिन्तन पवित्र हैं, उससे अपवित्र क्रिया बन ही नहीं सकती, उससे तो विशुद्ध कर्म ही होते हैं।—अब्बू तुराव

गीता-तत्त्व-चिन्तन

गीतामें आये 'अवशः' पदका तात्पर्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

सम्बन्धः प्रकृतेर्यावत्तावज्जीवोऽवशो भवेत् ।

प्रकृतेर्वशतात्यागे जीवस्तु स्ववशस्तदा ॥

शरीर, इन्द्रियों आदिसे सुख लेनेकी जो आदत पड़ी हुई है उसको स्वभाव कहते हैं। इस स्वभावके परवश, अवश, अधीन हुए प्राणियोंसे प्रकृतिजन्य गुण कर्म कराते हैं— 'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (३।५)। यह स्वभावकी अवशता है।

श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य भोगोंकी बहुलताके कारण भोगोंके परवश हो जाता है, भोगोंकी तरफ खिंच जाता है, भोगोंके परवश होनेपर भी पूर्वजन्मकृत अभ्यासके कारण वह पुनः साधनमें खिंच जाता है— 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः' (६।४४)। यह भोगोंकी अवशता है।

एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर जब ब्रह्माजीकी रातका आरम्भ होता है, तब प्रलय होता है। उस प्रलयमें प्रकृतिके, गुणोंके अथवा स्वभावके परवश हुए जीव ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरमें लीन हो जाते हैं। फिर जब ब्रह्माजीके दिनका आरम्भ होता है, तब सर्ग होता है। उस सर्गमें सभी परवश जीव ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे पैदा होते हैं— 'रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे' (८।१९)। यह प्रलय और सर्गकी अवशता है।

ब्रह्माजीके सौ वर्ष पूरे होनेपर जब महाप्रलय होता है, तब सम्पूर्ण जीव प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। जब प्रकृतिमें लीन उन जीवोंके कर्म परिपक्व हो जाते हैं, तब भगवान् प्रकृतिको अपने वशमें करके महासर्गके आदिमें उन परवश हुए जीवोंकी रचना कर देते हैं— 'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्' (९।८)। यह महाप्रलय और महासर्गकी अवशता है।

पूर्वकर्मके अनुसार यह जीव जिस वर्णमें जन्मा है और वहाँपर माता-पिताके रज-वीर्यके अनुसार इसका जैसा स्वभाव बना हुआ है, उस स्वभावके यह परवश रहता है और उसके अनुसार ही यह कर्म करनेमें बाध्य होता है— 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्' (१८।६०)। यह स्वभावकी अवशता है।

स्वभाव बनता है वृत्तियोंसे, वृत्तियाँ बनती हैं गुणोंसे और गुण पैदा होते हैं प्रकृतिसे। अतः चाहे स्वभावके परवश कहो, चाहे गुणोंके परवश कहो और चाहे प्रकृतिके परवश कहो, एक ही बात है। वास्तवमें सबके मूलमें प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशता ही है। इसी परवशतासे सभी परवशताएँ पैदा होती हैं। अतः प्रकृतिजन्य पदार्थोंकी परवशताको ही कहीं कालकी, कहीं स्वभावकी, कहीं कर्मकी और कहीं गुणोंकी परवशता कह दिया है।

तात्पर्य है कि यह जीव जबतक प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत नहीं होता, परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर लेता, भगवान्की शरण नहीं लेता, तबतक यह गुण, काल, भोग और स्वभावके अवश (परवश) ही रहता है अर्थात् यह जीव जबतक प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानता है, प्रकृतिमें स्थित रहता है, तबतक यह आसक्तिके कारण कभी गुणोंके, कभी कालके, कभी भोगोंके और कभी स्वभावके परवश होता रहता है, कभी स्ववश (स्वतन्त्र) नहीं रहता। इनके सिवाय यह परिस्थिति, व्यक्ति, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिके भी परवश होता रहता है। परंतु जब यह गुणोंसे अतीत अपने स्वरूपका अथवा परमात्मतत्त्वका अनुभव कर लेता है, तो फिर इसकी यह परवशता नहीं रहती और यह स्वतःसिद्ध स्वतन्त्रताको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ यह शंका होती है कि ज्ञानी तो स्ववश होता है पर भक्त स्ववश नहीं होता, प्रत्युत भगवान्के परवश होता है। इसका समाधान यह है कि भगवान् 'पर' नहीं हैं, प्रत्युत 'स्व' हैं, स्वकीय हैं, आत्मीय हैं। अतः जो स्वकीय है, उसके परवश होना वास्तवमें स्ववश होना ही है। भक्तकी यह परवशता ज्ञानीकी स्ववशतासे भी श्रेष्ठ है। कारण कि ज्ञानीमें तो बहुत दूरतक सूक्ष्म अहंकार (व्यक्तित्व) रहनेकी सम्भावना रहती है, पर भक्तमें आरम्भसे ही अहंकार नहीं रहता। भगवान्पर ही निर्भर रहनेसे भक्तमें राग-द्वेष आदि नहीं होते। भगवान् स्वयं उसको ज्ञान देते हैं (१०।११) और उसका उद्धार भी स्वयं कर देते हैं (१२।७)।

आइये गोपालनका संकल्प करें

(श्रीअर्जुनलालजी बन्सल)

गौ माता कौन है तथा शास्त्रोंमें इसकी महिमाका वर्णन करते हुए गोपालनको महत्त्व क्यों दिया गया ? इस विषयमें थोड़ी-सी चर्चा यहाँ प्रस्तुत है—

शास्त्रोंमें वर्णन है कि क्षीरसागर-मन्थनके समय पाँच गौएँ उत्पन्न हुई थीं, जिनका नाम था—नन्दा, सुभद्रा, सुरभि, सुशीला एवं बहुला। देवताओंने इन पाँचों गौओंको लोक-कल्याणार्थ, अभीष्ट कामनाओंकी पूर्तिके लिये वसिष्ठादि पाँच महर्षियोंको प्रदान कर दिया। गोमाताकी विशेषताका वर्णन करते हुए हमारे ऋषि बताते हैं कि गौके रोम-रोममें तैतीस करोड़ देवताओंका वास है। इसके विभिन्न अङ्गोंमें गङ्गा, यमुना-जैसी पवित्र नदियाँ, समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी महासमुद्रों एवं विशालकाय पर्वतोंके साथ विराजमान हैं। स्वयं वेद भी गोमातामें निवास करते हैं। इसीलिये गौका दूध, दही, माखन, मूत्र एवं गोबरके साथ-साथ इसके खुरोंसे स्पर्श की हुई पृथिवीकी रज भी हमारे लिये अमृत-तुल्य है।

नन्दाबाबके पास नौ लाख गौएँ थीं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ वृन्दावनमें प्रातःसे संध्या होनेतक गौओंको चराया करते थे। भगवान्की गोचारण-लीलासे इसके महत्त्वका स्पष्ट संकेत मिलता है। गौके बिना जीवन नहीं, गौके बिना कृष्ण भी नहीं, कृष्ण-भक्ति भी नहीं। आज हम व्रजमें जाते हैं और वृन्दावन-धाममें कन्हैयाके अनेकों रूपोंमें दर्शन करते हैं, व्रजरजको पवित्र मानकर अपने मस्तकपर धारण भी करते हैं। लाखों व्यक्ति गोवर्धनकी परिक्रमा कर कृष्णके प्रति अपना प्रेम, भक्ति और श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। अपना अनुष्ठान पूरा कर दूध-दही और मिष्ठाननसे कन्हैयाका भोग लगाते हैं, परंतु आपने कभी सोचा कि कृष्णको केवल गौका दूध, दही और माखन प्रिय था, जिसे पानेके लिये वे चोरीतककी लीला भी किया करते थे। बड़े ही शर्म एवं लज्जाकी बात है, आज हम भैंस, बकरी अथवा पाउडरके दूध और इनसे बनी सामग्रीसे कन्हैयाको प्रसन्न करना चाहते हैं, इसे हम अपनी मानसिक विकृति ही कहेंगे। कन्हैयाकी बाललीलाके दर्शनमें हम देखते हैं—

माता यशोदा नित्य नवीन माखनसे कृष्णका भोग लगाया करती थीं। गोपियाँ कृष्णको रिझाने—नचानेके लिये गौके ही दूध, दही और माखन खिलानेका लालच दिया करती थीं।

हमारा दुर्भाग्य है कि समयके प्रभावमें आकर आज हम गोपालनसे विमुख हो गये हैं। एक-एक बूँद दूधके लिये तरसते बच्चोंको देख हमारा हृदय पिघलता नहीं। सुना करते हैं कि कभी इस देशमें दूध-दहीकी नदियाँ बहा करती थीं, आज इसी देशमें दूधके बिना कृशकाय माताएँ अपने नवजात शिशुओंको स्तनपान भी नहीं करा पातीं। भारतका इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ! रुग्णावस्थामें गोदुग्धके स्थानपर आधुनिक दवाओंपर निर्भर रहना हमारी नियति बन गयी है। हमारी मानसिक अशान्ति एवं सामाजिक पतनका इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण समझमें नहीं आता। निश्चित ही हमारी पर्यावरण-समस्या भी सीधे रूपसे इसीसे जुड़ी है।

यदि हम थोड़ा पीछे मुड़कर देखें तो पता चलता है कि प्रत्येक ग्राममें, नगरों एवं शहरोंमें भी गोपालनमें रुचिके कारण गोचरभूमि छोड़ा करते थे। इस क्षेत्रमें सभी गौएँ स्वच्छन्द-रूपमें चरा करती थीं। इन चरागाहोंमें जल एवं हरी घास प्रचुर मात्रामें उपलब्ध रहती थी। इसीके साथ-साथ घने वृक्ष भी छायाके लिये उगाया करते थे। इसीसे स्वच्छ वायुके साथ पर्यावरण-संतुलन भी बना रहता था; परंतु आज ऐसी समस्त भूमि समाप्त कर अन्य कार्यके लिये प्रयोगमें लायी जाने लगी है। इसी कारणसे गोपालकोंको अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा और अन्ततः वे गोपालनसे विमुख होने लगे। हम शास्त्रोंका प्रमाण देकर अपनी जीवन-नौकाको धकेलते तो हैं, परंतु उसका अनुसरण नहीं करते। शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है कि गौओंके लिये जो गोचरभूमि प्रदान करता है, वह देवलोकमें भी पूज्य होता है, इसके विपरीत जो व्यक्ति इन गोचरभूमियोंको अपने निजी स्वार्थके लिये प्रयोगमें लाकर नष्ट करते हैं, उन्हें अनेक ब्रह्महत्याओंका दोष लगता है। अतएव गोपालनके महत्त्वको स्वयं भी समझें, और औरोंको भी समझायें।

आज जो व्यक्ति अपनेको कृष्ण-भक्त मानता है, कन्हैयाकी उपासना करता है, जो मानसिक अथवा शारीरिक रूपसे वृन्दावनमें वास करता है, उन्हें तो विशेषरूपसे कृष्णकी प्रसन्नताके लिये गोपालनपर ध्यान देना ही होगा। हम

सचमुचमें यदि गोहत्या बंद कराना चाहते हैं तो गोसंवर्धनकी ओर प्रेरित होना ही पड़ेगा। आइये गोमाताकी रक्षार्थ हम सब मिलकर गोपालनका संकल्प करें। यही हमारी सच्ची गो-भक्ति है और यही हमारी आराधना है।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

भोजनमें सावधानी

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। किसी भी प्राणीके साथ घृणा कभी नहीं करनी चाहिये और न आत्मदृष्टिसे उसे किसी प्रकार भी अपनेसे नीचा समझना चाहिये। बल्कि सबमें एक ही भगवान् सदा समान-रूपसे विराजित हैं, यह समझकर मन-ही-मन प्राणिमात्रको प्रणाम करना चाहिये तथा यथासाध्य सबकी सेवामें तत्पर रहना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च

ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनयः ॥

(११।२।४१)

‘आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लताएँ, नदी, समुद्र—सभी श्रीभगवान्‌के शरीर हैं। सभीमें भगवान्‌का निवास है, ऐसा समझकर जो कोई प्राणी मिले, उसे अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करे।’

यह होनेपर भी, जहाँतक मेरी समझ है, खानपानके मामलेमें विशेष सावधानी रखना आवश्यक है। अन्नके अनुसार ही मन बनता है। अन्न सात्त्विक है या तामसिक, कैसी कमाईका अन्न है, भोजन बनानेवाला कौन है और भोजन बनाते समय उसकी चित्तवृत्ति कैसी थी। स्थान कैसा है, पंक्तिमें साथ कौन-कौन बैठे हैं तथा भोजन परसनेवाले किस भावके कौन हैं ? आदि सभी बातें विचारणीय हैं। यह प्रश्न हँसीमें उड़ा देनेका नहीं है। आजकल जैसे खानसामा साहबके लाये हुए किसी भी पदार्थको खाने या पीने योग्य समझकर खा-पी लिया जाता है। न जूँठनका परहेज है और न किसी और बातका। यह असलमें बहुत बड़ा प्रमाद है। अन्न जैसे पैसोंका होगा, बनानेवाले जैसे होंगे, स्थान और भोजनसामग्री

जैसी होगी, वैसा ही मनपर प्रभाव पड़ेगा। वस्तु-शक्तिका प्रभाव तो होता ही है, बल्कि यहाँतक होता है कि भोजन करानेवालेकी मनोभावना या इच्छा-शक्तिका भी भोजन करनेवालोंपर प्रभाव पड़ता है।

एक महात्मा कुछ साधुओंके साथ गङ्गातटपर विचर रहे थे। उन सबने एक दिन किसी गाँवमें एक गृहस्थके यहाँ भिक्षा की। रातको सबको स्वप्नदोष हो गया। सबने महात्माजीने जब अपने स्वप्नदोषकी बात कही, तब सभी साधुओंने कहा कि हमको भी हुआ है। महात्माजी बड़े असमंजसमें पड़े। कोई कारण नहीं दिखायी दिया। तब वे उस गृहस्थके यहाँ गये और उससे पूछा कि ‘कल तुमने हमलोगोंको भोजन कराया था, उस समय तुम्हारे मनमें क्या भाव था ? सच-सच बताओ।’ उसने कहा—‘महाराज ! और तो कुछ नहीं, मेरे मनमें यह कामना थी कि मेरे संतान हो जाय।’ महात्माजी समझ गये कि स्वप्नदोष होना इसकी विचारशक्तिका ही परिणाम है, जिससे अन्न प्रभावित हुआ और उसका असर हमलोगोंपर पड़ा।

इसी प्रकारकी एक घटना दूसरी है—किसी एक गृहस्थके यहाँ दस-बारह अतिथि आये थे। घरमें रसोई बनानेवाली गृहस्थकी एक विधवा पुत्रवधू थी। घरकी और स्त्रियाँ कहीं गयी हुई थीं। पुत्रवधू बेचारी बीमार थी तथा रात-दिन सतायी जाती थी। और उसे शरीर ठीक न रहनेपर भी घरका सारा काम करना पड़ता था। घरके आदमी तो थे ही, पर आज दस-बारह अतिथियोंके लिये रसोई अधिक बनानी थी। उसका पेट दुख रहा था और वह सेती हुई रसोई बना रही थी। अतिथियोंने भोजन किया और एक ही घंटे बाद सबके पेटमें ऐसा दर्द हुआ कि सबको रोना पड़ा। घरमें पता लगा कि बहूके पेटमें पहलेसे ही बड़ा दर्द था। अब तो वह पड़ी कराह रही है। क्योंकि रसोई बनानेमें उसे लगातार घंटों पेटकी पीड़ा सहते बैठे रहना पड़ा, कोई उपचार हुआ नहीं, इससे

उसका दर्द और भी बढ़ गया।

दुर्योधनका अन्न खानेसे भीष्मपितामह-सरीखे महापुरुष धर्मका निर्णय करनेमें असमर्थ हो गये थे। इसीलिये अन्न-ग्रहणमें अन्नदाता, रसोइया, स्थान, अन्न, स्पर्श आदि बहुत-सी बातोंका ध्यान रखना पड़ता है। श्रीचैतन्यमहाप्रभु-सरीखे विश्वप्रेमी पुरुष भी इसीलिये ब्राह्मण वैष्णवके हाथका बना हुआ शुद्ध सात्विक भोजन—जो तुलसीजी चढ़ाकर पहले भगवान्‌के भोग लग चुका होता था—किया करते थे। उन्होंने कहा है—

प्रतिग्रह ना करिबे कभू राजधन ।
विषयीर अन्न खाइले दुष्ट हय मन ॥
मन दुष्ट होले नहे कृष्णोर स्मरण ।
कृष्ण-स्मृति बिनु हय निष्फल जीवन ॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

‘राजधनका कभी प्रतिग्रह न करना। विषयी मनुष्यका अन्न खानेसे मन दुष्ट हो जाता है, मनके दुष्ट होनेसे श्रीकृष्णका स्मरण नहीं होता और श्रीकृष्णकी स्मृतिसे रहित जीवन निष्फल हो जाता है।’

आज जो इतनी धर्मग्लानि और पढ़े-लिखे लोगोंमें अनाचारप्रवृत्ति देखी जाती है, इसमें अन्नदोष प्रधान कारण है। वे प्रायः हर किसीकी जूँटन हर किसीके हाथसे खाते हैं और इसीमें गौरव-बोध करते हैं। फल प्रत्यक्ष है। पर समझाये कौन ! बुद्धिका निर्णय ही जो उल्टा हो रहा है।

(२)

भगवान्‌के लिये अभिमान छोड़ो

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपको भगवान्‌के न मिलनेका दुःख है, यह तो बड़ी अच्छी बात है; पर आप जो उनपर नाराज हैं और यह सोचते हैं कि ‘इतना चाहनेपर भी वे नहीं सुनते तो फिर कोई उन्हें क्यों भजे !’ यह ठीक नहीं है। सच बताइये, क्या आपके मनमें केवल उन्हींकी चाह है ? क्या अन्यान्य वस्तुओंकी वासना रात-दिन आपके मनमें नहीं लहरा रही है ? यदि है तो फिर आप उन्हें कैसे दोष दे सकते हैं ? संसारकी भी कोई दुर्लभ चीज तबतक नहीं मिलती, जबतक उसके लिये अनन्य नहीं तो कम-से-कम मुख्यभावसे प्रयत्न नहीं किया जाता। फिर

भगवान् तो सर्वलोक-महेश्वर हैं। सर्वशिरोमणि हैं। पर इनके लिये अनन्य-भाव तो दूर रहा, मुख्यभाव भी तो नहीं है। हम तो इन्हें वैसे ही चाहते हैं, जैसे घरमें और भी बहुत-सी छोटी-बड़ी चीजोंको चाहते हैं। बताइये, यह सच है या नहीं ? दूसरा कोई होता तो शायद आपकी बात सच भी मानता; मैं तो जानता हूँ कि आप रात-दिन संसारके विभिन्न पदार्थोंकी पीछे परेशान रहते हैं। शायद एक मिनटको भी आपका मन भोगपदार्थोंकी स्मृतिको नहीं छोड़ता। फिर आप कैसे यह कह सकते हैं कि आपके इतना चाहनेपर भी भगवान् आपकी नहीं सुनते ? मैं तो समझता हूँ, वे आपकी बहुत सुनते हैं। न सुनते होते तो भोग-जगत्‌में रचे-पचे रहनेपर भी आपके चित्तमें जो कभी-कभी भगवान्‌की स्मृति होती है और उन्हें पानेकी मन्दतम भी कामना जाग्रत् होती है, सो कैसे होती ? आपसे यही अनुरोध है कि आप भजन करते रहिये और यथासाध्य सत्पुरुष या सद्ग्रन्थोंका संग भी कीजिये। भगवान्‌की लीला-कथा सुनते-पढ़ते और उनका पवित्र नाम लेते-लेते जब कभी उनमें आपकी आसक्ति हो जायगी और उनको पानेकी आकांक्षा सचमुच जग उठेगी, तब आपके हृदयमें विरहकी आग पैदा हो जायगी। वह अग्नि सारे प्रतिबन्धकोंको जलाकर ऐसा शुभ्र प्रकाश फैलायेगी कि फिर भगवान्‌की मनोमोहिनी झाँकी आपके सामने होगी और आप उसे पाकर निहाल हो जायँगे।

दूसरी बात यह है कि भगवान्‌की प्राप्ति असलमें उनकी कृपासे ही होती है। मनुष्यको भजन करना चाहिये उनकी कृपाकी अनुभूतिके लिये ही। कहीं भी मनमें अहंकार नहीं आना चाहिये। वैराग्य, ज्ञान और भक्तिका अहंकार भी बड़ा बाधक होता है। व्रजमें भगवान्‌के मधुर मिलनपर अभिमान करनेवाली प्रधान गोपाङ्गनाको अकेली छोड़कर भगवान् इसीलिये अन्तर्धान हो गये थे। भगवान्‌की कृपासे ही उनके दासत्वका और उनकी सेवा-भक्तिका अधिकार प्राप्त होता है। रो-रोकर जब भक्त अपने सारे अहंकारको खो देता है, तब उसे भगवान्‌की कृपा मिलती है। महाकवि रवीन्द्रनाथने अपने भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए बहुत सुन्दर शब्दोंमें कहा है—

आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार चरणधूलार तले ।
सकल अहंकार हे आमार डुबाओ चोखेर जले ॥

निजरे करिते गौरव दान निजरे केवल करि अपमान ।
 आपनारे शुधू घेरिया घेरिया धूरे मरि पले पले ॥
 आमारे ना येन करि प्रचार आमार आपन काजे ।
 तोमारि इच्छा करो हे पूर्ण आमार जीवन माझे ॥
 याचि हे तोमार चरम शान्ति पराने तोमार परम कान्ति ।
 आमारे आडाल करिया दाँडाओ हृदयपद्म-दले ॥

(सकल०)

‘हे प्रभो ! अपनी चरणधूलिके नीचे मेरे मस्तकको झुका दो । मेरे सारे अहंकारको आँखोंके जलमें डुबा दो (इतने आँसू बहें कि उसमें सारा अहंकार डूब जाय) ।

‘मैं अपनेको गौरव देने जाकर केवल अपना अपमान ही करता हूँ । प्रतिपल केवल अपनेको ही घेरे हुए घूमता रहता हूँ । मेरे सारे अहंकारको आँखोंके जलमें डुबा दो ।

‘मैं अपने कामके लिये अब अपना प्रचार न करूँ । मेरे जीवनमें हे प्रभो ! तुम अपनी इच्छा पूर्ण करो ।

‘मैं चाहता हूँ तुम्हारी चरम शान्तिको, मैं चाहता हूँ प्राणोंमें तुम्हारी परम कान्तिको, प्रभो ! मेरी आड़ देकर तुम हृदय-कमलपर खड़े हो जाओ । मेरे सारे अहंकारको आँखोंके जलमें डुबा दो ।’

इसलिये भगवत्प्राप्तिकी साधनामें लगे हुए साधकके हृदयमें अपनी साधनाका भी अभिमान नहीं आना चाहिये । याद रखना चाहिये, भगवान् वहीं आते हैं, जहाँ दूसरा नहीं होता । वे खाली स्थान चाहते हैं । यदि ‘हम’ बीचमें खड़ा रहेगा तो उनके लिये स्थान खाली कहाँ रहेगा ?

(३)

भगवदवतारका स्वरूप और हेतु

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । श्रीमद्भगवद्गीतामें जो यह आया है कि ‘भगवान् साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मके संस्थापनके लिये अवतार धारण करते हैं’ सो सर्वथा सत्य है । पर इसमें न तो यह संदेह करना चाहिये कि ‘भगवान् अपने स्वरूपमें अनन्त हैं, वे यदि आंशिकरूपसे यहाँ आते हैं, और वहाँ उनका आंशिकरूप ही बच रहता है । इसलिये वे अनन्त कहाँ रहे, और यदि अनन्त नहीं, तो फिर सच्चिदानन्दधन पूर्णब्रह्मसे अतिरिक्त क्या वे कोई दूसरी वस्तु हैं ?’ क्योंकि सचमुच

भगवान् नित्य, अनन्त और अखण्ड हैं और वे समग्ररूपसे ही अवतीर्ण होते हैं, परंतु उसी समय वैसे ही वे समग्ररूपसे विश्वमें व्याप्त भी रहते हैं । इतना ही नहीं, इस विश्वके बाहर भी वे समग्ररूपसे स्थित रहते हैं । इसीलिये उपनिषद्ने कहा है— ‘पूर्णरूपसे पूर्ण ग्रहण कर लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है ।’

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

न यह मानना चाहिये कि ‘भगवान् अवतार नहीं ले सकते ।’ ऐसा माननेसे तो भगवान्की सर्वशक्तिमत्ता ही नष्ट हो जाती है । वे परिपूर्ण रहते हुए ही इच्छानुसार एक ही साथ एक जगह या अनेक जगह विभिन्न रूपोंमें अवतीर्ण हो सकते हैं । इन्हीं बातोंसे उनकी भगवत्ताका पता लगता है ।

भगवान् बिना अवतार लिये अपनी शक्तिसे ही साधुओंका परित्राण, दुष्कृतोंका विनाश और धर्मका संस्थापन कर सकते हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं । तथापि वे परम दयालु होनेके कारण स्वयं अवतीर्ण होते हैं और असलमें वे अवतीर्ण होते हैं, इसीलिये दुष्कृतोंके विनाशके बहाने उनके दुष्कृतोंका विनाश होता है और वे अनायास ही परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं । श्रीमद्भागवतमें एक बड़ा सुन्दर हेतु अवतार-ग्रहणका यह बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमाश्रितः ।

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥

‘भगवान् प्राणियोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर वे सर्वथा भगवत्परायण हो जाते हैं ।’

असलमें भगवान् अपने भक्तोंको ही नहीं, जीवमात्रको अपना प्रेमदान करना चाहते हैं । वे न मालूम कितने रूपोंमें आकर मनुष्यके हृदयद्वारको खटखटाते हैं, परंतु वह अहंकारकी अर्गला लगाकर हृदयके दरवाजेको बंद करके निश्चिन्तरूपसे बैठा अविद्याके सपने देखता रहता है । भगवान् उत्तर न पाकर लौट जाते हैं । परंतु न तो वे इससे रूठते हैं और न क्रोध करते हैं । वे पुनः-पुनः आते हैं । जब मनुष्य किसी तरह नहीं सुनता तब उसके हृदयपर जरा जोरसे चोट करके उसे जगाते हैं और उसका कल्याण करते हैं । कल्याणमय-मङ्गलमय प्रभु कल्याणके सिवा और क्या करें ?

पढ़ो, समझो और करो

(१)

श्रद्धाका चमत्कार

जब कभी मुझे स्वर्गवासी रायबहादुर नागरजी (केन्द्रिय सरकारके अपने समयके एक बड़े अफसर) के यहाँ जानेका मौका मिलता था, तब उनके जीवनके अनेक अद्भुत अनुभव तथा उनके उत्तम और बुद्धिमय उपदेश तथा विचारोंकी परम्परा जाननेका अमूल्य अवसर प्राप्त होता था। ईश्वरकी दृढ़ भक्ति और विश्वास उनके जीवनका मुख्य ध्येय था।

एक समय मैं उनके घर (जलालपुर, सूरत जिलेका एक गाँव) गया था। बातचीतके सिलसिलेमें उनके टेबलपर पड़ा हुआ एक लिफाफा मेरे देखनेमें आया। पत्र सुबहकी डाकसे आया था और वह उत्तरप्रदेशके सरकारी रसायन-अन्वेषक (Chemical Analyser) श्रीचटर्जी नामक एक बंगाली सज्जनका लिखा हुआ था। रायबहादुरने कहा कि 'पत्र पढ़ो और इससे क्या सूचित होता है उसका निर्देश करो।' पढ़नेके बाद मैंने कहा—'दादा ! यह आदमी आपको बड़े प्रेम और अनुभूतिके साथ पत्र लिखता है। मालूम पड़ता है कि आपने इसके लिये बड़ा काम किया था और यह आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझता है और उसके बोझसे अपनेको सदा दबा पाता है। आप इसके लिये सदा स्मरणीय हैं।' रायबहादुर सस्मित बोले—'तुम्हारी कल्पना बिल्कुल ठीक है। चटर्जी साहब बड़े प्रेमी हैं और वे सदा ऐसी ही चिट्ठी लिखते हैं। वे समझते हैं कि मैंने उनको उपकृत किया है और पथ-प्रदर्शकका काम किया है। पर मैंने कुछ नहीं किया। करनेवाले भगवान् हैं। मनुष्य तो निमित्तमात्र है। आजकल लोग श्रद्धा और भक्ति-जैसी शक्तिमयी साधन-सामग्रियोंको विश्वासकी दृष्टिसे नहीं देखते हैं और महान् साधकों और भक्तोंकी जीवनीको उपहासकी नजरसे देखते हैं, पर इस मनुष्यका इतिहास, श्रद्धा और प्रेम सदा सत्य और सनातन है तथा ये महान् कार्य करनेकी क्षमता रखते हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। सुनो—

बहुत वर्षों पूर्वकी बात है जब मैं पूसा (दरभंगा, बिहार) स्थित केन्द्रिय सरकारकी कृषिशालाके अध्यक्षका मुख्य सलाहकार (Personal assistant) था, तब वहाँकी

रसायनशालाके अधिष्ठाता डाक्टर लेदर (Dr. Leather) की अधीनतामें एक चटर्जी नामक बंगाली सज्जन काम करते थे। लेदर साहब बड़े विद्वान् और कार्यदक्ष थे, पर स्वभावमें दुर्वासाके ही अवतार थे और उनका कोपभाजन बननेका अवसर सदा सभी कार्यकर्ताओंको प्राप्त होता था, पर उनमें मुख्य चटर्जी ही होते थे। अनेक युक्तियाँ और परिश्रम करनेपर भी वे साहबको प्रसन्न नहीं कर सके और उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद यह वैर पूर्वजन्मसे चला आता हो। परिस्थिति सम्हलनेके कोई लक्षण नहीं दीख पड़ते थे और ऐसी विकट हालतमें उनको ऐसा विश्वास हो गया कि पानीमें रहकर मगरसे वैर रखनेकी अपेक्षा नौकरी छोड़कर घर चला जाना ही ठीक होगा और वे इसके लिये अवसर ढूँढ़ने लगे। परिवार बड़ा था, इसलिये जल्दी करना भी ठीक नहीं था। साहब तो कोई भी बहाना ढूँढ़कर उनको सतानेका अवसर नहीं चूकते थे और यही चाहते थे कि किसी तरह यह आदमी छोड़कर चला जाय तो अच्छा हो। थोड़े ही दिनोंमें यह समस्या स्वयं उपस्थित हो गयी। संयोगसे चटर्जी महोदयके एकाकी पुत्रने टाइफाइडकी कठिन बीमारी लेकर पिताकी समस्याको चरम सीमापर पहुँचा दिया। उसकी सेवा-शुश्रूषामें रत रहनेके कारण ऑफिस जानेमें बारंबार देर होती थी और वह अग्रिममें घीकी आहुतिका काम करती थी। साहबकी नाराजगी बहुत बढ़ गयी और चटर्जी बारंबार तिरस्कृत और अपमानित होने लगे। भगवान् ही अब त्राण करें तो हो सकता है—ऐसा उनको पग-पगपर लगने लगा। एक दिन पुत्रकी अवस्था अपेक्षाकृत खराब थी और वे उत्कण्ठापूर्वक डॉक्टरकी राह देखने लगे। ऑफिसका समय हो रहा था, पर एकाकी पुत्रको ऐसी दशामें छोड़कर जानेको उनका मन नहीं कर रहा था। डॉक्टर आये और गये और जब वे दफ्तर पहुँचे, एक घंटा समय बीत गया था। आज जरूर कोई अनिष्ट होनेवाला है ऐसी आशंका उनके दिलमें होने लगी। दफ्तर पहुँचते ही उन्होंने देखा कि साहब अग्रिशर्मा बनकर उनके टेबलके पास ही खड़े थे और उनको देखते ही व्याघ्र-गर्जना करते हुए बोले—'मि० चटर्जी ! नियम-भङ्ग और शिष्टपालनकी उपेक्षाके कारण मैं आपको थोड़े दिनोंके लिये नौकरीपरसे हटा रहा हूँ। आप हमेशा देर करते रहते हैं,

पर आज तो आपने हद कर दी। यह किसी तरहसे बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। पढ़ा-लिखा आदमी इतना बेसमझ और मन्दबुद्धि हो सकता है, यह मुझे भारतहीमें देखनेको मिला।'

अपमानसे काँपते हुए चटर्जी बोले—'साहब ! मेरा कोई अपराध नहीं। आज पंद्रह दिनोंसे मेरा लड़का टाइफायडकी भयंकर बीमारीसे छटपटा रहा है, आज उसकी हालत गम्भीर है। सेवामें दूसरा कोई नहीं था। इसलिये अपनी अनिच्छा होते हुए भी डॉक्टरके आनेकी राह देखकर मुझे बैठना पड़ा और इसी कारणसे देर हो गयी। डॉक्टर आज कुछ देर करके आये। आप ही कहिये, ऐसी विषम परिस्थितिमें मेरे लिये और क्या चारा था। मेरे अपराधकी ओर नहीं पर मेरे बच्चोंकी ओर देखिये और ऐसा कठोर दण्ड नहीं दीजिये। मैं आपका तुच्छ सेवक हूँ।' वे आगे बोल न सके और उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

साहब ऐसा स्वर्ण-अवसर क्यों चूकने लगे 'खानगी कामके कारण सरकारी काम रुक नहीं सकता। मेरा निर्णय बदल नहीं सकता। खैर मनाओ कि मैंने तुम्हें नौकरीसे निकाल नहीं दिया। थोड़े महीनोंके लिये हटाये गये हो। भविष्यमें यदि ऐसा हुआ तो फिर नौकरी गयी समझो' कहते-कहते साहब वहाँसे चले गये। अपमान और भर्त्सनाने चटर्जीको बेहाल कर दिया। थोड़े समयके लिये पदच्युत (Suspend) होना यह लाञ्छनका विषय है। यह तो जिंदगीभरके लिये धब्बा हो गया और ऐसी हालतमें त्यागपत्र देना ही ठीक होगा, यह निश्चित कर उन्होंने फौरन त्यागपत्र लिखकर दे दिया। साहब तो यही चाहते थे और उन्होंने तुरंत स्वीकार कर लिया।

जब मैंने अपने दफ्तरमें चटर्जीके इस दुस्साहसकी बात सुनी, तब मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कोई भी काम करनेके पूर्व मेरी सलाह लिया करते थे और मेरी रायके बिना कोई भी काम करना उचित नहीं समझते थे। ऐसा अविचारी काम उतावलीमें करनेके कारण मैंने उनको बुलवा भेजा। वे तो त्यागपत्र देकर स्वयं ही मेरे आफिसमें आ रहे थे। मैंने उनको स्निग्ध स्वरमें उपालम्भ देते हुए कहा—'यह क्या कर डाला ? अब क्या होगा तुम्हारा और परिवारका देवेन बाबू ! (चटर्जीका नाम) मेरी सलाहके बिना ऐसा करना उचित नहीं था।' वे लगे क्षमा माँगने और कहने लगे—'दादा ! रोज-

रोजके झगड़ेसे मैं ऊब गया था। बिना नौकरी बैठा रहना पड़े वह ठीक है परंतु इस प्रकारके जीवनसे मैं छुटकारा पाना चाहता था। यह ब्रह्मपाश था। आज मैंने तोड़ डाला। यह सब इतनी जल्दी हो गया कि मैं आपसे पूछ भी न सका। दादा ! आपका स्नेहाद्रि स्वभाव मुझे क्षमा करेगा ही, यह मैं जानता हूँ। अब मैं मथुरा जाऊँगा। वहाँ मेरे एक दूरके सम्बन्धी हैं। उनके यहाँ रहूँगा और दूसरी नौकरी ढूँढनेकी चेष्टा करूँगा। मुझे वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णभगवान्में अपार श्रद्धा है। वे मुझे भूखों मरने नहीं देंगे।'

मैंने कहा—'तुम्हें मेरा एक कहना मानना होगा।' वे बोले—'दादा ! आपकी सौ बातें माननेको तैयार हूँ। आपकी स्नेहमयी छत्रछायाके कारण ही मैं यहाँ प्रतिकूल स्थितिमें इतने दिनोंतक रह सका, अन्यथा कबका चला गया होता। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। कहिये।'

'तो आपको रोज मथुरा-निवासके समय श्रीद्वारकाधीशके मन्दिरमें जाना पड़ेगा। भगवान्की मूर्तिका भाव-निरीक्षण करना और जैसा हो वैसा मुझे लिखना आपका कर्तव्य रहेगा। उनकी भाव-भंगिमा ही भविष्यकी सूचना देगी। जाओ, परमात्मा सबका मालिक है। घबरानेकी कोई बात नहीं।'

'मैं तो स्वयं ही प्रतिदिन द्वारकाधीशका दर्शन करनेवाला था। यह आपका आदेश मैं अवश्य पालन करूँगा।' यह कहकर सपरिवार चटर्जी मथुरा चले गये।

वहाँ पहुँचकर वे प्रतिदिन पत्र लिखने लगे। हरेक पत्रमें भगवान्की भाव-भंगिमाओंका वर्णन रहता। 'आज परमात्मा-की मुखाकृति गम्भीर थी' 'आज मूर्ति उदास थी' 'आज मूर्ति खिन्न थी' और 'आज वह अन्यमनस्क थी' इत्यादि। मैं उन्हें उत्साहित करता था कि 'जल्दी ही कोई चमत्कार होगा। घबरानेकी जरूरत नहीं। भगवान्में श्रद्धा अविचल रखिये।' एकाएक पंद्रहवें दिन पत्र आया, 'आज मूर्ति मेरी ओर देखकर मन्द-मन्द मुसकरा रही थी। मैं आत्मविभोर हो गया। कुछ क्षण मैं अवाक् खड़ा रहा।' मैंने प्रत्युत्तर दिया—'भगवान्ने भक्ति स्वीकार की है। एक हफ्तेमें तुम्हें नौकरी जरूर मिलेगी। द्वारकाधीश अब प्रसन्न हैं।' ठीक छठे दिन उनको उत्तरप्रदेशके रसायन-अन्वेषककी जगह मिल गयी, जो उस समय चार सौ रुपयेसे प्रारम्भ होती थी। चटर्जी विस्मय-मुग्ध हो गये। उन्हें

सब स्वप्नवत् लगा। डेढ़ सौ रुपयेके पदपर रहकर जो साहबद्वारा बारंबार अपमानित होता था उसे एकदम चार सौकी नौकरी मिली। यह चमत्कार नहीं तो और क्या था। करुणा-वरुणालय परमात्मा तो सदा भक्तवत्सल हैं, केवल दृढ़ विश्वास चाहिये। चटर्जीने मुझे लिखा—‘दादा ! यह सब आपका ही प्रताप है। भगवान् आपकी वजहसे मेरेपर प्रसन्न हैं। मैं तुच्छ प्राणी वृन्दावनविहारीके अनुग्रहका पात्र होने लायक नहीं हूँ। मेरी परमात्माके प्रति आस्था दृढ़तर हो गयी है। इस आशातीत सफलताके लिये मैं आपका सदैव अनुगृहीत रहूँगा।’

रायबहादुर कहने लगे कि इस घटनाके बाद चटर्जीकी मेरे प्रति ममता बढ़ गयी। मैं जवाब दूँ या न दूँ पर महीनेमें उनकी दो चिट्ठियाँ जरूर आतीं। किया तो परमात्माने परंतु चटर्जी श्रेय मुझे भी देते हैं। भगवान्ने निमित्त बनानेके लिये शायद मुझे प्रेरणा दी थी।

मैंने उत्तर दिया—‘करते तो भगवान् ही सब कुछ हैं, परंतु वे तो निष्काम ठहरे, इसलिये किसीको निमित्त बनाते ही हैं। लोग निमित्तको ही कारण समझ बैठते हैं। रहीमने कहा भी है—

देनहार भगवान् हैं, देते हैं दिन रैन।

लोग भ्रम मुझ पर धरें, यातें नीचे नैन ॥

भगवान्की लीला अपरम्पार है।

रायबहादुर स्निग्ध कण्ठसे बोले—‘श्रद्धाकी महिमा अपार है। आशाको श्रद्धा अमरत्व प्रदान कर भक्तिके आवरणसे ओतप्रोत करती है। यह आशा ही कलियुगमें भक्तिका वेष पहनकर श्रद्धारूपी पुष्पाञ्जलिसे परमात्माको प्रसन्न करनेकी कोशिशमें रहती है। शास्त्र भी कहते हैं—

‘या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।’

देवी सर्वभूतोंमें श्रद्धारूपसे रहती है।

—श्रीअमृतांशुजी देसाई

(२)

नाम-स्मरणका अद्भुत चमत्कार

घटना १८ मार्च १९६१ की है। उस समय मैं बिहार-प्रदेशके भागलपुर जिलान्तर्गत सैदपुर ग्राममें रहता था। मुझे अपने एक सम्बन्धीको डॉक्टरको दिखाने गङ्गापार कहलगाँव

जाना था। प्रातः ६ बजे ही डेरेसे जल्दीमें निकला। एक नावपर सवार हो १० बजेके लगभग इस पार आया। स्नान करनेकी इच्छा हुई। बदनमें गङ्गाजीकी मिट्टी लगाकर स्नान करनेकी आदत थी। अतः लोगोंसे कुछ दूर हटकर एक जगह तौलिया पहनकर बदनमें मिट्टी लगाने लगा। फिर स्नान करनेके लिये आगे बढ़ा। कमरभर पानीमें एक डुबकी लगायी, पर संतोष न हुआ। सोचा, थोड़ा और गहरे जलमें चलूँ। किंतु ज्यों ही दो कदम आगे बढ़ा कि अचानक बाँसभर गहरे जलमें चला गया।

बात ऐसी थी कि जहाजको पार करनेके लिये उस समय गङ्गाजीमें बंडाल (बाँसका घेरा) बाँधा गया था, जिससे धारा किनारेकी ओर मुड़ गयी थी और तेजीसे किनारेको काट रही थी। मैं तैरना जानता नहीं था, अतः उस तेज धारामें बह चला। पानी शरीरको चक्केकी तरह घुमा रहा था। थोड़ी देरमें सिर ऊपर आया तो देखता हूँ कि किनारेपर बहुत-से लोग खड़े हैं और हाथ उठा-उठाकर चिल्ला रहे हैं। सिर जलके ऊपर निकलते ही अभ्यासवश मेरे मुँहसे ‘रा-म’ शब्द निकला और वह तत्काल फिर पानीमें डूब गया। पानी पहलेकी ही तरह बदनको तेजीसे घुमाता जा रहा था। शरीर टूट रहा था। मन-ही-मन समझ रहा था कि मैं डूब गया, किंतु भीतरसे न जाने किस प्रभावसे शान्त था। मनमें किसी प्रकारकी आकुलता भी न थी। थोड़ी ही देरमें फिर सिर ऊपर आया। पुनः उसी तरह मुँहसे निकला ‘राम’ और फिर डूब गया। अबतक शरीर बहुत टूट चुका था। बड़ी थकानका अनुभव हो रहा था और ‘अब न बचूँगा’—ऐसा भान होने लगा था। फिर भी मनमें निश्चिन्तता-सी थी। तीसरी बार पुनः सिर ऊपर आया और ‘राम’ शब्दका उच्चारण हुआ। फिर डूबा, तो कोई पता ही न था। जब होश हुआ तो अपने-आपको कहलगाँव अस्पतालमें पाया। दिनभर मुँहसे आवाज न निकली। दूसरे दिन स्वस्थ हुआ। पीछे पूरी घटनाका पता चला कि बड़ी छान-बीनके बाद एक माँझी (नाविक) ने मेरा शरीर अचेतावस्थामें पाया था और लोगोंने अस्पताल पहुँचाया। विशेष बात यह थी कि पेटमें एक चुल्लू भी पानी नहीं गया था। दो-चार मिनटकी भी और देर हो जाती तो सम्भवतः ये प्राण शरीर छोड़ चुके होते। यह सब भगवन्नाम-जपके अभ्यासकी महिमा थी,

जिससे प्राणसंकटके समयमें भी नाम-स्मरण हो सका और उसके फलस्वरूप प्राण-रक्षा भी हो गयी।

—डॉ० भुवनेश्वर पोद्दार

(३)

जाको राखै साइयाँ मार सकै नहि कोय

एक हृदयविदारक चीख माँके कण्ठसे निकली और सुननेवालोंको विस्मय तथा भयसे अभिभूत करती चली गयी—

‘भगवान्‌के लिये बचाओ ! मेरा बच्चा खिड़कीसे बाहर गिर गया है।’

भगवान्‌के बिना उसे कोई बचा भी नहीं सकता था; क्योंकि तीन वर्षका बच्चा इमारतकी ग्यारहवीं मंजिलसे गिरा और धरतीपर आ रहा। बच्चे डेविडकी माँ क्रिस्टीना घरके काम-काजमें व्यस्त थी। उसे विश्वास था कि डेविड खुशी-खुशी खेल रहा है और खिड़कीकी सिटकिनी भी लगी हुई है। इस प्रकार न तो डेविड बाहर झाँकेगा और न उसे कोई खतरा है।

डेविडकी माँ क्रिस्टीनाके कथनानुसार—‘दूसरे कमरेमें काम करती हुई मैं डेविडकी ओर आ निकली। मैंने देखा कि डेविड पासकी कुरसीकी पुश्तपर घुटनोंसे टेक लगाकर सिटकिनी खोल चुका है। मेरे कहते-कहते उसने पट खोला और बाहर कार्निसपर जा खड़ा हुआ। मैं भयसे चीखी कि ‘डेविड ! रुक जाओ, नीचे गिर जाओगे।’ डेविडने मेरी ओर देखा, मुसकुराया और इसके साथ ही वह सिरके बल नीचे जा गिरा। मैं भय एवं विस्मयसे भागी। मुझे डेविडके पैर नजर आये और उसके बाद मेरी आँखोंके आगे अँधेरा छा गया।

मेरे मस्तिष्कमें बिजलीकी तरह एक विचार कौंधा कि अब उसकी हड्डियाँ भी किरची-किरची हो जायँगी। मेरी भयानक चीखोंपर अन्य बच्चे भी खिड़कीकी ओर लपके। उनमेंसे कोई भी झाँक कर बाहर देखता तो भयके कारण नीचे जा पड़ता। मैंने जल्दी-जल्दी उन्हें अलग धकेला और बैठकर फफक-फफककर रोने लगी कि मैं अपने बच्चेकी लाश देखना किस प्रकार बर्दाश्त करूँगी। पैर थरथराने लगे। नीचे उतरनेका भी साहस नहीं था। डेविडके बचनेकी सारी सम्भावनाएँ मानस-पटलसे क्षीण हो गयीं। निराश्रित हो जानेके कारण एक क्षणके लिये प्रभुकी स्मृति आयी। मैंने मन-ही-मन कहा—‘नाथ ! जो चाहो करो।’

कुछ क्षण बीते होंगे कि दरवाजेकी घंटी बजी। मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। मैंने बेमनसे दरवाजा खोला। देखा, डेविडको गोदमें लिये पड़ोसी खड़े थे। उसके सिरपर गहरा जख्म था, जिससे खून बह रहा था। पड़ोसियोंने उसपर तौलिया बाँध रखा था। मैंने आगे बढ़कर उसे अपनी गोदमें लिया। उसके चेहरेपर वही शरारती मुसकुराहट थी, जिसे मैंने गिरनेसे पहले देखा था।

भावावेशसे मुझे यों लगा, जैसे मेरी जान ही निकल गयी हो। मुझपर कँपकँपी छा गयी। मैंने जोरसे उसे भीँचा और प्यार किया। मैं इस चमत्कारपर ईश्वरका कोटिशः धन्यवाद करने लगी, जिसने मेरे बच्चेको पुनः जीवन प्रदान किया था।

हुआ यह कि डेविड जब ग्यारहवीं मंजिलसे गिरा तो आठवीं मंजिलकी बालकनीमें जा अटका। उसे मामूली खराशें आयी थीं और उसका जिंदा बच जाना उसके भाग्यका वरदान है और प्रभुकी असीम कृपाका फल है। —सुरजीत

मनुष्यके धर्म

श्रीनारदजी कहते हैं—

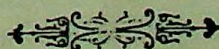
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।

सेवेज्यावनतिदास्यं

सख्यमात्मसमर्पणम् ॥

(श्रीमद्भा० ७।११।११)

‘संतोंके परम आश्रय भगवान्‌ श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण (यही मनुष्योंका धर्म है)।’



मनन करने योग्य

कैन्यूटने राजमुकुट उतारकर मन्दिरमें रख दिया

महाराज ! आपके बलका क्या कहना, आप पृथिवीके ही नहीं, समुद्रके भी राजा हैं। आदमी तो क्या, आपकी कीर्ति आकाश और महासागरतकमें फैली है। सभी उसे स्वीकार करते हैं। आप तो धरतीपर ईश्वर हैं। पृथिवीके ही नहीं, समुद्रतकके राजा हैं। कैन्यूट अपनी यह झूठी प्रशंसा सुनकर क्रोधमें आ गया।

उसे जहाँ शत्रुओंसे डर था वहीं अपने आसपास राजदरबारमें मौजूद खुशामदियोंसे भी खतरा था। वे कहीं अनुचित लाभ न उठा लें, उसे यह भय बना रहता था।

कैन्यूट इंगलैंडका एक बड़ा भला समझदार और प्रतापी राजा हो गया है। वह बड़ा बुद्धिमान्, विवेकी, दूरदर्शी और मनुष्योंके चरित्रकी परख करनेवाला राजा था। वह ईश्वरसे डरता था। बाहरसे विनम्र, दयालु और शान्तचित्त था। सभीकी बातें ध्यानपूर्वक सुनता था। परंतु निर्णय स्वयं अपनी अन्तरात्माके अनुसार ही करता था।

एक दिन उसने विचार किया कि मूर्ख खुशामदियोंकी खुशामद करनेकी गंदी आदत छुड़ानी चाहिये। वह गुणग्राहिता और झूठी चापलूसीमें अन्तर जानता था। गुण-ग्राहिता सच्ची और हितकारी होती है जब कि चापलूसी झूठी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा होती है। किसीके सद्गुणोंकी प्रशंसा होनी चाहिये। वह निःस्वार्थ होती है लेकिन चापलूसी स्वार्थमय किसीको धोखेमें रखनेके लिये। गुणग्राहिताकी सर्वत्र प्रशंसा होती है, पर चापलूसीकी निन्दा।

जो शत्रु तुमपर आक्रमण करते हैं, उनसे मत डरो। उन स्वार्थी मित्रोंसे डरो जो तुम्हारी चापलूसी करते हैं।

संध्याके समय राजा और दरबारी समुद्रके किनारे सैर करने गये। दरबारियोंने फिर वही झूठी प्रशंसाका वाक्य दुहराया।

महाराज ! आप धरतीके ही नहीं, समुद्रके भी राजा हैं। आपके बलका क्या कहना ? कैन्यूटने मुँहसे कुछ न कहकर एक कुर्सी लानेकी आज्ञा दी और फिर कुर्सी समुद्रके किनारे रखकर, उसपर-बैठ गया। धीरे-धीरे समुद्रकी लहरें कुर्सीके

समीप आ गयीं। उसके पैर समुद्रके जलमें डूबने लगे।

‘अरे समुद्र ! तू क्या मेरी आज्ञा नहीं मानेगा। जा पीछे हट जा।’ पर समुद्रका पानी फिर भी बढ़ता ही गया। थोड़ी देरमें कुर्सीका कुछ भाग समुद्रके पानीमें भीग गया।

इसपर राजाने खुशामदियोंको देखकर कहा—‘अरे मूर्ख खुशामदियो ! तुम समझते हो कि मैं तुम्हारी चापलूसीके धोखेमें आ जाता हूँ। कभी नहीं ! पृथिवी, जल, अग्नि, पर्वत इत्यादि सारी सृष्टि ईश्वरने बनायी है। मैं तो अति साधारण कमजोर आदमी हूँ। ईश्वर ही इस संसारका राजा है। मैं तो इतना कमजोर हूँ कि समुद्रकी एक लहरको भी नहीं रोक सकता। धिक्कार है ऐसी जिंदगीपर जो झूठी प्रशंसापर टिकी है। धिक्कार है इस जिंदगीपर जो मक्खियोंकी तरह पापों, झूठ-फरेब, निन्दा, ईर्ष्यामें लगी रहती है। वैकुण्ठमें बैठा हुआ ईश्वर दयासागर और भक्तवत्सल है, आकाशके अन्तिम छोरपर विराजमान भगवान् न्यायकारी राजा है। वह राजाओंका भी राजा है।

मानव-जीवन और समाजके उपयुक्त संचालनके लिये किसी-न-किसी रूपमें परमात्मशक्ति काम कर रही है। हम पहले सगुणोपासनाका आभास करें, फिर निर्गुण ब्रह्मकी उपासना सफल हो सकती है। मैं उस आदिकर्ताके सामने नतमस्तक हूँ।

उस दिन कैन्यूटने राजमुकुट उतारकर मन्दिरमें रख दिया और कहा—‘ईश्वर ही बलवान् है, मनुष्य नहीं। यह मुकुट ईश्वरका प्रतीक है। उन्हींको अर्पित है।’

धृतराष्ट्रने सत्य और हितकी बात नहीं मानी, तो पूरे वंशका नाश हो गया। रावण-जैसे प्रतापी राजाने अपने भाई विभीषण और पत्नी मन्दोदरीकी अच्छी सलाह नहीं मानी, वह समूल नष्ट हो गया। अतः खुशामदियोंसे सावधान रह कर सत्यको ही स्वीकार करना चाहिये। बनावट, धोखेबाजी, चालाकीको त्यागकर जिसने ईमानदारीको अपनी नीति बना लिया है वही बुद्धिमान् है।

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्-ए०, पी-एच् डी०)

॥ श्रीहरिः ॥

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

‘कल्याण’

--के ६७वें वर्ष (वि० सं० २०४९-५०, सन् १९९३ ई०) के दूसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके निबन्धों, कविताओं और संकलित सामग्रियोंकी वार्षिक विषय-सूची

(विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है।)

निबन्ध-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अभय-वाणी (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ) -----	६५८, ७१२	१६-कल्याण (शिव) -----	४१०, ४५०, ४९०, ५३०, ५७०, ६१०, ६५०, ६९०, ७३०, ७७०, ८१०
२-अभाव है भावका (श्रीवैजनाथजी पारीक, एम्०कॉम्०) -----	६३१	१७-काशीके कुछ शिवलिङ्ग (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र) -	५९५
३-अमूल्य वचन -----	४७९	१८-कोचड़में खिला कमल (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) -----	७१३
४-‘अयोध्याकी घटना’--समस्या और समाधान (राधेश्याम खेमका) -----	४४७	१९-क्या आप तो ऐसा नहीं करते? (श्रीपन्नालालजी मून्हाड़ा) -----	६७४
५-आइये गोपालनका संकल्प करें (श्रीअर्जुनलालजी बन्सल) -----	८३६	२०-(श्री) गङ्गाजीका दुरुपयोग (पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम्०ए०) -----	७५५
६-आगमिक शैवोपासना और ‘उपाय’-तत्त्व (डॉ० श्रीश्यामाकान्तजी द्विवेदी, एम्०ए०, एम्०एड०, व्याकरणाचार्य, पी-एच्०डी०, डी० लिट०) -----	४१५	२१-गालवमुनिकी शिवभक्ति -----	४४०
७-आगामी ६८वें वर्ष (सन् १९९४ ई०) का विशेषाङ्क ‘श्रीरामभक्ति-अङ्क’ -----	५६७	२२-गीताका एक श्लोक (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) -----	४९४
८-आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता (अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) -----	७३१	२३-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) -----	४७७, ५१७, ५५७, ५९२, ६३५, ६७६, ७१७, ७५७, ७९६, ८३५
९-आध्यात्मिक यात्रा (श्रीईश्वरशरणजी श्रीवास्तव, बी०ए०, एल्-एल्०बी०, ए०सी०एस०) -----	४६९	२४-गृहस्थके पञ्चमहायज्ञ -----	६२१
१०-‘उठ नाम ले’ (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ) -----	५३९	२५-चेतावनी [मनुष्य-शरीरकी दुर्लभता] (श्रीबनवारीलालजी गोयन्का) -----	७९८
११-उपासना (तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलंग स्वामीजीका उपदेश) -----	६५६, ६९५	२६-जिज्ञासुके लिये (श्रीसंतरामजी अग्रवाल) -----	७४५
१२-एक उपाय (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	८१६	२७-ज्ञानोत्तरकालमें भक्तिका स्वरूप (महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी) -----	४९६
१३-एक महात्माका प्रसाद -----	६६१, ८२१	२८-तृष्णा [तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः] (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	५४०
१४-कन्याके शीघ्र विवाहका अनुष्ठान ----- बारहवें अङ्कका तीसरा आवरण-पृष्ठ		२९-दण्ड और कृपा कौन करे? (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०) -----	७९९
१५-कलिकालमें कल्याणका एकमात्र साधन-श्रीगङ्गा-स्नान (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजके सदुपदेश) [गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी] -----	८१४	३०-दानवीर राजा बलिकी जन्मान्तरीय शिवोपासना -----	६३६
		३१-दिव्य प्रेम (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके एक भाषणसे) -----	५७८, ६१८
		३२-दिव्य संदेश [सार्वभौम धर्मके पालनसे सबका कल्याण] (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	४६१

विषय	पृष्ठ-संख्या
३३-दुःख इसी क्षण मिट सकता है (एक साधक) -----	८३३
३४-दुःखका रहस्य -----	६८८
३५-देवमाता देवी अदिति -----	४१८
३६-देशकी प्रोत्रतिका मूलाधार--गाय (श्रीपन्नलालजी मून्धड़ा) -----	५१८
३७-धर्म, राज्य और नीति (राधेश्याम खेमका) -----	८०६
३८-धर्मका वास्तविक स्वरूप (स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी शास्त्री, भागवतभूषण) -----	४५८
३९-नाट्य-परम्पराके आदि प्रवर्तक भगवान् शंकर (प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम', डी० लिट०) -----	४२८
४०-नियमोंके पालनसे कल्याण (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्राचीन प्रवचन) -----	६५१
४१-निरन्तर नाम-जपसे साधनामें विलक्षण प्रगति (श्रीभैरवलालजी परिहार) -----	७८९
४२-नृपदम्पतिकी शिवोपासना -----	६७९
४३-पढ़ो, समझो और करो ----- ४८३, ५२५, ५६३, ६०३, ६४१, ६८१, ७२३, ७६४, ८०२, ८४०	
४४-परम शैव आहुक भील -----	४८०
४५-परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी ओरसे एक प्रार्थना ----- तीसरे अङ्कका चौथा आवरण-पृष्ठ	
४६-परीक्षाका समय -----	६६९
४७-प्रकाशका देश (महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) -----	७७६
४८-प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) -----	५७१
४९-प्रभु-प्राप्तिके साधन -----	६२४
५०-प्रमाद ही मृत्यु है (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पुराना प्रवचन, कैसेट नं० ३१६) -----	६९१, ७३४
५१-प्रश्नोत्तर [एक सत्संगी भाईद्वारा ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजसे पूछे गये प्रश्न और उनके उत्तर] (प्रश्न०--श्रीदशरथकुमारजी लाठ) --	५५६
५२-प्रेमका तत्त्व-रहस्य (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका वृन्दावनमें दिया हुआ प्राचीन प्रवचन) -----	४५१
५३-प्रेमका पन्थ निराला है! (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) -----	६२७
५४-प्रेमाभक्तिका स्वरूप (डॉ० श्रीजगदीश्वरप्रसादजी, पी-एच०डी०, डी० लिट०) -----	७०६
५५-ब्रह्मका विश्वनृत्य (पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र, एम०ए०, साहित्याचार्य) -----	४९१
५६-भक्त और भगवान्की परस्पर लीला (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्राचीन प्रवचन) -----	६११

विषय	पृष्ठ-संख्या
५७-भक्त प्रचेतागण -----	४४१
५८-भक्तिका रहस्य -----	६४५
५९-भगवत्स्मरणसे दुःखनिवृत्ति (महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी)	८१९
६०-भगवन्नामकी अद्भुत महिमा (श्रीबनवारीलालजी गोयन्का) -----	५८४
६१-(श्री) भगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना -----	६८४
६२-(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना -----	७२७
६३-भगवान् और पूर्ण मानव (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	७८१
६४-भगवान्का स्वभाव (श्रीबनवारीलालजी गोयन्का) -----	४७६
६५-भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध (श्रीभैरवलालजी परिहार) -----	४७२
६६-भगवान् हमारे समीप होनेपर भी क्यों नहीं दीखते? (महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी) -----	७११
६७-भज ले रे मन! राम! -----	८२९
६८-भारतीय संस्कृतिमें नारी (डॉ० श्रीजगदीशसिंहजी राठौर) -----	५९०
६९-भाव-राज्यकी महिमा (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	७४१
७०-भील-भीलनीकी शिव-भक्ति -----	७५९
७१-'मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की' (प्रो० श्रीपशुपतिनाथजी उपाध्याय) -----	५५३
७२-मन और एकान्त (महर्षि श्रीरमण) -----	७८४
७३-मनन करने योग्य--	
(१) भगवान् भावके भूखे हैं -----	४८७
(२) शुभदर्शनका शुभ फल -----	५२७
(३) प्रेम प्रेमका और द्वेष द्वेषका जनक है -----	५६४
(४) गुरु-दक्षिणा (अनन्तप्रसाद शर्मा) -----	६०६
(५) मानवता और अष्टावक्र -----	६४३
(६) करौ मिलि आस अकब्वरकी -----	६८३
(७) निष्काम कर्म (श्रीमेलारामजी वैश्य) -----	७२५
(८) धर्मको नहीं छोड़ सकता -----	७६६
(९) (क) बड़ोंका अपमान करना, उनका वध करना और अपने मुँह अपनी बड़ाई करना आत्महत्या करना है -----	८०४
(ख) धनका बाँटवारा (विनायक नानेकर) -----	८०५
(१०) कैन्यूटने राजमुकुट उतारकर मन्दिरमें रख दिया (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच०डी०) -----	८४४
७४-महान् शिव-भक्त शिलादमुनि -----	४३८
७५-महाशिवरात्रि-व्रत (काव्यतीर्थ प्रोफेसर श्रीलौटूसिंहजी गौतम) -----	४२४
७६-मानसमें प्रेम प्रेमके लिये (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय) -----	७१९

विषय	पृष्ठ-संख्या
७७-मानसमें विवाह-प्रसंगकी दो चौपाइयोंका अर्थ -----	६३३
७८-मैं प्रत्येक परिस्थितिमें दूसरेकी कुछ सहायता कर सकता हूँ -----	५५५
७९-यही ब्रह्मज्ञान है -----	६०७
८०-राजपूतानेका गणगौरपूजन (पं० श्रीझाबरमलजी शर्मा)---	४३३
८१-राम-कथाके आध्यात्मिक संदर्भ (आचार्य डॉ० श्रीशुकरजी उपाध्याय) -----	५०२
८२-रामकृष्ण परमहंसका जीवन स्वयंमें एक शिक्षा (श्रीशरदचन्द्रजी श्रोत्रिय) -----	८२६
८३-(श्री) रामचरितमानसमें शिव-चरित (शिवलोकवासी पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी) -----	४१९
८४-(श्री) राधा-नाम और राधा-उपासना सनातन है (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	६५९
८५-रुद्राक्षकी उत्पत्ति, धारण-विधि और माहात्म्य [रुद्राक्ष-जाबालोपनिषद्से] (अनु०-आई०बी० मेहता) -----	४२२
८६-रोगमुक्तिका उपाय--सरल जीवन (श्रीसुरेशजी शर्मा) --	४७८
८७-लोगोंके जीवनमें ज्ञानका उजाला भर दूँ (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम०ए०, पी-एच०डी०) -----	५९३
८८-वाणीका संयम -----	४८८
८९-वासुदेवः सर्वमिति (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) -----	८११
९०-विचार -----	७८०
९१-विदर्भनरेश एवं भक्तिमती सोमन्तिनीकी शिवभक्ति -----	७२१
९२-व्यक्तित्वकी दासता -----	५५१
९३-व्रतोपवास (श्रीविनायक कुंजीलालजी भट) -----	७५०
९४-शक्तिका संचय कीजिये -----	७६८
९५-(श्री) शबरीजीकी भक्ति -----	४६४
९६-शरणागतिकी तीन शाखाएँ (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पुराना प्रवचन, कैसेट नं०-२६७) -----	७७१
९७-शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्--	
(१) हृदय-रोग (डॉ० श्रीशरणप्रसादजी) -----	६३८
(२) हृद्-रोगके चिकित्सा-क्रमकी सामान्य योजना (डॉ० श्रीशरणप्रसादजी) -----	६७७
९८-शिवका शाश्वत स्वरूप एवं उनकी उपासनाके प्रकार (महामहोपाध्याय डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी 'वागीश, शास्त्री') -----	६७०
९९-शिव-कृपा (श्रीलक्ष्मीनारायणजी) -----	४४५
१००-शिवपुराणकी कुछ उपयोगी बातें -----	४२९
१०१-शिवभक्त महाकाल -----	५५८
१०२-शिवभक्त वैश्वानर -----	५२१
१०३-शिवमय जगत् [रुद्रहृदयोपनिषद्से] -----	४११
१०४-शिव-शक्तिका घर विन्दुनाद है (स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज) -----	४३१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१०५-शिव-सेवाका प्रत्यक्ष फल (पं० श्रीविद्याभास्करजी शुक्ल) -----	४४३
१०६-शिवोपासना (श्रीविजयशंकरजी दीक्षित) -----	४१३
१०७-शिवोपासना और सांसारिक कार्य (श्रीराजेन्द्रबिहारीलालजी) -----	४३५
१०८-शिवोपासनासे राजर्षि विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बन गये -----	४२१
१०९-शिवोपासनासे लाभ [कुछ घटनाएँ] (श्रीयुत चिरञ्जीलालजी शर्मा) -----	४४२
११०-(श्री) श्यामा-श्यामका ध्यान एवं मानस-पूजा (श्रीबनवारीलालजी गोयन्का) -----	७५१
१११-श्रद्धावाँलभते ज्ञानम् (सुश्री कृष्णाकुमारी) -----	५०६
११२-संकटके समय भगवान्की शरण जाइये (श्री सी०डी० लारसन) -----	७५२
११३-संतकी क्षमा -----	४९५
११४-सत्संग (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	४९९
११५-सफलताका रहस्य (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम०ए०, पी-एच०डी०) -----	६६८
११६-सबमें निष्काम प्रेम और शोक-निवृत्तिके उपाय (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा गीताभवन, स्वर्गाश्रममें दिये गये प्रवचनका अंश) -----	५३१
११७-सभी परेशान हैं इस भूतनाथसे [शिवचरित्र-सम्बन्धी सरस व्यंग्य] (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी आदिबदरी) --	५०९
११८-समर्पण (महोपाध्याय श्रीचन्द्रप्रभासागरजी) -----	७८७
११९-समुद्र-मन्थन या तरण? (श्रीराजेन्द्र बिहारीलालजी) -----	५१४
१२०-साधकोंके प्रति--(श्रद्धेय स्वामी श्रीराममुखदासजी महाराज) -----	४६७, ५०४, ५४७, ५८५, ६२५, ६६३, ७०९, ७४६, ७८५, ८२४
१२१-साधकोपयोगी अमृत वाणी (डॉ० श्रीरामनरेशसिंहजी) --	७१६
१२२-साधनोपयोगी पत्र -----	४८१, ५९९, ७६०, ८३७
१२३-सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो? (एक यात्री) -----	६१६
१२४-सुविचार (स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती) -----	५७३
१२५-सेवा-धर्म (डॉ० श्रीनरेशकुमारजी शास्त्री, एम०ए०, पी-एच०डी०) -----	५४९
१२६-स्वभाव नहीं बदलता (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज) -----	५४३
१२७-स्वाध्याय-साधनकी महिमा (श्रीरामचन्द्रजी) -----	५८१
१२८-हम उसे चाहते नहीं -----	५२८
१२९-हमारा पाप -----	७६२
१३०-हमारी सांस्कृतिक विरासत (श्रीहरदेवकृष्णजी वर्मा) --	५११
१३१-हमारे शरीरमें अन्न कौन ग्रहण करता है? (महात्मा श्रीभगवत्स्वरूपजी) -----	५८७
१३२-हिन्दू-धर्ममें स्त्रीजातिका अधिकार (श्रीयुत रामचन्द्रजी) -----	७३७, ७९२
१३३-हिन्दू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) -----	६९८

पद्य-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अर्चनाके फूल (श्रीरामसेवकजी मालवीय)-----	६५५	४-गङ्गा! तेरी जय हो! (डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी) -----	८१५
२-कीजिये सनाथ नाथ! मुझ-से अनाथको (पद्मनाथसिंहजी चौहान) -----	५९४	५-छटे निशा-औंधियारी (पं० श्रीविष्णुजी शास्त्री 'सरल', एम०ए० (संस्कृत-हिन्दी), एल्०टी०) -----	८०९
३-खोल दो प्रभु पट हृदयके (श्रीसतीशचन्द्रजी श्रीवास्तव, बी०कॉम्०) -----	७०८	६-मन गोकुल है जाय (डॉ० प्रतीकजी मिश्र) -----	६७३
		७-मेरी पुकार सुन लो (श्रीविद्याधरजी गोयल) -----	६०२



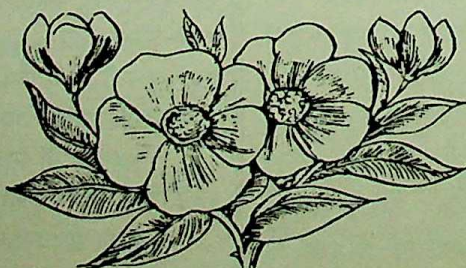
संकलित पद्य-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-कल्याणका मार्ग (विनय-पत्रिका) -----	५६६	५-(श्री) रघुनाथजी सच्चे हितैषी हैं (विनय-पत्रिका) -----	६०८
२-गौरी-वन्दना -----	८०९	६-रासलीला (पद-रत्नाकर) -----	५६९
३-नृत्यत हैं दोउ स्यामा-स्याम (सूरदास) -----	६०९	७-वन्दना -----	७२९
४-भगवान् रामकी बाललीला -----	७८६	८-हर हर हर महादेव -----	६४९



संकलित सामग्री

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अक्रूरजीको राम-कृष्णके दर्शन -----	५२९	१३-मनुष्यके धर्म (श्रीमद्भागवत) -----	८४३
२-उद्धवजीकी अनोखी अभिलाषा -----	६९७	१४-मातासे याचना -----	५६२
३-तुलसी-महिमा -----	४७६	१५-मुचुकुन्दका मनोरथ (श्रीमद्भागवत) -----	७२२
४-भक्तिसे रहित ज्ञान और कर्म अशोभन हैं (श्रीमद्भागवत) -----	७४९	१६-यमराजका अपने दूतोंके प्रति आदेश -----	८१३
५-भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है -----	७४०	१७-रन्तिदेवकी प्रार्थना -----	६४०
६-भगवत्प्रेमीका क्षणभरका संग भी मोक्षसे बढ़कर है -----	६६७	१८-शिवताण्डव -----	४०९
७-भगवान् श्रीकृष्णके लोकोत्तर दिव्य चरित्र -----	७६९	१९-शिवषडक्षरस्तोत्रम् -----	४८९, ५१३
८-भगवान् भक्तके पराधीन हैं (श्रीमद्भागवत) -----	७१८	२०-षोडश-नाम-महामन्त्रकी महिमा (कलिसन्तरणोपनिषद्) -----	६८९
९-भगवान्का भक्त विषयोंसे पराजित नहीं होता -----	७६३	२१-सज्जन-दुर्जन -----	५०८
१०-भगवान्की चरण-धूलिका महत्त्व -----	६६२	२२-सब कुछ भगवान्के समर्पण करो (श्रीमद्भागवत) -----	७२०
११-भगवान् श्रीशंकरकी वन्दना -----	४१२	२३-सब कुछ वासुदेव श्रीकृष्णमें ही -----	७८८
१२-भगवान् हरिहर आप सबका सदा कल्याण करें -----	४४९	२४-'हरये नमः' कहते ही पापोंसे मुक्ति -----	७०५
		२५-(श्री) हरिको संतुष्ट करनेवाले व्रत -----	६८०



कन्याके शीघ्र विवाहका अनुष्ठान

इधर कई लोगोंके पत्रोंसे यह प्रतीत होता है कि कई सम्भ्रान्त परिवारके लोगोंको अपनी कन्याके विवाहके लिये विशेष प्रयत्नशील होनेपर भी दहेज आदिकी समस्याओंके कारण सफलता नहीं मिलती; कन्याएँ भी माता-पिताकी इस चिन्तासे दुःखी होने लगती हैं और वे उपाय पूछती हैं।

इस प्रकारकी स्थितिवाली कन्याओंकी संख्या समाजमें बहुत अधिक है। यह बड़े ही दुःखकी बात है कि दहेजके अभावसे और आजकलके आधुनिक मनोवृत्तिके लड़कोंके कारण लड़कियोंके विवाह नहीं हो पा रहे हैं और घर-घर ऐसी कठिन समस्याएँ आ रही हैं। ऐसे लड़कोंको तथा उनके अभिभावकोंको तैयार होना चाहिये, जो बिना दहेजके विवाह करनेको प्रस्तुत हों।

इस अङ्कके मुख-पृष्ठपर एक चित्र दिया गया है, जिसमें जगज्जननी भगवती सीताके द्वारा पराम्बा भगवती महागौरी पार्वतीका पूजन-अर्चन किया जा रहा है। अतः मनोऽभिलषित घर-वर शीघ्र प्राप्त करनेके लिये कुमारी कन्याओंको प्रतिदिन माता पार्वतीके चित्रका चन्दन-पुष्प आदिसे पूजन कर नीचे लिखे मन्त्रकी ग्यारह मालाका जप करना चाहिये। ग्यारह माला न हो सके तो पाँच माला (१०८ दानोंकी एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये। समयाभावमें भी एक माला तो करनी ही चाहिये तथा कातर-हृदयसे पार्वतीमातासे प्रार्थना करते हुए नीचे लिखी चौपाइयोंकी एक आवृत्ति पाठ करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करनेपर इस प्रयोगसे शीघ्र सफलता मिलती है—

मन्त्र यह है— हे गौरि शंकरार्धाङ्गि यथा त्वं शंकरप्रिया ।

तथा मां कुरु कल्याणि कान्तकान्तां सुदुर्लभाम् ॥

प्रतिदिन इसका एक बार पाठ करे—

जय जय गिरिबिराज किंसोरी । जय महेस मुख चंद चकोरी ॥

जय गजबदन षडानन माता । जगत जननि दामिनि दुति गाता ॥

नहिं तव आदि मध्य अवसाना । अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना ॥

भव भव बिभव पराभव कारिनि । बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि ॥

पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख ।

महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष ॥

सेवत तोहि सुलभ फल चारी । बरदायनी पुरारि पिआरी ॥

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे । सुर नर मुनि सब होहि सुखारे ॥

मोर मनोरथु जानहु नीकें । बसहु सदा उर पुर सबही कें ॥

कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेहीं । अस कहि चरन गहे बैदेहीं ॥

बिनय प्रेम बस भई भवानी । खसी माल मूरति मुसुकानी ॥

सादर सियँ प्रसादु सिर धरेऊ । बोली गौरि हरषु हियँ भरेऊ ॥

सुनु सिय सत्य असीस हमारी । पूजिहि मनकामना तुम्हारी ॥

नारद बचन सदा सुचि साचा । सो बरु मिलिहि जाहि मनु राचा ॥

मनु जाहि राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो ।

करुना निधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो ॥

एहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हियँ हरषीं अली ।

तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चली ॥

जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ कहि ।

मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे ॥

(रा० च० मा० १।२३५।५ से २३६ तक)



जनवरी १९९४ का विशेषाङ्क—'श्रीरामभक्ति-अङ्क'

[ग्राहक महानुभावोंसे एक विनम्र निवेदन]

इस वर्षका यह अन्तिम-दिसम्बर १९९३ का अङ्क आपके हाथोंमें है। आगामी (जनवरी १९९४ ई० का) विशेषाङ्क—'श्रीरामभक्ति-अङ्क' जनवरी ९४ के आरम्भसे फरवरीके प्रथम सप्ताह तक ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें भेजनेका प्रयास किया जा रहा है। 'कल्याण' के प्रेमी ग्राहकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'शिवोपासनाङ्क' (जनवरी १९९३) की अत्यधिक माँगके कारण इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। फलस्वरूप 'कल्याण' की ग्राहक-संख्या दो लाखसे भी अधिक हो गयी है। 'श्रीरामभक्ति-अङ्क' के ग्राहकोंकी संख्यामें भी इसी तरह आशातीत वृद्धि हो सकती है।

जिन ग्राहक महानुभावोंने आगामी वर्षके लिये शुल्क-राशि अभी तक नहीं भेजी है, वे अविलम्ब रु० ६५.०० (सजिल्द विशेषाङ्कके लिये रु० ७०.००) भेज दें। जिससे उन्हें 'श्रीरामभक्ति-अङ्क' रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजनेमें प्राथमिकता दी जा सके। जिनका वार्षिक शुल्क दिसम्बरके मध्यतक प्राप्त न हो सकेगा, उन्हें गत वर्षकी तरह अजिल्द विशेषाङ्क (रु० ५.०० वी०पी०पी० खर्च जोड़कर) रु० ७०.०० की वी०पी०पी० से भेजा जायगा। वी०पी०पी० भेजनेकी प्रक्रिया प्रारम्भ होनेके बाद जिन ग्राहकोंका मनीआर्डर प्राप्त होगा, उसका समायोजन समयसे न हो सकनेके कारण हमारे न चाहते हुए भी विशेषाङ्क उन्हें वी०पी०पी० द्वारा चला जाता है। ऐसे ग्राहकोंसे मनीआर्डरद्वारा प्राप्त राशि, अन्य निर्देश न मिलनेकी स्थितिमें अगले वर्षके वार्षिक शुल्कके निमित्त जमा करके उन्हें यथासमय सूचित कर दिया जायगा।

वी०पी०पी० द्वारा अङ्क भेजनेकी इस अपरिहार्य परिस्थितिमें आप उसे छुड़ाकर किसी अन्यको 'कल्याण' का नया ग्राहक बनानेकी कृपा करें। ऐसा करनेसे आप 'कल्याण' को (पोस्टेजकी) अतिरिक्त आर्थिक हानिसे बचानेके साथ 'कल्याण' के पावन प्रचार-कार्यमें सहयोगी होंगे।

विशेष सूचना — वर्तमान वर्षका विशेषाङ्क 'शिवोपासनाङ्क' प्रायः समाप्त हो चुका है तथा अब वार्षिक ग्राहक वर्ष १९९४ के ही बनाये जा रहे हैं। 'शिवोपासनाङ्क' को शीघ्र ही अन्य पुराने विशेषाङ्कोंकी भाँति सजिल्द प्रकाशित करनेका विचार है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

नये प्रकाशन

- १- अमूल्य समयका सदुपयोग — ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके २७ वर्ष पूर्वके कैसेटोंसे संगृहीत। इस पुस्तकमें मानव-जीवनको सफल बनाने-हेतु भगवान्की अकारण करुणा, ध्यानके विभिन्न आयाम, नीति, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, आत्मोत्थान आदि विषयोंके विवेचनसहित अनेक कल्याणकारी विषयोंका समावेश है। मूल्य रु० ३.००, डाकव्यय रु० १.००।
- २- गीता-ज्ञान-प्रवेशिका — (लेखक--स्वामी श्रीरामसुखदासजी) इस पुस्तकमें पूज्य स्वामीजीने गीता-पाठकोंको गीता समझनेकी सुविधाके लिये गीता-पाठकी विधि, गीताभ्यासकी विधि, विभिन्न विश्राम-स्थल, विभिन्न प्रश्नोंके स्थल, कण्ठस्थ करनेकी तालिका, प्रधान एवं सूक्ष्म विषयों आदिपर प्रकाश डाला है, जिससे गीताध्ययन आरम्भ करनेवाले जिज्ञासुजन भी अच्छी तरह समझ सकें। मूल्य रु० १०.००, डाकखर्च रु० २.००।
- ३- गीता-सुधा-तरङ्गिणी — (रचयिता—श्रीबजरंगलालजी सोनी) गीताके भावोंका पद्यानुवाद। मूल्य रु० ४.००, डाक-व्यय रु० १.००।

व्यवस्थापक--गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

शीघ्र प्रकाश्य

- १- सत्कथा-अङ्क—('कल्याण'-वर्ष ३०, सन् १९५६ ई०) परमात्माके मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह और वामन आदि दिव्य अवतारोंकी रोचक, ज्ञानप्रद कथाओंके अतिरिक्त इसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, त्याग, सदाचार विषयक अनेक उद्बोधक एवं प्रेरणाप्रद उच्चकोटिकी सुन्दर कथाओंका संकलन है। पृष्ठ-संख्या ७०४, कथा-संख्या ८७३, अनेक बहुरंगे चित्र, मूल्य रु० ६५.००, डाकव्यय रु० ८.०० अतिरिक्त।
- २- गीता-तत्त्व-विवेचनी — (पाकेट साइज) [टीकाकार--श्रीजयदयालजी गोयन्दका] गीतापर प्रश्नोत्तर-शैलीमें विस्तृत हिन्दी टीका, वाइबल पेपरपर मुद्रित, विदेश भेजने तथा यात्रा आदिमें सुविधाजनक। मूल्य रु० १५.००, डाकखर्च रु० १.००।
- ३- गीता-साधक-संजीवनी — (पाकेट साइज) [टीकाकार--पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी] गीताके गूढ़ भावोंका सूक्ष्म विवेचन, वाइबल पेपरपर मुद्रित, विदेश भेजने तथा यात्रा आदिमें सुविधाजनक। मूल्य रु० ४०.००, डाक-व्यय रु० ११.००।
- ४- अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति — ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचन कैसेटोंसे संगृहीत।
- 5- Secret of Bhaktiyoga--(Sri Jaidayal Goyandka) Price Rs. 5.50, Postage 2.00

व्यवस्थापक--गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

—१२

रामभक्ति-
न्याण' के
न संस्करण
ग्राहकोंकी
वेशेषाङ्कके
र्षिक शुल्क
७०.००
गा, उसका
आईरद्वारा
जायगा।
बनानेकी
र-कार्यमें
१९४ के ही

१९००५

मानव-
स्रोतस्थान
गीता
ण्ठस्थ
अच्छी

००५

दिव्य
क एवं
च रु०
न्याण'
वेस्तृत
१.००।
सूक्ष्म
१.००।

१९००५

